प्रस्तावना

आज मैं प्रिय विज्ञ पाठकोंके सामने मुनिधर्मका महान् ग्रंथ श्रीमूलाचार संस्कृतछाया और हिंदीभाषाटीकासहित उपस्थित करता हूं। इसमें मुनिधर्मकी सबक्रियायें बहुत विस्तारसे वर्णन की गई हैं। इसमें बारह अधिकार हैं—

मूलगुणाधिकार, बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवाधिकार, संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकार, समाचाराधिकार, पंचाचाराधिकार, पिंडशुद्धिअधिकार, षडावश्यकाधिकार, द्वादशानुप्रेक्षाधिकार, अनगारभावनाधिकार, समयसाराधिकार, शीलगुणाधिकार, पर्याप्तिअधिकार। इन अधिकारोंका जैसा नाम है उसीके अनुसार कथन किया गया है।

अबतक मुनिधर्मका कोई ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ था इस कारण बहुतसे भव्यजीवोंको मुनिधर्मकी क्रियाओंके स्वरूपका ज्ञान ही नहीं था। अब भाग्योदयसे मुनिअनंतकीर्ति दि० जैन ग्रंथमालाने भव्य जीवोंके उपकारार्थ इस महान् ग्रंथको प्रकाशित किया है। इस महान ग्रंथके मूलकर्ता श्रीवट्टकेरस्वामी हैं। इस ग्रंथकी संस्कृतटीका आचारवृत्तिके कर्ता श्रीवसुनंदिसिद्धांतचक्रवर्ती हैं। दूसरी मूलाचार प्रदीपक संस्कृतटीका श्रीसकलकीर्ति

आचार्यने भी बनाई है और पहली आचारवृत्ति संस्कृतटीकाके अनुसार जैपुरी देशभाषा टीका पं० नंदलालजी जैपुरनिवासीने आधी ५१६ गाथा तक बनाई उसके बाद उक्त पंडितजीका स्वर्गवास होगया। पश्चात् पं० ऋषभदासजीने अवशिष्ट आधी बनाके उसटीकाको पूर्ण किया। उसकेविषयमें "टीका देशभाषामय प्रारंभी सु नंदलाल पूरण करी ऋषभदास यह निरधार है" ऐसा भाषाकारका कवित्तभी है। जैनमतमें मोक्ष मुनिधर्मसे ही है इस लिये मोक्षकेलिये यही ग्रंथ साक्षात् उपयोगी होसकेगा। यह भाषाटीका उक्त भाषाटीकाके अनुसार ही की गई है। अब हम विशेष न लिखकर केवल इतना ही कहते हैं कि इस ग्रंथमाला के संरक्षक श्रीमान् सेठ सुखानंदजीने जो इस ग्रंथका उद्धार कराया है उसके लिये कोटिशः धन्यवाद है और आशा करते हैं कि उक्त सेठ साहब इसके फंडके बढानेमें अपनी उदारताका परिचय देते रहेंगे।

अंतमें प्रार्थना है कि इस ग्रंथके संपादन व संशोधन कारनेमें जो त्रुटियां रहगईं हों उनको स्वाध्यायप्रेमी सज्जनगण शुद्धकर मेरे ऊपर क्षमा करते हुए स्वाध्याय करें। इत्यलं विज्ञेषु।

जैनग्रंथउद्धारककार्यालय
खत्तरगली हौदावाडी
पो० गिरगांव-**बंबई**
कार्तिकवदि १४ सं० १९७६

जिनवाणीका सेवक
पं० मनोहरलाल
पाढम (मैनपुरी) निवासी

पुस्तक मिलनेके पते—

१ **सेठ गुरुमुखराय सुखानंदजी,**

मारवाड़ी बाजार पो० नं० २ बंबई.

२ **पं० रामप्रसादजी जैन**, सेवक—

मुनिअनंतकीर्ति दि० जैनग्रंथमाला सुखानंदवाड़ी

पो० गिरगांव—बंबई।

३ **मैनेजर—जैनग्रंथउद्धारककार्यालय**

खत्तरगली हौदावाड़ी

पो० गिरगांव—बंबई।

मुनिअनंतकीर्ति दि० जैन-ग्रंथमाला

१ यह ग्रंथमाला स्वर्गीय मुनिअनंतकीर्तिजीके स्मरणार्थ खोली-गई है। इसमें प्राचीन आर्षग्रंथोंका उद्धार कराया जायगा। इसके संरक्षक श्रीमान् सेठ गुरुमुखराय सुखानंदजी हैं।

२ मुनिमहाराजके नामसे खुलनेका कारण यह है कि एक समय मुनिमहाराज भ्रमण करते हुए मुम्बईनगरमें पधारे। एक दिन यहांके सुप्रसिद्ध उक्त सेठ सुखानंदजीके यहां मुनि महाराजका आहार नवधा भक्तिके साथ निर्विघ्न हुआ। उसके हर्षमें सेठ साहबने अपनी उदारताका परिचय देनेके लिये ११०१) ग्यारहसौ एक रुपये मुनिजीके नामसे जैनग्रंथ उद्धार करानेके लिये दानमें दिये। मुनिमहाराज फिर भ्रमण करते हुए मुरैना नगरमें पधारे और रोगसे ग्रसित होजानेसे वहां उनका स्वर्गवास होगया। उसके कुछ दिनों वाद उन ग्यारहसौ एक रुपयेसे मुनिधर्मका महान् ग्रंथ मूलाचार हिंदी भाषा टीका सहित मुनिमहाराजके नामसे प्रकाशित किया गया है।

३ इसमें जितने ग्रंथ प्रकाशित होंगे उनका मूल्य लागतमात्र रक्खा जायगा। लागतमें ग्रंथ संपादन कराई, संशोधन कराई छपाई, जिल्द बंधवाई आफिसखर्च और कमीशन भी शामिल समझा जायगा।

निवेदक—

मिति कार्तिक सुदि १४ सं० १९७६

पं० मनोहरलाल शास्त्री
खत्तरगली हौदावाड़ी
पो० गिरगांव बंबई

अथ मूलाचारस्य विषयसूची ।

॥ अथ मूलाचारकी अकारादिक्रमसे गाथासूची ॥

नमः परमात्मने ।

श्रीवट्टकेरस्वामीकृत

मूलाचार ।

(उत्थानिकाछायाहिंदीभाषाटीका सहित)

मूलगुणाधिकार ॥ १ ॥
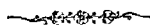
दोहा—वंदौं श्रीजिनसिद्धपद, आचारजउवझाय ।
साधुधर्मजिनभारती, जिनग्रहचैत्यसहाय ॥
वट्टकेरस्वामी प्रणमि, नमि वसुनंदीसूरि ।
मूलाचार विचारिकें, भाषौं लखि गुणभूरि ॥

आगे मूलग्रंथकार मंगलाचरणपूर्वक मूलगुणोंके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

मूलगुणेसु विसुद्धे वंदित्ता सव्वसंजदे सिरसा ।
इहपरलोगहिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि ॥ १ ॥

मूलगुणेषु विशुद्धान् वंदित्वा सर्वसंयतान् शिरसा ।
इहपरलोकहितार्थान् मूलगुणान् कीर्तयिष्यामि ॥ १ ॥

अर्थ—मूलगुणोंके निमित्तसे निर्मल हुए ऐसे सब संयमि-

योंको अर्थात् प्रमत्तसे लेकर अयोगकेवलीपर्यंत तीन कम नौ करोड़ साधुओंको तथा अनंत सिद्धपरमेष्ठियोंको मस्तक नमाकर वंदना करके इसलोक और परलोकमें हितके करनेवाले जैन-साधुओंके मूलगुणोंको मैं कहता हूं ॥ १ ॥

आगे मूलगुणोंके अट्ठाईस भेदोंके नाम दो गाथाओंमें कहते हैं;—

पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरोदिट्ठा ।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो ॥ २ ॥
अचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघस्सणं चेव ।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥ ३ ॥
पंच महाव्रतानि समितयः पंच जिनवरोपदिष्टाः ।
पंचेवेंद्रियनिरोधाः षडपि च आवश्यकानि लोचः ॥ २ ॥
आचेलक्यं अस्नानं क्षितिशयनं अदंतघर्षणं चैव ।
स्थितिभोजनमेकभक्तं मूलगुणा अष्टाविंशतिस्तु ॥ ३ ॥

अर्थ—पांच महाव्रत, जिनवरकर उपदेशी हुई पांच समितियां, पांच ही इन्द्रियोंके निरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, पृथिवीशयन, अदंतघर्षण, स्थितिभोजन, एकभक्त—ये ही जैन साधुओंके अट्ठाईस मूलगुण हैं ॥ २ । ३ ॥

अब प्रथम ही पांच महाव्रतोंको कहते हैं;—

हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च ।
संगविमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता ॥ ४ ॥
हिंसाविरतिः सत्यं अदत्तपरिवर्जनं च ब्रह्म च ।
संगविमुक्तिश्च तथा महाव्रतानि पंच प्रज्ञप्तानि ॥ ४ ॥

अर्थ—हिंसाका त्याग, सत्य, चोरीका त्याग, ब्रह्मचर्य और परिग्रहका त्याग-ये पांच महाव्रत कहे गये हैं।। ४ ।।

अब हिंसाविरति (अहिंसा)का लक्षण कहते हैं;—

कायेंदियगुणमग्गणकुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं ।
णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविवज्जणमहिंसा ॥ ५ ॥

कायेंद्रियगुणमार्गणाकुलायुर्योनिषु सर्वजीवानाम् ।
ज्ञात्वा च स्थानादिषु हिंसादिविवर्जनमहिंसा ॥ ५ ॥

अर्थ—काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणास्थान, कुल, आयु, योनि-इनमें सब जीवोंको जानकर कायोत्सर्गादि क्रियाओंमें हिंसा आदिका त्याग उसे अहिंसामहाव्रत कहते हैं ॥ ५ ॥

आगे दूसरे सत्यव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणोत्तिं ।
सुत्तत्थाणवि कहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं ॥ ६ ॥

रागादिभिः असत्यं त्यक्त्वा परतापसत्यवचनोक्तिम् ।
सूत्रार्थानामपि कथने अयथावचनोज्झनं सत्यम् ॥ ६ ॥

अर्थ—रागद्वेषमोहआदि कारणोंसे असत्यवचनको तथा दूसरेको संताप (दुःख) करनेवाले ऐसे सत्यवचनको छोड़ना और द्वादशांग शास्त्रके अर्थ कहनेमें अपेक्षारहित वचनको छोड़ना वह सत्य महाव्रत है ॥ ६ ॥

आगे तीसरे अचौर्यव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परेण संगहिदं ।
णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तु ॥ ७ ॥

ग्रामादिषु पतितादि अल्पप्रभृति परेण संगृहीतं ।
न आदानं परद्रव्यं अदत्तपरिवर्जनं तत् तु ॥ ७ ॥

अर्थ—ग्राम आदिकमें पड़ा हुआ, भूला हुआ, रक्खा हुआ इत्यादिरूप अल्प भी स्थूल सूक्ष्म वस्तु तथा दूसरेकर इकट्ठा किया हुआ ऐसे परद्रव्यको ग्रहण नहीं करना (नहीं लेना) वह अदत्तत्याग अर्थात् अचौर्यमहाव्रत है ॥ ७ ॥

आगे चौथे ब्रह्मचर्यव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

मादुसुदाभगिणीविय दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं ।
इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं ॥ ८ ॥

मातृसुताभगिनीरिव दृष्ट्वा स्त्रीत्रिकं च प्रतिरूपम् ।
स्त्रीकथादिनिवृत्तिः त्रिलोकपूज्यं भवेत् ब्रह्म ॥ ८ ॥

अर्थ—वृद्धा बाला यौवनवाली स्त्रियोंको अथवा उनकी तस्वीरोंको देखकर उनको माता पुत्री वहिन समान समझ स्त्रीसंबंधी कथा, कोमल वचन, स्पर्श, रूपका देखना, इत्यादिकमें जो अनुरागका छोड़ना है वह देवअसुरमनुष्य तीनलोकोंकर पूज्य ब्रह्मचर्यमहाव्रत है ॥ ८ ॥

अब परिग्रहत्याग महाव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

जीवणिबद्धा बद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव ।
तेसिं सक्कच्चाओ इयरम्हि य णिम्मओऽसंगो ॥ ९ ॥

जीवनिबद्धा बद्धाः परिग्रहा जीवसंभवाश्चैव ।
तेषां शक्यत्यागः इतरस्मिन् च निर्ममोऽसंगः ॥ ९ ॥

अर्थ—जीवके आश्रित अंतरंगपरिग्रह तथा चेतन परिग्रह

और जीवरहित अचेतन परिग्रह अथवा जीवसे जिनकी उत्पत्ति है ऐसे मोती संख दांत कंबल इत्यादिका शक्ति प्रगटकरके त्याग, अथवा इनसे इतर जो संयम ज्ञान शौचके उपकरण—इनमें ममत्वका न होना वह असंग अर्थात् परिग्रहत्याग महाव्रत है ॥ ९ ॥

आगे पांच समितियोंके नाम कहते हैं;—

इरिया भासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ।
पडिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा ॥ १० ॥

ईर्या भाषा एषणा निक्षेपादानमेव समितयः।
प्रतिष्ठापनिका च तथा उच्चारादीनां पंचविधाः ॥ १० ॥

अर्थ—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति, मूत्रविष्ठादिकका शुद्धभूमिमें क्षेपण अर्थात् प्रतिष्ठापनासमिति—ऐसे पांच समितियां जानना ॥ १० ॥

अब ईर्यासमितिका स्वरूप कहते हैं;—

फासुयमग्गेण दिवा जुवंतरप्पेहणा सकज्जेण।
जंतूण परिहरंति इरियासमिदी हवे गमणं ॥ ११ ॥

प्रासुकमार्गेण दिवा युगांतरप्रेक्षणा सकार्येण।
जंतून् परिहरंति ईर्यासमितिः भवेत् गमनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—निर्जीव मार्गसे दिनमें चार हाथ प्रमाण देखकर अपने कार्यके लिये प्राणियोंको पीड़ा नहीं देतेहुए संयमीका जो गमन है वह ईर्यासमिति है ॥ ११ ॥

आगे भाषासमितिका स्वरूप कहते हैं;—

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पप्पसंसविकहादी।
वज्जित्ता सपरहिदं भासासमिदी हवे कहणं ॥ १२ ॥

पैशून्यहास्यकर्कशपरनिंदात्मप्रशंसाविकथादीन् ।
वर्जयित्वा स्वपरहितं भाषासमितिः भवेत् कथनम् ॥ १२ ॥

अर्थ—झूठादोषलगानेरूप पैशून्य, व्यर्थ हँसना, कठोर वचन, दूसरेके दोष प्रकट करनेरूप परनिंदा, अपनी प्रशंसा, स्त्रीकथा भोजनकथा राजकथा चोरकथा इत्यादिक वचनोंको छोड़कर अपने और परके हित करनेवाले वचन बोलना उसे भाषासमिति कहते हैं ॥ १२ ॥

आगे एषणासमितिका स्वरूप बतलाते हैं;—

छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी ।
सीदादी समभुत्ती परिसुद्धा एसणा समिदी ॥ १३ ॥

षट्चत्वारिंशद्दोषशुद्धं कारणयुक्तं विशुद्धनवकोटि ।
शीतादि समभुक्तिः परिशुद्धा एषणा समितिः ॥ १३ ॥

अर्थ—उद्गमादि छ्यालीस दोषोंकर रहित, भूखआदि मेंटना व धर्मसाधनआदि कारण युक्त, कृतकारित आदि नौ विकल्पोंसे विशुद्ध (रहित), ठंडा गर्म आदि भोजनमें रागद्वेषरहित—समभावकर भोजनकरना ऐसे आचरन करनेवाले संयमीके निर्मल एषणासमिति होती है ॥ १३ ॥

आगे आदाननिक्षेपणसमितिका स्वरूप कहते हैं;—

णाणुवहिं संजमुवहिं सौचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा ।
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा ॥ १४ ॥

ज्ञानोपधिं संयमोपधिं शौचोपधिं अन्यमप्युपधिं वा ।
प्रयतं ग्रहनिक्षेपौ समितिः आदाननिक्षेपा ॥ १४ ॥

अर्थ—ज्ञानके निमित्त पुस्तक आदि उपकरणरूप ज्ञानोपधि, पापक्रियाकी निवृत्तिरूप संयमके लिये पीछी आदिक संयमोपधि, मूत्रविष्ठा आदि देहमलके प्रक्षालनरूप शौचका उपकरण कमंडलु आदि शौचोपधि और अन्य सांथरे आदिके निमित्त उपकरणरूप अन्योपधि—इनका यत्नपूर्वक(देख शोधकर) उठाना रखना वह आदाननिक्षेपणसमिति कही जाती है ॥ १४ ॥

अब प्रतिष्ठापनासमितिका स्वरूप कहते हैं;—

एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे ।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ॥ १५ ॥

एकांते अचित्ते दूरे गूढे विशाले अविरोधे ।
उच्चारादित्यागः प्रतिष्ठापनिका भवेत् समितिः ॥ १५ ॥

अर्थ—असंयमीजनके गमनरहित एकांतस्थान, हरितकाय त्रसकायरहित स्थान, दूर, छिपा हुआ, विल छेदरहित चौड़ा, और लोक जिसकी निंदा व विरोध न करैं ऐसे स्थानमें मूत्र विष्ठा आदि देहके मलका क्षेपण करना (डालना) वह प्रतिष्ठापनासमिति कही जाती है ॥ १५ ॥

अब इन्द्रियनिरोधव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच ।
सगसगविसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा १६

चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं जिह्वा स्पर्शश्च इन्द्रियाणि पंच ।
स्वकस्वकविषयेभ्यो निरोधयितव्या सदा मुनिना ॥ १६ ॥

अर्थ—चक्षु, कान, नाक, जीभ, स्पर्शन—इन पांच इन्द्रियोंको

अपने २ रूप, शब्द, गंध, रस, ठंडा गर्मआदि स्पर्शरूप विष-योंसे सदाकाल (हमेशा) साधुओंको रोकना चाहिये ॥ १६ ॥

आगे चक्षुर्निरोधव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

सच्चित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्णभेएसु ।
रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणो ॥ १७ ॥

सचित्ताचित्तानां क्रियासंस्थानवर्णभेदेषु ।
रागादिसंगहरणं चक्षुर्निरोधो भवेत् मुनेः ॥ १७ ॥

अर्थ—सजीव अजीव पदार्थोंके गीतनृत्यादि क्रियाभेद, समचतुरस्रादि संस्थानभेद, गोरा काला आदि रूपभेद-इसप्रकार सुंदर असुंदर इन भेदोंमें राग द्वेषादिका तथा आसक्त (लीन) होनेका त्याग वह मुनिके चक्षुर्निरोधव्रत है ॥ १७ ॥

आगे श्रोत्रेन्द्रियनिरोधव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

सज्जादिजीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे ।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु ॥ १८ ॥

षड्जादिजीवशब्दा वीणाद्यजीवसंभवाः शब्दाः ।
रागादीनां निमित्तानि तदकरणं श्रोत्ररोधस्तु ॥ १८ ॥

अर्थ—षड्ज ऋषभ गांधार आदि सात स्वररूप जीवशब्द और वीणाआदिसे उत्पन्न अजीवशब्द–ये दोनों तरहके शब्द रागा-दिके निमित्तकारण हैं इसलिये इनका नहीं सुनना वह श्रोत्रनि-रोध है ॥ १८ ॥

आगे घ्राणेंद्रियनिरोधव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे ।
रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स ॥ १९ ॥

प्रकृतिवासनागंधे जीवाजीवात्मके सुखे असुखे ।
रागद्वेषाकरणं घ्राणनिरोधो मुनिवरस्य ॥ १९ ॥

अर्थ—स्वभावसे गंधरूप तथा अन्यगंधरूपद्रव्यके संस्कारसे सुगंधादिस्वरूप ऐसे सुख दुःखके कारणभूत जीव अजीवस्वरूप पुष्प चंदन आदि द्रव्योंमें रागद्वेष नहीं करना वह श्रेष्ठमुनिके घ्राणनिरोधव्रत होता है ॥ १९ ॥

अब रसनेंद्रियनिरोधव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे ।
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी ॥ २० ॥

अशनादिचतुर्विकल्पे पंचरसे प्रासुके निरवद्ये ।
इष्टानिष्टाहारे दत्ते जिह्वाजयोऽगृद्धिः ॥ २० ॥

अर्थ—भात आदि अशन, दूध आदि पान, लाडू आदि खाद्य, इलाइची आदि स्वाद्य-ऐसे चार प्रकारके तथा तिक्त कटु कषाय खट्टा मीठा पांचरसरूप इष्ट अनिष्ट (अप्रिय) प्रासुक निर्दोष आहारके दाताजनोंसे दिये जानेपर जो आकांक्षारहित परिणाम होना वह जिह्वाजयनामा व्रत है ॥ २० ॥

आगे स्पर्शनइन्द्रियनिरोध व्रतका स्वरूप कहते हैं;—

जीवाजीवसमुत्थे कक्कडमउगादिअट्ठभेदजुदे ।
फासे सुहे य असुहे फासणिरोहो असंमोहो ॥ २१ ॥

जीवाजीवसमुत्थे कर्कशमृदुकाद्यष्टभेदयुते ।
स्पर्शे सुखे वा असुखे स्पर्शनिरोधः असंमोहः ॥ २१ ॥

अर्थ—चेतनस्त्री इत्यादि जीवमें और शय्या आदि अचेतनमें उत्पन्न हुआ कठोर नरम आदि आठ प्रकारका सुखरूप

अथवा दुःखरूप जो स्पर्श उसमें मूर्छित न होता अर्थात् हर्ष विषाद नहीं करना वह स्पर्शनइन्द्रियनिरोध व्रत है ॥ २१ ॥

आगे साधुओंके छह आवश्यक कर्मोंके नाम कहते हैं,—

समदा थओ य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं ।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥ २२ ॥

समता स्तवश्च वंदना प्रतिक्रमणं तथैव ज्ञातव्यं ।
प्रत्याख्यानं विसर्गः करणीया आवश्यकाः षडपि ॥ २२ ॥

अर्थ—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग–ये छह आवश्यक सदा करने चाहिये ॥ २२ ॥

आगे सामायिक आवश्यकका स्वरूप कहते हैं;—

जीविदमरणे लाहालाभे संजोयविप्पओगे य ।
बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामायियं णाम ॥ २३ ॥

जीवितमरणयोः लाभालाभयोः संयोगविप्रयोगे च ।
बंध्वरिसुखदुःखादिषु समता सामायिकं नाम ॥ २३ ॥

अर्थ—देह धारनेरूप जीवन, प्राणवियोगरूप मरण–इन दोनोंमें तथा वांछित वस्तुकी प्राप्तिरूप लाभ, इच्छितवस्तुकी अप्राप्तिरूप अलाभ, इसप्रकार आहार उपकरणादिकी प्राप्ति अप्राप्तिरूप लाभ अलाभमें; इष्ट अनिष्टके संयोग वियोगमें; स्वजन-मित्रादिकबंधु, शत्रु दुष्टादिक अरि–इन दोनोंमें; सुख दुःखमें वा भूख प्यास शीत उष्ण आदि बाधाओंमें जो रागद्वेषरहित समान परिणाम होना उसे सामायिक कहते हैं ॥ २३ ॥

आगे चतुर्विंशतिस्तवका स्वरूप कहते हैं;—

उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धपणमो थओ णेओ ॥ २४॥

ऋषभादिजिनवराणां नामनिरुक्तिं गुणानुकीर्तिं च ।
कृत्वा अर्चयित्वा च त्रिशुद्धप्रणामः स्तवो ज्ञेयः ॥ २४ ॥

अर्थ—ऋषभ अजित आदि चौवीस तीर्थंकरोंके नामकी निरुक्ति अर्थात् नामके अनुसार अर्थकरना, उनके असाधारण गुणोंको प्रगट करना, उनके चरणयुगलको पूजकर मनवचनकायकी शुद्धतासे स्तुति करना उसे चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं ॥ २४ ॥

आगे वंदनाका स्वरूप कहते हैं;—

अरहंतसिद्धपडिमातवसुदगुणगुरुगुरूण रादीणं ।
किदिकम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ॥२५॥

अरहंतसिद्धप्रतिमातपःश्रुतगुणगुरुगुरूणां राधीनाम् ।
कृतकर्मणा इतरेण च त्रिकरणसंकोचनं प्रणामः ॥ २५ ॥

अर्थ—अरहंत प्रतिमा, सिद्धप्रतिमा, अनशनादि बारह तपोंकर अधिक तपगुरु, अंगपूर्वादिरूप आगमज्ञानसे अधिक श्रुतगुरु, व्याकरण न्याय आदि ज्ञानकी विशेषतारूप गुणोंकर अधिक गुणगुरु, अपनेको दीक्षादेनेवाले दीक्षागुरु और बहुतकालके दीक्षित राधिकगुरु–इनको कायोत्सर्गादिक सिद्धभक्ति गुरुभक्ति रूप क्रियाकर्मसे तथा श्रुतभक्ति आदि क्रियाके विना मस्तक नमानेरूप मुंडवंदनाकर मन वचन कायकी शुद्धिसे नमस्कार करना वह वंदना नामा मूलगुण है ॥ २५ ॥

आगे प्रतिक्रमणका स्वरूप कहते हैं;—

दव्वे खेत्ते काले भावे य किदावराहसोहणयं ।
णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिकमणं ॥ २६ ॥

द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च कृतापराधशोधनम् ।
निंदनगर्हणयुक्तो मनोवचःकायेन प्रतिक्रमणम् ॥ २६ ॥

अर्थ—आहार शरीरादि द्रव्यमें, वसतिका शयन आसन आदि क्षेत्रमें, प्रातःकाल आदि कालमें, चित्तके व्यापाररूप भाव (परिणाम)में किया गया जो व्रतमें दोष उसका शुभ मन वचन कायसे शोधना, अपने दोषको अपने आप प्रगटकरना, आचार्यादिकोंके समीप आलोचनापूर्वक अपने दोषोंको प्रगट करना वह मुनिराजके प्रतिक्रमण गुण होता है ॥ २६ ॥

आगे प्रत्याख्यानका स्वरूप कहते हैं;—

णामादीणं छण्णं अजोग्गपरिवज्जणं तिकरणेण ।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ॥ २७ ॥

नामादीनां षण्णां अयोग्यपरिवर्जनं त्रिकरणैः ।
प्रत्याख्यानं ज्ञेयं अनागतं चागमे काले ॥ २७ ॥

अर्थ—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव इन छहोंमें शुभ मन वचन कायसे आगामी कालके लिये अयोग्यका त्याग करना अर्थात् अयोग्य नाम नहीं करूंगा, न कहूंगा और न चिंतवन करूंगा इत्यादि त्यागको प्रत्याख्यान जानना ॥ २७ ॥

आगे कायोत्सर्गका स्वरूप कहते हैं;—

देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि ।
जिणगुणचिंतणजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गो ॥२८॥

दैवसिकनियमादिषु यथोक्तमानेन उक्तकाले ।
जिनगुणचिंतनयुक्तः कायोत्सर्गः तनुविसर्गः ॥ २८ ॥

अर्थ—दिनमें होनेवाली दैवसिक आदि निश्चय क्रियाओंमें

अर्हंत भाषित पच्चीस सत्ताईस वा एकसौ आठ उच्छ्वास इत्यादि परिमाणसे कहे हुए अपने अपने कालमें दया क्षमा सम्यग्दर्शन अनंतज्ञानादिचतुष्टय इत्यादि जिनगुणोंकी भावना सहित देहमें ममत्वका छोड़ना वह कायोत्सर्ग है ॥ २८ ॥

आगे केशलौंचका स्वरूप कहते हैं;—

वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो ।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥ २९ ॥

द्वित्रिचतुष्कमासे लोचः उत्कृष्टमध्यमजघन्यः ।
सप्रतिक्रमणे दिवसे उपवासेनैव कर्तव्यः ॥ २९ ॥

अर्थ—दो महीने तीन महीने चार महीने वाद उत्कृष्ट मध्यम जघन्यरूप व प्रतिक्रमणसहित दिनमें उपवाससहित किया गया जो अपने हाथसे मस्तक डाढी मूंछके केशोंका उपाड़ना वह लोंचनामा मूलगुण है ॥ **भावार्थ**—मुनियोंके पाईमात्र भी धन संग्रह नहीं है जिससे कि हजामत करावें और हिंसाका कारण समझ उस्तरा नामक शस्त्र भी नहीं रखते और दीनवृत्ति न होनेसे किसीसे दीनताकर भी क्षौर नहीं करासकते इसलिये संमूर्छनादिक जुआं लीख आदि जीवोंकी हिंसाके त्यागरूप संयमकेलिये प्रतिक्रमणकर तथा उपवासकर आप ही केशलोंच करते हैं । यही लोंचनामा गुण है ॥ २९ ॥

आगे अचेलकपनेका स्वरूप कहते हैं;—

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्तादिणा असंवरणं ।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥ ३० ॥

वस्त्राजिनवल्कैश्च अथवा पत्रादिना असंवरणं ।
निर्भूषणं निर्ग्रंथं आचेलक्यं जगति पूज्यम् ॥ ३० ॥

अर्थ—कपास रेशम रोम तीनके बने हुए वस्त्र, मृगछाला आदि चर्म, वृक्षादिकी छालसे उत्पन्न सन आदिके टाट, अथवा पत्ता तृण आदि—इनसे शरीरका आच्छादन नहीं करना, कड़े हार आदि आभूषणोंसे भूषित न होना, संयमके विनाशक द्रव्योंकर रहित होना—ऐसा तीनजगतकर पूज्य वस्त्रादि—बाह्यपरिग्रहरहित अचेलकव्रत मूलगुण है ॥ ३० ॥ इससे हिंसाका उपार्जनरूपदोष, प्रक्षालनदोष, याचनादिदोष नहीं होते।

आगे अस्नानव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्तजल्लमल्लसेदसव्वंगं।
अण्हाणं घोरगुणं संजमदुगपालयं मुणिणो ॥ ३१ ॥

स्नानादिवर्जनेन च विलिप्तजल्लमल्लस्वेदसर्वांगम्।
अस्नानं घोरगुणं संयमद्विकपालकं मुनेः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जलसे नहानारूप स्नान, आदिशब्दसे उबटना, अंजन लगाना, पान खाना, चंदनादिलेपन—इसतरह स्नानादिक्रियाओंके छोड़देनेसे जल्लमल्लस्वेदरूप देहके मैलकर लिप्त होगया है सब अंग जिसमें ऐसा अस्नान नामा महान् गुण मुनिके होता है। उससे कषायनिग्रहरूप प्राणसंयम तथा इन्द्रियनिग्रहरूप इन्द्रियसंयम इन दोनोंकी रक्षा होती है। यहां कोई प्रश्न करे कि स्नानादि न करनेसे अशुचिपना होता है? उसका समाधान यह है कि मुनिराज व्रतोंकर सदा पवित्र हैं, यदि व्रतरहित होके जलस्नानसे शुद्धता हो तो मच्छी मगर दुराचारी असंयमी सभी जीव स्नानकरनेसे शुद्ध माने जायँगे सो ऐसा नहीं है, प्रत्युत जलादिक बहुत दोषोंसहित हैं अनेकतरहके सूक्ष्मजीवोंसे भरे हैं पापके मूल हैं इसलिये संयमी जनोंको अस्नानव्रत ही पालना योग्य है ३१

आगे क्षितिशयनव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे ।
दंडंधणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण ॥ ३२ ॥

प्रासुकभूमिप्रदेशे अल्पासंस्तरिते प्रच्छन्ने ।
दंड धनुरिव शय्या क्षितिशयनं एकपार्श्वेण ॥ ३२ ॥

अर्थ—जीवबाधारहित, अल्पसंस्तररहित, असंजमीके गमनरहित-गुप्त भूमिके प्रदेशमें दंडेके समान अथवा धनुषके समान एक पसवाड़ेसे सोना वह क्षितिशयन मूलगुण है ॥ ३२ ॥

आगे अदंतमनव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं ।
दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥ ३३ ॥

अंगुलिनखावलेखनीकलिभिः पाषाणत्वचादिभिः ।
दंतमलाशोधनं संयमगुप्तिरदंतमनम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—अंगुली, नख, दांतौन, तृणविशेष, पैनीं कंकणी, वृक्षकी छाल, (वक्कल), आदिकर दांतमलको नहीं शुद्धकरना अर्थात् दांतोंन नहीं करना वह इंद्रियसंयमकी रक्षाकरनेवाला अदंतमन मूलगुणव्रत है ॥ ३३ ॥

आगे स्थितिभोजनव्रतका स्वरूप कहते हैं;—

अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डादिविवज्जणेण समपायं ।
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम ॥ ३४ ॥

अंजलिपुटेन स्थित्वा कुड्यादिविवर्जनेन समपादम् ।
परिशुद्धे भूमित्रिके अशनं स्थितिभोजनं नाम ॥ ३४ ॥

अर्थ—अपने हाथरूप भाजनकर भीत आदिके आश्रय

रहित चार अंगुलके अंतरसे समपाद खड़े रहकर अपने चरणकी भूमि, झूठन पड़नेकी भूमि, जिमानेवालेके प्रदेशकी भूमि—ऐसी तीन भूमियोंकी शुद्धतासे आहार ग्रहण करना वह स्थितिभोज नामा मूलगुण है ॥ ३४ ॥

आगे एकभक्तका स्वरूप कहते हैं;—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि ।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥ ३५ ॥

उदयास्तमनयोः कालयोः नालीत्रिकवर्जिते मध्ये ।
एकस्मिन् द्वयोः त्रिषु वा मुहूर्तकाले एकभक्तं तु ॥ ३५ ॥

अर्थ—सूर्यके उदय और अस्तकालकी तीन घड़ी छोड़कर, वा मध्यकालमें एकमुहूर्त, दो मुहूर्त, तीनमुहूर्त कालमें एकबार भोजन करना वह एकभक्त मूलगुण है ॥ ३५ ॥

आगे मूलगुणोंका फल वर्णन करते हैं;—

एवं विहाणजुत्ते मूलगुणे पालिऊण तिविहेण ।
होऊण जगदि पुज्जो अक्खयसोक्खं लहइ मोक्खं ३६

एवं विधानयुक्तान् मूलगुणान् पालयित्वा त्रिविधेन ।
भूत्वा जगति पूज्यः अक्षयसौख्यं लभते मोक्षम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—इसप्रकार पूर्व कहेगये विधानकर युक्त मूलगुणोंको मन-वचनकायसे जो पालता है वह तीनलोकमें पूज्य होकर अविनाशी सुखवाले कर्मरहित जीवकी अवस्थारूप मोक्षको पाता है ॥ ३६ ॥

इसप्रकार आचार्यश्रीवट्टकेरिविरचित**मूलाचार**की भाषाटीकामें अट्ठाईसमूलगुणोंको कहनेवाला **मूलगुणाधिकार** समाप्त ॥ १ ॥

बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवाधिकार ॥ २ ॥

आगे मुनिराजके छह काल होते हैं उनमेंसे आत्मसंस्कारकाल संल्लेखनाकाल उत्तमार्थकाल ये तीन काल तो आराधनामें वर्णन किये जायँगे और शेष दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषणकाल ये तीन काल आचारमें वर्णन किये जायँगे। इनमेंसे आदिके तीन कालमें जो मरणका अवसर आजाय तो ऐसा करना चाहिये;—

सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहदो णमो।
सद्दहे जिणपण्णत्तं पच्चक्खामि य पावयं ॥ ३७ ॥

सर्वदुःखप्रहीनेभ्यः सिद्धेभ्यः अर्हद्भ्यो नमः।
श्रद्दधे जिनप्रज्ञप्तं प्रत्याख्यामि च पापकं ॥ ३७ ॥

अर्थ—सब दुःखोंकर रहित सिद्ध परमेष्ठीको तथा नवलब्धियोंको प्राप्त अर्हंत परमेष्ठीको नमस्कार होवे, अब मैं जिनदेवकथित आगमका श्रद्धान करता हूं और दुःखके कारणभूत पापोंका प्रत्याख्यान(त्याग) करता हूं ॥ ३७ ॥

आगे भक्तिके प्रकर्षकेलिये फिर नमस्कार करते हैं;—

णमोत्थु धुदपावाणं सिद्धाणं च महेसिणं।
संथरं पडिवज्जामि जहा केवलिदेसियं ॥ ३८ ॥

नमोस्तु धुतपापेभ्यः सिद्धेभ्यः च महर्षिभ्यः।
संस्तरं प्रतिपद्ये यथा केवलिदेशितम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिन्होंने पापकर्म नष्ट करदिये ऐसे सिद्ध परमेष्ठी तथा केवल ऋद्धिको प्राप्त अर्हंत परमेष्ठी इन दोनोंको नमस्कार होवे,

अब मैं सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तपमई अभ्यंतर संस्तर तथा भूमि पाषाण सिला तृणमई बाह्यसंस्तर (सांथरा-आसन)को जैसा कि केवलज्ञानियोंने कहा है वैसे प्राप्त होता हूं ॥ ३८ ॥ पहले श्लोकमें प्रत्याख्यान कहनेकी प्रतिज्ञा व दूसरे सूत्रमें संस्तरस्तव कहनेकी प्रतिज्ञा सूचित की है।

आगे सामायिकके स्वरूपकेलिये प्रत्याख्यानकी विधि कहते हैं;—

जं किंचि मे दुच्चरियं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥ ३९ ॥

यत् किंचित् दुश्चरितं सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृजामि।
सामायिकं च त्रिविधं करोमि सर्वं निराकारम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो कुछ मेरी पापक्रिया हैं उन सबको मन वचन कायसे मैं त्याग करता हूं और समताभावरूप निर्विकल्प निर्दोष सब सामायिकको मन वचन काय व कृत कारित अनुमोदनासे करता हूं ॥ ३९ ॥

आगे दुश्चरित्रके सब कारणोंको मन वचन कायकर छोड़ता हूं ऐसा कहते हैं;—

बज्झब्भंतरमुवहिं शरीराइं च भोयणं।
मणेण वचि कायेण सव्वं तिविहेण वोसरे ॥ ४० ॥

बाह्याभ्यंतरमुपधिं शरीरादींश्च भोजनम्।
मनसा वचसा कायेन सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृजामि ॥ ४० ॥

अर्थ—क्षेत्र (खेत) आदि बाह्य परिग्रह, मिथ्यात्वआदि

अभ्यंतर परिग्रह, आहार और शरीरादिक इन सबका मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करता हूं अर्थात् इनसे ममत्व छोड़ता हूं ॥ ४० ॥

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च ।
सव्वमदत्तादाणं मेहूण परिग्गहं चेव ॥ ४१ ॥

सर्वं प्राणारंभं प्रत्याख्यामि अलीकवचनं च ।
सर्वमदत्तादानं मैथुनं परिग्रहं चैव ॥ ४१ ॥

अर्थ—जीवघातके परिणामरूप हिंसा, झूठ वचन, अदत्तादान (चोरी) स्त्रीपुरुषके अभिलाषरूप अब्रह्म और बाह्य आभ्यंतररूप सब परिग्रह–इन सब पापोंको मैं छोड़ता हूं ॥ ४१ ॥

आगे सामायिकका स्वरूप कहते हैं;—

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसाए वोसरित्ताण समाहिं पडिवज्जये ॥ ४२ ॥

साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनापि ।
आशाः व्युत्सृज्य समाधिं प्रतिपद्ये ॥ ४२ ॥

अर्थ—शत्रु मित्र आदि सब प्राणियोंमें मेरी तरफसे समभाव हैं किसीसे वैर नहीं है इसलिये सब तृष्णाओंको छोड़कर मैं समाधिभावको अंगीकार करता हूं ॥ ४२ ॥

यहांपर कोई कहे कि वैरभाव कैसे नहीं है? ऐसे प्रश्नका उत्तर कहते हैं;—

खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ॥ ४३ ॥

क्षमे सर्वजीवान् सर्वे जीवा क्षमंतां मम ।
मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनापि ॥ ४३ ॥

अर्थ—मैं क्रोधादि भाव छोड़ शुभ अशुभ परिणामोंके कारणरूप सब जीवोंके ऊपर क्षमाभाव करता हूं और सब जीव मेरे ऊपर क्षमाभाव करो। मेरा सब प्राणियोंपर मैत्रीभाव है किसीसे मेरा वैरभाव नहीं है ॥ ४३ ॥

आगे कहते हैं कि मैं केवल वैरभाव ही नहीं छोड़ता किंतु जो जो वैरके निमित्तकारण हैं उन सभीको छोड़ता हूं;—

रायबंधं पदोसं च हरिसं दीणभावयं ।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरदिं च वोसरे ॥ ४४ ॥

रागबंधं प्रद्वेषं च हर्षं दीनभावकम् ।
उत्सुकत्वं भयं शोकं रतिमरतिं च व्युत्सृजामि ॥ ४४ ॥

अर्थ—स्नेहबंध, अप्रीतिरूपभावना, आनंद, करुणाके कारण याचनारूप भाव, उत्कंठा, भय, शोक, रागभाव और इष्टवस्तुकी अप्राप्तिसे अरतिभाव-ये सब वैरभावके निमित्त कारण हैं। इसलिये इन सबको मैं छोड़ता हूं ॥ ४४ ॥

आगे फिर भी कहते हैं;—

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्मत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥ ४५ ॥

ममतां परिवर्जयामि निर्ममत्वमुपस्थितः ।
आलंबनं च मे आत्मा अवशेषाणि व्युत्सृजामि ॥ ४५ ॥

अर्थ—मैं ममताभावका त्याग करता हूं निर्ममत्व (परिग्रह

रहित) भावको प्राप्त हुआ हूं। मेरे आत्मा ही आलंबन (आश्रय) है शेष सबका त्यागकरता हूं अर्थात् अनंत ज्ञानादि व रत्नत्रयादि आत्मगुणोंके सिवाय अन्य सबका त्याग है ॥ ४५ ॥

आगे कोई यह कहे कि तुमने सबका त्याग किया परंतु आत्माका त्याग क्यों नहीं किया इसका उत्तर कहते है;—

आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोए ॥ ४६ ॥

आत्मा हि मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥ ४६ ॥

अर्थ—मेरा आत्मा प्रगटपनेसे ज्ञानमें है, मेरा आत्मा दर्शन (श्रद्धान–आलोकन) में है, मेरा आत्मा पापक्रियाकी निवृत्ति-रूप चारित्रमें है, मेरा आत्मा प्रत्याख्यानमें है, मेरा आत्मा आस्रवके निरोधरूप संवरमें तथा शुभव्यापाररूपयोगमें है–इसलिये इसका त्याग कैसे करसकते हैं? नहीं करसकते ॥ ४६ ॥

आगे फिर भी कहते हैं;—

एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।
एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ ॥ ४७ ॥

एकश्च म्रियते जीव एकश्च उत्पद्यते।
एकस्य जातिमरणं एकः सिध्यति नीरजाः ॥ ४७ ॥

अर्थ—यह जीव अकेला (सहाय रहित) मरता (शरीरका त्याग करता) है, और यह चेतनस्वरूप अकेला ही उपजता है। इस अकेलेके ही जन्म मरण होते हैं तथा जब कर्मरजसे रहित

होजाता है तब अकेला ही सिद्ध (मुक्त) होता है ॥ **भावार्थ**— यह जीव सब काल और सब अवस्थाओंमें अकेला ही है ॥ ४७ ॥

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ ४८ ॥

एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—ज्ञानदर्शन लक्षणवाला एक मेरा आत्मा ही नित्य है, शेष शरीरादिक मेरे बाह्य पदार्थ हैं वे आत्माके संयोगसंबंधसे उत्पन्न हैं इसलिये विनाशीक हैं ॥ ४८ ॥

आगे कहते हैं कि संयोगलक्षणभावका त्याग क्यों करना चाहिये उसका उत्तर कहते हैं;—

संजोयमूलं जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा ।
तम्हा संजोगसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥ ४९ ॥

संयोगमूलं जीवेन प्राप्ता दुःखपरंपरा ।
तस्मात् संयोगसंबंधं सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृजामि ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस जीवने परद्रव्यके साथ संयोगके निमित्तसे हमेशा दुःख भोगे इसलिये सब संयोग संबंधको मन वचन काय-इन तीनोंसे छोड़ता हूं ॥ ४९ ॥

आगे फिर भी दुश्चरित्रके त्यागकेलिये कहते हैं;—

मूलगुणउत्तरगुणे जो मे णाराधिदो पमादेण ।
तमहं सव्वं णिंदे पडिक्कमे आगमिस्साणं ॥ ५० ॥

मूलगुणोत्तरगुणेषु यो मया न आराधितः प्रमादेन ।
तमहं सर्वं निंदामि प्रतिक्रमामि आगमिष्यति ॥ ५० ॥

अर्थ—मूलगुण (प्रधानगुण) और उत्तर (विशेष) गुण— इन दोनों प्रकारके गुणोंमेंसे जिनका मैंने आलस्यकर आराधन (सेवन) नहीं किया उन सब अपने दोषोंकी मैं निंदा करता हूं, तथा आगामी कालमें जो गुण आराधनेमें न आवें उनके दोषोंकी भी निंदा करता हूं और प्रतिक्रमण (त्याग) करता हूं ॥ ५० ॥

अस्संजममण्णाणं मिच्छत्तं सव्वमेव य ममत्तिं ।
जीवेसु अजीवेसु य तं णिंदे तं च गरिहामि ॥ ५१ ॥

असंयममज्ञानं मिथ्यात्वं सर्वमेव च ममत्वं ।
जीवेष्वजीवेषु च तत् निंदामि तच्च गर्हे ॥ ५१ ॥

अर्थ—पापके कारण असंयमभाव, श्रद्धानरहित वस्तुका जाननारूप अज्ञान भाव, अश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव, और जीव तथा अजीवपदार्थोंमें ममताभाव—ऐसे सब भावोंकी मैं निंदा करता हूं तथा गर्हा करता हूं अर्थात् उनके दोषोंको प्रकट करता हूं ॥ ५१ ॥

आगे कोई प्रश्नकरे कि प्रमादसे दोष लगे हैं उनका तो त्याग किया परंतु प्रमादोंका त्याग क्यों नहीं किया उसका समाधान कहते हैं—

सत्त भए अट्ठ मए सण्णा चत्तारि गारवे तिण्णि ।
तेत्तीसदासणाओ रायद्दोसं च गरिहामि ॥ ५२ ॥

सप्त भयानि अष्टौ मदान् संज्ञाश्चतस्रः गौरवाणि त्रीणि ।
त्रयस्त्रिंशदासादनां रागद्वेषौ च गर्हे ॥ ५२ ॥

अर्थ—सात भय, आठमद, आहार भय मैथुन परिग्रह–इनकी अभिलाषारूप चार संज्ञा, ऋद्धिका गर्वरूप ऋद्धिगौरव–रसगौरव–सात (सुख) गौरव–ऐसे तीन गौरव, तेतीस पदार्थोंकी आसादना (परिभव), प्रीतिरूप राग और अप्रीतिरूप द्वेष–इन सब भावोंका मैं आचरण नहीं करता–त्याग करता हूं ॥ ५२ ॥

उनमेंसे प्रथम सात भय और आठ मदोंको कहते हैं;—

इह परलोयत्ताणं अगुत्तिमरणं च वेयणाकस्सि भया ।
विण्णाणिस्सरियाणा कुलबलतवरूवजाइ मया ॥५३॥

इहपरलोकौ अत्राणं अगुप्तिर्मरणं वेदना आकस्मिकं भयानि ।
विज्ञानमैश्वर्यं आज्ञा कुलबलतपोरूपजातिः मदाः ॥ ५३ ॥

अर्थ—इसलोकभय, परलोकभय, अरक्षाका भय, गुप्त रहनेके स्थान (गढ-किला) न होनेका भय, मरनेका भय, शरीरादिकी पीड़ाका भयरूप वेदनाभय, विना कारण मेघगर्जनादिकसे उत्पन्न हुआ आकस्मिकभय–ये सात भय हैं । गणित काव्य गंधर्व संगीतादि विद्याका अभिमानस्वरूप विज्ञानमद, धनकुटुंब आदि बाह्य संपदाका अभिमानरूप ऐश्वर्यमद, वचनके उल्लंघन न होनेरूप आज्ञामद, पिता पितामहके उत्तम इक्ष्वाकु आदि वंशमें जन्म होनेरूप कुलका मद, शरीरकी शक्तिके अभिमानरूप बलमद, कायको संताप देनेका अहंकाररूप तपोमद, शरीरकी सुंदरता लावण्यताका अभिमानस्वरूप रूपमद, माताकी पक्षकी परि-

पाटी मामा नाना आदिकी उत्तमताका अभिमानरूप जातिमद–ये आठ मद हैं ॥ ५३ ॥ इन आठोंको त्यागना चाहिये, क्योंकि ये सम्यक्त्व तथा चारित्रको नहीं होने देते।

आगे तेतीसपदार्थोंके नाम कहते हैं;—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाय महव्वया पंच।
पवयणमादु पदत्था तेतीसच्चासणा भणिया ॥ ५४ ॥

पंचैव अस्तिकायाः षड्जीवनिकाया महाव्रतानि पंच।
प्रवचनमातृकाः पदार्थाः त्रयस्त्रिंशदासादना भणिताः ५४

अर्थ—जीव आदि पांच अस्तिकाय, पृथ्वीकायादि स्थावर व दो इंद्रियसे पंच इंद्रियतक त्रसकाय–इसतरह छह जीवनिकाय, अहिंसा आदि पांच महाव्रत, ईर्या आदि पांच समिति व काय-गुप्ति आदि तीन गुप्ति-ऐसे आठ प्रवचन माता, और जीव आदि नौ पदार्थ—इसप्रकार ये तेतीस पदार्थ हैं। इनकी आसादनाके भी ये ही नाम हैं। इन पदार्थोंका स्वरूप अन्यथा कहना, शंकादि उत्पन्न करना उसे आसादना कहते हैं। ऐसा करनेसे दोष लगता है इसलिये उसका त्याग कराया गया है ॥ ५४ ॥

इसतरह आत्मसंस्कारकालको विताकर संन्यासकी आलोचनाके लिये कहते हैं;—

णिंदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं।
आलोचेमि य सव्वं सब्भंतरबाहिरं उवहिं ॥ ५५ ॥

निंदामि निंदनीयं गर्हे च यच्च मे गर्हणीयं।
आलोचयामि च सर्वं साभ्यंतरबाह्यं उपधिं ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो अपने ही भावमें प्रगटकर निंदा करने योग्य दोष हैं उनकी निंदा करता हूं अर्थात् यह मैंने दोष किया था ऐसा याद कर निषेधता हूं, आचार्यादिकोंके समीप प्रकाश करने योग्य मेरे दोष हैं उनकी आचार्यादिकोंके समीप गर्हा करता हूं और समस्त आभ्यंतर ममत्वभाव सहित बाह्य चेतन अचेतन परिग्रहकी आलोचना (परिहार) करता हूं ॥ ५५ ॥

किस प्रकार आलोचना करना यह कहते हैं;—

जह बालो जप्पंतो कज्जमकज्जं च उज्जयं भणदि ।
तह आलोचेदव्वं माया मोसं च मोत्तूण ॥ ५६ ॥

यथा बालो जल्पन् कार्यमकार्यं च ऋजु भणति ।
तथा आलोचयितव्यं मायां मृषां च मुक्त्वा ॥ ५६ ॥

अर्थ—जैसे बालक पूर्वापर विवेक रहित बोलता हुआ कार्य अकार्यको कुटिलतारहित सरलवृत्तिसे कहता है, उसीतरह मन वचनकायकी कुटिलताकर छिपानेरूप माया तथा असत्यवचनोंको छोड़कर आलोचना करना योग्य है ॥ ५६ ॥

आगे जिस आचार्यके पास आलोचना की जाय वह कैसे गुणोंवाला होना चाहिये यह कहते हैं;—

णाणम्हि दंसणम्हि य तवे चरित्ते य चउसुवि अकंपो ।
धीरो आगमकुसलो अपरस्सावी रहस्साणं ॥ ५७ ॥

ज्ञाने दर्शने च तपसि चरित्रे च चतुर्षु अपि अकंपः ।
धीरः आगमकुशलः अपरश्रावी रहस्यानाम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो आचार्य ज्ञानाचारमें, दर्शनाचारमें, तप आचा-

रमें, चारित्राचारमें–इसतरह चारों आराधनाओंमें अचल (दृढ) हो तथा धैर्यगुण सहित हो, अपने और परमतके शास्त्रोंके विचारमें चतुर हो, और एकांतमें आलोचना किये गये गुप्त आचरणोंको किसीसे कहनेवाला न हो ऐसा आचार्य होता है। उसीके पास आलोचना करनी चाहिये ॥ ५७ ॥

आगे आलोचनाके वाद क्षमावना करनेका विधान कहते हैं;—

रागेण व दोसेण व जं मे अकदण्हुयं पमादेण ।
जो मे किंचिवि भणिओ तमहं सव्वं खमावेमि ॥५८॥

रागेण वा द्वेषेण वा यत् मया अकृतज्ञत्वं प्रमादेन ।
यत् मया किंचिदपि भणितं तदहं सर्वं क्षमयामि ॥ ५८ ॥

अर्थ—माया लोभ स्नेहरूप रागकर तथा क्रोध मान अप्रीतिरूप द्वेषकर जो मैंने अकृतज्ञपना किया अर्थात् तुम्हारे साथ अयोग्य वर्ताव किया और प्रमादसे जो कुछ भी अनुचित किसीको कहा हो उसके लिये मैं सब जनोंसे क्षमा मांगता हूं तथा मैं क्षमा करता हूं सब जीवोंको संतुष्ट करता हूं ॥ ५८ ॥

ऐसे क्षमाभावकर क्षपक संन्यास करनेकी अभिलाषाकर आचार्योंको मरणके भेद पूछता है उसका उत्तर कहते हैं;—

तिविहं भणियं मरणं बालाणं बालपंडियाणं च ।
तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति ॥ ५९ ॥

त्रिविधं भणितं मरणं बालानां बालपंडितानां च ।
तृतीयं पंडितमरणं यत् केवलिनो अनुम्रियंते ॥ ५९ ॥

अर्थ—अर्हंत भट्टारक और गणधरदेव मरण तीन प्रकारका कहते हैं—बालमरण १ बालपंडितमरण २ और तीसरा पंडित-मरण जोकि केवली भगवान्‌का मरण होता है ॥ **भावार्थ**—असंयमी सम्यग्दृष्टीके मरणको बालमरण कहते हैं, संयतासंयत-श्रावकके मरणको बालपंडितमरण कहते हैं, और तीसरा पंडित-मरण संयमी मुनिके होता है । अन्य ग्रंथोंमें मरणके पांच भेद कहे गये हैं उनमेंसे बालबाल मरण मिथ्यात्वीके होता है और पंडित पंडित मरण केवलीके होता है ऐसा जानना ॥ ५९ ॥

आगे अज्ञानी कैसा मरण करते हैं उसका उत्तर कहते हैं;—

जे पुण पणट्ठमदिया पचलियसण्णाय वक्कभावा य ।
असमाहिणा मरंते ण हु ते आराहया भणिया ॥६०॥

ये पुनः प्रनष्टमतिकाः प्रचलितसंज्ञाश्च वक्रभावाश्च ।
असमाधिना म्रियंते न हि ते आराधका भणिताः ॥ ६० ॥

अर्थ—जो नष्टबुद्धिवाले अज्ञानी आहारादिकी वांछारूप संज्ञा-वाले मन वचन कायकी कुटिलतारूप परिणामवाले जीव आर्तरौद्र-ध्यानरूप असमाधिमरणकर परलोकमें जाते हैं वे आराधक (कर्मके क्षय करनेवाले) नहीं हैं संसारको बढानेवालेही होते हैं ॥ ६० ॥

आगे पूछते हैं कि मरणके समय विरुद्ध परिणाम होनेसे क्या होता है उसे कहते हैं;—

मरणे विराधिदे देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही ।
संसारो य अणंतो होइ पुणो आगमे काले ॥ ६१ ॥

मरणे विराधिते देवदुर्गतिः दुर्लभा च किल बोधिः ।
संसारश्चानंतो भवति पुनरागमिष्यति काले ॥ ६१ ॥

अर्थ—मरणके समय जो सम्यक्त्वकी विराधना करते (छोड़ते) हैं अथवा आर्तरौद्र सहित मरते हैं उनकी भवनवासी आदि नीचकुली देवताओंमें उत्पत्ति होती है और सम्यक्त्व वा रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है ऐसा आगममें कहा है। तथा ऐसे जीवोंके आगामीकालमें चारों गतिमें भ्रमण करनेरूप संसार अनंत हो जाता है ॥ ६१ ॥

आगे दुर्गति आदि क्या हैं ऐसा प्रश्न करते हैं;—

का देवदुग्गईओ का बोही केण ण वुज्झए मरणं ।
केण व अणंतपारे संसारे हिंडए जीओ ॥ ६२ ॥

का देवदुर्गतयः का बोधिः केन न बुध्यते मरणं ।
केन वा अनंतपारे संसारे हिंडते जीवः ॥ ६२ ॥

अर्थ—क्षपक आचार्यको पूछता है कि हे पूज्य देवदुर्गति कैसी है? बोधिका स्वरूप क्या है? मरणका स्वरूप किस कारणसे नहीं जाना जाता? और किस कारणसे यह जीव अनंत संसारमें भ्रमता है ॥ ६२ ॥

ऐसा पूछनेपर आचार्य कहते हैं;—

कंदप्पमाभिजोग्गं किव्विस संमोहमासुरत्तं च ।
ता देवदुग्गईओ मरणम्मि विराहिए होंति ॥ ६३ ॥

कांदर्पमाभियोग्यं कैल्विष्यं संमोहं आसुरत्वं च ।
ता देवदुर्गतयो मरणे विराधिते भवंति ॥ ६३ ॥

अर्थ—मृत्युके समय सम्यक्त्वका विनाश होनेसे कांदर्प, आभियोग्य, कैल्विष, स्वमोह, आसुर-ये पांच देव दुर्गतियां होतीं हैं ॥ इनका स्वरूप ऐसा है-शीलगुणमें उपद्रवरूप परिणामको कंदर्प कहते हैं, तंत्र मंत्र इत्यादिककर रसादिककी इच्छा वह अभियोग है, प्रतिकूल आचरण वह किल्विष है, मिथ्यात्वभावनामें तत्पर रहनेको संमोह कहते हैं और रौद्रपरिणाम सहित जिसके आचरण हों वह असुर है-उनके धर्मोंको गतियां कहते हैं ॥ ६३ ॥

अब पहले कांदर्पदेवदुर्गतिका स्वरूप कहते हैं;—

असत्तमुल्लवयंतो पण्णाविंतो य बहुजणं कुणइं ।
कंदप रइसमवण्णो कंदप्पेसु उवज्जेइ ॥ ६४ ॥

असत्यमुल्लपन् प्रज्ञापयन् च बहुजनं करोति ।
कंदर्प रतिसमापन्नः कांदर्पेषु उत्पद्यते ॥ ६४ ॥

अर्थ—जो मिथ्या (झूठ) वचन बोलता हुआ और असत्यवचन बहुत प्राणियोंको सिखाता हुआ रागभावकी तीव्रता सहित कंदर्पभावको करता है वह जीव कंदर्पकर्मके योगसे नग्नाचार्य कंदर्प देवोंमें उत्पन्न होता है ॥ ६४ ॥

आगे आभियोगकर्मका स्वरूप और उससे उत्पत्ति होनेका स्थान वर्णन करते हैं;—

अभिजुंजइ बहुभावे साहू हस्साइयं च बहुवयणं ।
अभिजोगेहिं कम्मेहिं जुत्तो वाहणेसु उवज्जेइ ॥ ६५ ॥

अभियुंक्ते बहुभावान् साधुः हास्यादिकं च बहुवचनं ।
अभियोगैः कर्मभिर्युक्तो वाहनेषु उत्पद्यते ॥ ६५ ॥

अर्थ—जो साधु रसादिकमें आसक्त होके तंत्र मंत्र भूत कर्मादिक बहुत भाव करता है और हास्यपनेकी आश्चर्य उत्पन्न करानेकी वार्ता इत्यादि बहुत बोलता है वह अभियोगकर्मकर सहित हुआ वाहन जातिके हाथी घोड़े आदि स्वरूपके देवताओंमें उत्पन्न होता है ॥ ६५ ॥

आगे किल्विषभावनाका स्वरूप और उससे उत्पत्ति होनेका स्थान कहते हैं;—

तित्थयराणं पडिणीउ संघस्स य चेइयस्स सुत्तस्स ।
अविणीदो णियडिल्लो किव्विसियेसूववज्जेइ ॥ ६६ ॥

तीर्थंकराणां प्रत्यनीकः संघस्य च चैत्यस्य सूत्रस्य ।
अविनीतो निकृतिवान् किल्विषेषु उत्पद्यते ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो साधु धर्मतीर्थके प्रवर्तानेवाले तीर्थंकरोंके प्रतिकूल होता है, तथा ऋषि यति मुनि अनगार अथवा ऋषि श्रावक अर्थिका श्राविका अथवा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप—इस तरह चार प्रकारके संघका विनय नहीं करता है उद्धत रहता है, सर्वज्ञ देवकी प्रतिमाका और द्वादशांग चौदहपूर्वरूप परमागमका विनय नहीं करता तथा मायाचारसे ठगनेमें चतुर है वह किल्विषजातिके वाजे वजानेवाले देवोंमें उत्पन्न होता है ॥ ६६ ॥

आगे संमोहभावनाका स्वरूप और उससे उत्पत्ति होनेका स्थान बतलाते हैं;—

उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ मग्गविवडिवण्णो य ।
मोहेण य मोहंतो संमोहेसूववज्जेदि ॥ ६७ ॥

उन्मार्गदेशकः मार्गनाशकः मार्गविप्रतिपन्नश्च ।
मोहेन च मोहयन् संमोहेषु उत्पद्यते ॥ ६७ ॥

अर्थ—जो मिथ्यात्वादिका उपदेश करनेवाला हो, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप मोक्षमार्गका विरोधी (नाशक) हो अर्थात् मार्गसे विपरीत अपना जुदा मत चलाता हो–ऐसा साधु मिथ्यात्व तथा मायाचारीसे जगतको मोहता हुआ स्वच्छंद देवदुर्गतिमें उत्पन्न होता है ॥ ६७ ॥

आगे आसुरीभावना और उससे उत्पन्न होनेका स्थान वतलाते हैं;—

खुद्दी कोही माणी मायी तह संकिलिट्ठ तव चरित्ते ।
अणुबद्धवेररोई असुरेसुववज्जदे जीवो ॥ ६८ ॥

क्षुद्रः क्रोधी मानी मायावी तथा संक्लिष्टः तपसि चरित्रे ।
अनुबद्धवैररोची असुरेषूपपद्यते जीवः ॥ ६८ ॥

अर्थ—दुष्ट क्रोधी अभिमानी मायाचारी और तप तथा चारित्र पालनेमें क्लेशित परिणामों सहित और जिसने वैर करनेमें बहुत प्रीति की है ऐसा जीव आसुरीभावनासे असुर जातिके अंबर अंबरीषनामा भवनवासी देवोंमें उत्पन्न होता है ॥ ६८ ॥ यह पांचवीं असुरदेवदुर्गतिका स्वरूप है ।

आगे व्यतिरेकद्वारा बोधिको कहते हैं;—

मिच्छादंसणरत्ता सणिदाणा किण्हलेसमोगाढा ।
इह जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥ ६९ ॥

मिथ्यादर्शनरक्ता सनिदाना कृष्णलेश्यामागाढाः ।
इह ये म्रियंते जीवाः तेषां पुनः दुर्लभा बोधिः ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो जीव अतत्त्वार्थश्रद्धानरूप मिथ्यादर्शनमें लीन हैं, आगामी आकांक्षारूप निदान सहित हैं और अनंतानुबंधी कषायसे रंजित योगकी प्रवृत्तिरूप कृष्णलेश्याकर सहित क्रूर परिणामी हैं ऐसे जीव मरण करते हैं उनके बोधि अर्थात् सम्यक्त्वसहित शुभ परिणाम होना दुर्लभ है ॥ ६९ ॥

आगे अन्वयकर बोधिको कहते हैं;—

सम्मद्दंसणरत्ता अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इह जे मरंति जीवा तेसिं सुलहा हवे बोही ॥ ७० ॥

सम्यग्दर्शनरक्ता अनिदानाः शुक्ललेश्यामागाढाः ।
इह ये म्रियंते जीवाः तेषां सुलभा भवेत् बोधिः ॥ ७० ॥

अर्थ—जो जीव सम्यग्दर्शनमें लीन हैं (तत्त्वरुचिवाले हैं), इस लोक परलोक संबंधी भोगादिकोंकी इच्छा रहित हैं और शुक्लेश्यारूप शुभ परिणामों सहित हैं उनके मरण समयमें बोधि होना सुलभ है ॥ ७० ॥

आगे संसारके कारणका स्वरूप कहते हैं;—

जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा ससबला कुसीला य ।
असमाहिणा मरंते ते होंति अणंतसंसारा ॥ ७१ ॥

ये पुनः गुरुप्रत्यनीका बहुमोहाः सशबलाः कुशीलाः च ।
असमाधिना म्रियंते ते भवंति अनंतसंसाराः ॥ ७१ ॥

अर्थ—जो आचार्यादिकोंसे प्रतिकूल हैं, बहुत मोहवाले हैं (रागद्वेषसे पीड़ित हैं), खोटे आचरणवाले हैं और खोटे शील

(व्रतरक्षा) वाले हैं ऐसे जीव मिथ्यात्वसहित आर्त रौद्र परिणामोंकर मरण करते हुए दीर्घ संसारी होते हैं ॥ ७१ ॥

आगे अल्पसंसारवाले जीवोंका स्वरूप बतलाते हैं;—

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण ।
असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ॥ ७२ ॥

जिनवचने अनुरक्ताः गुरुवचनं ये कुर्वंति भावेन ।
अशबला असंक्लिष्टाः ते भवंति परीतसंसाराः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो पुरुष अर्हंत भाषित प्रवचनमें अच्छीतरह भक्त हैं, आचार्यादि गुरुओंकी आज्ञाको भक्तिसे करते हैं मंत्र तंत्र शास्त्र-पठनकी आकांक्षासे केवल नहीं, मिथ्यात्वकर रहित हैं और क्लेश रहित शुद्धपरिणामवाले हैं वे अल्पसंसारवाले होते हैं ॥ ७२ ॥

आगे जिनवचनमें अनुराग न हो तो क्या होता है उसका उत्तर कहते हैं;—

बालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणि मरणाणि
मरिहंति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणंति ॥७३॥

बालमरणानि बहुशः बहुकानि अकामकानि मरणानि ।
मरिष्यंति ते वराका ये जिनवचनं न जानंति ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो जीव जिनदेव(सर्वज्ञ)के आगमको नहीं जानते हैं वे अनाथ बहुत प्रकारके बालमरण अर्थात् मिथ्यादृष्टि अज्ञानियोंके शरीरत्यागरूप खोटे मरण करते हैं और अभिप्रायरहित अनेक प्रकारके मरण पाते हैं ॥ ७३ ॥

आगे पूछते हैं कि बालमरण कैसे होता है उसको कहते हैं;–

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं जलप्पवेसो य ।

अणयारभंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणी ॥ ७४ ॥

शस्त्रग्रहणं विषभक्षणं च ज्वलनं जलप्रवेशश्च ।
अनाचारभांडसेवी जन्ममरणानुबंधीनः ॥ ७४ ॥

अर्थ—खड्ग(तलवार) आदिसे अपना घात(मरण)करना, विष खानेसे हुआ मरण, अग्निसे हुआ मरण, नदी कुवा बावडी आदिमें डूबनेसे हुआ मरण, पापक्रियारूपवस्तुसेवनसे हुआ मरण– इसतरह अपघातरूप मरण हैं वे जन्ममरणके संतानरूप दीर्घ-संसारके कारण जानना॥ ये मरण समीचीन आचरण करनेवालेके नहीं होते॥ ७४ ॥

आगे ऐसे मरणके भेद सुन संन्यास करनेवाला साधु संवेग निर्वेदमें तत्पर होके ऐसा चिंतवन करता है;—

उड्ढमधो तिरियह्मि दु कदाणि बालमरणाणि बहुगाणि।
दंसणणाणसहगदो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥ ७५ ॥

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु तु कृतानि बालमरणानि बहुकानि ।
दर्शनज्ञानसहगतः पंडितमरणं अनुमरिष्यामि ॥ ७५ ॥

अर्थ—ऊर्ध्वलोक–अधोलोकमें देवनारकीमें, तिर्यग्लोकमें मनुष्यतिर्यंचयोनिमें मैंने बालमरण बहुत किये। अब दर्शनज्ञान सहित हुआ पंडितमरण अर्थात् शुद्धपरिणामरूप चारित्र पूर्वक संन्याससे प्राणोंका त्याग करूंगा॥ ७५ ॥

आगे क्षपक कहता है कि अकामकृतमरणोंको यादकर पंडित मरणसे प्राणोंका त्याग करूंगा;—

उव्वयमरणं जादीमरणं णिरएसु वेदणाओ य।
एदाणि संभरंतो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥ ७६ ॥

उद्वेगमरणं जातिमरणं निरयेषु वेदनाश्च ।
एतानि संस्मरन् पंडितमरणं अनुमरिष्यामि ।। ७६ ।।

अर्थ—इष्टके वियोगसे अनिष्टके संयोगसे किसी भयसे हुआ मरण, उत्पन्न हुए बालकका मरण, गर्भमें तिष्ठे हुएका मरण, और नरककी तीव्रवेदनाको याद करता हुआ अब मैं पंडित मरण-कर प्राण त्याग करूंगा ॥ ७६ ॥

अब कोई पूछे कि मरणके भेदोंमें पंडित मरण अच्छा क्यों है उसे कहते हैं;—

एक्कं पंडिदमरणं छिंददि जादीसदाणि बहुगाणि ।
तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥ ७७ ॥

एकं पंडितमरणं छिनत्ति जातिशतानि बहूनि ।
तन्मरणं मर्तव्यं येन मृतं सुमृतं भवति ।। ७७ ।।

अर्थ—एक ही पंडित मरण बहुत जन्मोंके सैंकड़ोंको छेद देता है इसलिये उस पंडित मरणसे ही मरना, जिससे वह मरण प्रशंसा करनेयोग्य है ॥ अर्थात् ऐसा मरण करना कि जिससे फिर जन्म लेना न पड़े ॥ ७७ ॥

आगे यदि संन्यासके समय पीड़ा क्षुधादिक उपजे तो ऐसा करना यह कहते हैं;—

जइ उप्पज्जइ दुःक्खं तो दट्ठव्वो सभावदो णिरये ।
कदमं मए ण पत्तं संसारे संसरंतेण ।। ७८ ।।

यदि उत्पद्यते दुःखं ततो द्रष्टव्यः स्वभावतो नरके ।
कतमत् मया न प्राप्तं संसारे संसरता ।। ७८ ।।

अर्थ—जो संन्यासके समय क्षुधादिक दुःख उपजे तो नर-

कका स्वरूप चिंतवन करना तथा जन्म जरा मरणरूप संसारमें भ्रमण करते हुए मैंने कौनसे दुःख नहीं पाये ऐसे दुःख तो बहुत पाये हैं ॥ ७८ ॥

आगे संसारमें कैसे २ दुःख पाये उनको कहते हैं;—

संसारचक्कवालम्मि मए सव्वेपि पोग्गला बहुसो।
आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा तित्ती॥७९॥

संसारचक्रवाले मया सर्वेपि पुद्गला बहुशः।
आहृताश्च परिणामिताश्च न च मे गता तृप्तिः ॥ ७९ ॥

अर्थ—चतुर्गति जन्ममरणरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते हुए मैंने दही खांड गुड़ चावल जल आदि सभी पुद्गल बहुत बार भक्षण किये और खल रसरूपकर जीर्ण किये तौभी मेरे तृप्ति (संतोष) नहीं हुई, अधिक अधिक इच्छा ही होती गई ऐसा चिंतवन करना ॥ ७९ ॥

आगे किस दृष्टांतसे तृप्ति नहीं हुई उसका उत्तर कहते हैं;—

तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं।
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥ ८० ॥

तृणकाष्ठैरिवाग्निः लवणसमुद्रो नदीसहस्रैः।
न अयं जीवः शक्यः तृप्तुं कामभोगैः ॥ ८० ॥

अर्थ—जैसे तृण काठ बहुत डालनेपर भी अग्नि तृप्त नहीं होती, और परिवारनदियों सहित गंगा सिंधु आदि हजारों नदियोंसे भी लवणसमुद्र पूर्ण नहीं होता उसीतरह यह जीव भी वांछितसुखके कारण जो आहार स्त्री वस्त्रादि कामभोग हैं उनसे

संतुष्ट नहीं होता। अधिक मिलनेसे तृष्णा अधिक बढती जाती है ॥ ८० ॥

आगे परिणाममात्रसे ही बंध होता है यह कहते हैं;—

कंखिदकलुसिदभूदो कामभोगेसु मुच्छिदो संतो।
अभुंजंतोवि य भोगे परिणामेण णिवज्झेइ ॥ ८१ ॥

कांक्षितकलुषितभूतः कामभोगेषु मूर्च्छितः सन्।
अभुंजानोपि च भोगान् परिणामेन निबध्यते ॥ ८१ ॥

अर्थ—जो काम भोगोंकी इच्छा करनेवाला, रागद्वेषादि मलिनभावोंसे पीड़ित हुआ काम भोगोंमें मूर्च्छित होता है वह जीव संसार सुखके कारण भोगोंको न भोगता हुआ भी चित्तके व्यापाररूप परिणामोंसे आप कर्मोंकर बँध जाता है परवश हो जाता है ॥ ८१ ॥

आगे इच्छामात्रसे ही विना भोगा पाप बंध होता है यह कहते हैं;—

आहारणिमित्तं किर मच्छा गच्छंति सत्तमीं पुढविं।
सच्चित्तो आहारो ण कप्पदि मणसावि पत्थेदुं ॥ ८२ ॥

आहारनिमित्तं किल मत्स्या गच्छंति सप्तमीं पृथिवीं।
सचित्त आहारो न कल्प्यते मनसापि प्रार्थयितुम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—आगममें ऐसा कहा है कि आहारके कारण ही तंदुल मच्छ मनके दोषकर सातवें नरक जाता है इसलिये जीवघातसे उत्पन्न हुआ सचित्त आहार मनसे भी याचना करने योग्य नहीं है ॥ ८२ ॥

आगे आचार्य क्षपकको कहते हैं कि यदि सावद्य आहार

मनसे भी चिंतवन नहीं करने योग्य है तो तुझको शुद्धपरिणाम ही करना योग्य है;—

पुव्वं कदपरियम्मो अणिदाणो ईहिदूण मदिबुद्धी।
पच्छा मलिदकसाओ सज्जो मरणं पडिच्छाहि ॥८३॥

पूर्वं कृतपरिकर्मा अनिदानः ईहित्वा मतिबुद्धिभ्याम्।
पश्चात् मलितकषायः सद्यो मरणं प्रतीच्छ ॥ ८३ ॥

अर्थ—हे क्षपक पहले तपश्चरण करनेवाला तथा इस लोक परलोकके सुखकी वांछा रहित हुआ तू प्रत्यक्ष परोक्ष (अनुमान) ज्ञानसे आगमका निश्चय कर कषाय छोड़ता हुआ क्षमा सहित होके समाधिमरणका आचरण कर ॥ ८३ ॥

आगे आचार्य फिर भी क्षपकको शिक्षा देते हैं;—

इंदि चिरभाविदावि य जे पुरुसा मरणदेसयालम्मि।
पुव्वकदकम्मगरुयत्तणेण पच्छा परिवडंति ॥ ८४ ॥

जानीहि चिरभाविता अपि च ये पुरुषा मरणदेशकाले।
पूर्वकृतकर्मगुरुकत्वेन पश्चात् प्रतिपतंति ॥ ८४ ॥

अर्थ—हे क्षपक तू ऐसा समझ कि कुछ कम कोटि पूर्वकाल-तक भी जो तपश्चरण करते हैं—बहुत समयतक भावना भाते हैं वेभी पहिले किये पापकर्मके भारसे मरणसंबंधी देशकालमें पीछे गिर जाते हैं रत्नत्रयसे रहित होते हैं। इसलिये तू सावधान हो ॥ ८४ ॥

तम्हा चंदयवेज्झस्स कारणेण उज्जदेण पुरिसेण।
जीवो अविरहिदगुणो कादव्वो मोक्खमग्गम्मि ॥८५॥

तस्मात् चंद्रकवेध्यस्य कारणेन उद्यतेन पुरुषेण।

जीवो अविरहितगुणः कर्तव्यः मोक्षमार्गे ॥ ८५ ॥

अर्थ—हे क्षपक जैसे चंद्रकवेध्यके निमित्त उद्यमी हुआ पुरुष अपने गुणका नाश नहीं करता—सावधान रहता है उसी-तरह सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्षमार्गमें उद्यमी हुआ जीव अपना गुण नहीं नाश करता ऐसा निश्चय कर ॥ ८५ ॥

आगे चंद्रकवेध्यकर क्या किया उसे बतलाते हैं;—

कणयलदा णागलदा विज्जुलदा तहेव कुंदलदा ।
एदा विय तेण हदा मिथिलाणयरिए महिंदयत्तेण ८६
सायरगो बल्लहगो कुलदत्तो वड्ढमाणगो चेव ।
दिवसेणिक्केण हदा मिहिलाए महिंददत्तेण ॥ ८७ ॥

कनकलता नागलता विद्युल्लता तथैव कुंदलता ।
एता अपि च तेन हता मिथिलानगर्यां महेंद्रदत्तेन ॥८६॥
सागरको बल्लभकः कुलदत्तः वर्धमानकः चैव ।
दिवसेनैकेन हता मिथिलायां महेंद्रदत्तेन ॥ ८७ ॥

अर्थ—महेंद्रदत्तने मिथिलानगरीमें एक ही दिनमें कनकलता, नागलता, विद्युल्लता, कुंदलता स्त्रियोंको तथा सागरक, बल्लभक, कुलदत्त, वर्धमानक इन पुरुषोंको एक साथ ही मारा । इसलिये यतीको परमार्थ साधनमें समाधिमरणके समय यत्न करना चाहिये ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

आगे यत्न किये विना जैसे लौकिक कार्य विगड़ता है उसी तरह यतिओंकाभी परमार्थ विगड़ जाता है यह कहते हैं;—

जह णिज्जावयरहिया णावाओ वररदणसुपुण्णाओ ।
पट्टणमासण्णाओ खु पमादमूला णिबुड्डंति ॥ ८८ ॥

यथा निर्यापकरहिता नावो वररत्नसुपूर्णाः ।
पत्तनमासन्नाः खलु प्रमादमूला निब्रुडंति ॥ ८८ ॥

अर्थ—हे क्षपक जैसे श्रेष्ठरत्नोंकर भरा हुआ जहाज समुद्रके किनारे नगरके समीप भी पहुंच जाय परंतु प्रमादके कारण खेवटियासे रहित हुआ जहाज समुद्रमें डूब जाता है, उसीतरह सम्यग्दर्शनादिरत्नोंकर परिपूर्ण सिद्धिके समीपभूत संन्यासरूपी नगरको प्राप्त हुआ क्षपकरूपी जिहाज प्रमादके वश संन्यासके साधक आचार्योंसे रहित हुआ संसारसमुद्रमें डूबता है। इसलिये यत्न करना चाहिये ॥ ८८ ॥

कोई कहे कि अभ्रावकाशादि बाह्ययोग करनेकी योग्यता न होनेपर क्या करना उसका समाधान कहते हैं—

बाहिरजोगविरहिओ अब्भंतरजोगझाणमालीणो ।
जह तह्मि देसयाले अमूढसण्णो जहसु देहं ॥ ८९ ॥

बाह्ययोगविरहितः आभ्यंतरयोगध्यानमालीनः ।
यथा तस्मिन् देशकाले अमूढसंज्ञः जहीहि देहम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—हे क्षपक अभ्रावकाशादि बाह्ययोगोंसे रहित हुआ भी अभ्यंतरपरिणामोंमें एकाग्रचिंताके निरोधरूप ध्यानमें लीन हुआ संन्यासके देशकालमें आहारादि संज्ञा रहित होके शरीरका त्याग कर ॥ ८९ ॥

इसतरह शरीरके त्याग करनेसे क्या फल होता है उसे कहते हैं;—

हंतूण रागदोसे छेत्तूण य अट्ठकम्मसंकलियं ।
जम्मणमरणरहट्टं भेत्तूण भवाहिं मुच्चहिसि ॥ ९० ॥

हत्वा रागद्वेषौ छित्वा च अष्टकर्मशृंखलां ।
जन्ममरणारहट्टं भित्वा भवेभ्यो मोक्ष्यसे ॥ ९० ॥

अर्थ—प्रीति अप्रीतिको नष्टकर ज्ञानावरणादि आठकर्मरूपी सांकलको छेदकर जन्ममरणरूपी अर्हट घंटीयंत्रको भेदकर तू संसारसे छूट जायगा । इस संन्यासमरणका यही फल जानना॥९०॥

ऐसे आचार्योंका उपदेश सुनकर क्षपक विचारता है;—

सव्वमिदं उवदेसं जिणदिट्ठं सद्दहामि तिविहेण ।
तसथावरखेमकरं सारं णिव्वाणमग्गस्स ॥ ९१ ॥

सर्वमिमं उपदेशं जिनदृष्टं श्रद्दधे त्रिविधेन ।
त्रसस्थावरक्षेमकरं सारं निर्वाणमार्गस्य ॥ ९१ ॥

अर्थ—क्षपक कहता है कि सब यह उपदेश भगवान भाषित आगम है उसका मनवचनकायसे श्रद्धान (रुचि) करता हूं । वह आगम, दो इंद्रिय आदि पंच इंद्रियपर्यंत त्रस जीव तथा एकेंद्रिय आदि स्थावर जीव सबके कल्याणका करनेवाला है तथा मोक्षमार्गका सारभूत है । इसी आगमसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है ॥ ९१ ॥

जैसे उस समय द्वादशांगका श्रद्धान किया जाता है उसतरह समस्त श्रुतका चिंतवन नहीं किया जासकता ऐसा कहते हैं—

ण हि तम्मि देसयाले सक्को बारसविहो सुदक्खंधो ।
सव्वो अणुचिंतेदुं बलिणावि समत्थचित्तेण ॥ ९२ ॥

नहि तस्मिन् देशकाले शक्यः द्वादशविधः श्रुतस्कंधः ।
सर्वः अनुचिंतयितुं बलिना अपि समर्थचित्तेन ॥ ९२ ॥

अर्थ—हे क्षपक ! शरीरके परित्यागके समय बारह प्रकारका

संपूर्ण श्रुतस्कंध, शरीरबल मनोबल धारण करनेवाले यतियोंसे भी चिंतवन नहीं किया जासकता अर्थात् न तो अर्थका विचार बनसकता है और न पाठ ही होसकता है ॥ ९२ ॥

आगे कहते हैं कि ऐसा है तो क्या करना?;—

एक्कह्मि बिदियह्मि पदे संवेगो वीयरागमग्गम्मि ।
वज्जदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥ ९३ ॥

एकस्मिन् द्वितीये पदे संवेगो वीतरागमार्गे ।
व्रजति नरो अभीक्ष्णं तत् मरणांते न मोक्तव्यं ॥ ९३ ॥

अर्थ—हे क्षपक! जो सर्वज्ञकथित आगमके 'नमोर्हद्भ्यः' ऐसे एक पदमें तथा 'नमः सिद्धेभ्यः' ऐसा दूसरा पद अथवा अर्थपद ग्रंथपद प्रमाणपद पंचनमस्कारपद अथवा एक बीजपदमें भी जो संवेग (हर्ष) करता है वह उत्तमगति पाता है इसलिये कंठगत प्राण होनेपर भी पदका ध्यान नहीं छोडना चाहिये ॥ ९३ ॥

आगे पदके नहीं छोडनेका कारण बतलाते हैं;—

एदह्मादो एक्कं हि सिलोगं मरणदेसयालह्मि ।
आराहणउवजुत्तो चिंततो राधओ होदि ॥ ९४ ॥

एतस्मात् एकं हि श्लोकं मरणदेशकाले ।
आराधनोपयुक्तः चिंतयन् आराधको भवति ॥ ९४ ॥

अर्थ—हे क्षपक! जो इस श्रुतस्कंधसे अथवा पंचनमस्कारमंत्रसे एक भी श्लोक (पद) लेकर मरणके समय सम्यग्दर्शनादि आराधनाओं सहित चिंतवन करता है वह आराधक रत्न-

त्रयका स्वामी होता है । इसलिये तुझको जिनवचनका आश्रय नहीं छोडना चाहिये ॥ ९४ ॥

आगे मरणके समय पीडा हो तो कौनसी औषधि करना उसे कहते हैं;—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणवाहिवेयण खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥ ९५ ॥

जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनं अमृतभूतं ।
जरामरणव्याधिवेदनानां क्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ॥ ९५ ॥

अर्थ—यह जिनवचन ही औषध है । जो कि इंद्रिय जनित विषयसुखोंका विरेचन करनेवाली (दूर करनेवाली) है, अमृतस्वरूप है और जरा मरण व्याधि वेदना आदि सब दुःखोंका नाश करनेवाली है । **भावार्थ**—जैसे औषधि रोगोंको मिटा देती है उसीतरह जिनवाणी भी जन्ममरण आदि दुःखोंको मिटाके अमर पदको प्राप्त करदेती है । इसलिये अमृतऔषधि जिनवचन ही हैं ॥ ९५ ॥

आगे उस समय शरण क्या है यह बतलाते हैं;—

णाणं सरणं मेरं दंसणसरणं च चरियसरणं च ।
तव संजमं च सरणं भगवं सरणो महावीरो ॥ ९६ ॥

ज्ञानं शरणं मम दर्शनशरणं च चारित्रशरणं च ।
तपः संयमश्च शरणं भगवान् शरणो महावीरः ॥ ९६ ॥

अर्थ—हे क्षपक तुझे ऐसी भावना करनी चाहिये कि, मेरे यथार्थ ज्ञान ही . शरण (सहायक) है, प्रशम संवेग अनुकंपा आस्तिक्यकी प्रगटतारूप सम्यग्दर्शन ही शरण है, आस्रव बंधकी

निवृत्तिरूप चारित्र ही मेरे शरण है, बारहप्रकार तप और इंद्रिय प्राण संयम ही शरण है तथा अनंत ज्ञान सुखादि सहित श्री-महावीरस्वामी हितोपदेशी ही शरण हैं। इनके सिवाय अन्य कुदेवादिका शरण मेरे नहीं है ॥ ९६ ॥

आगे आराधनाके फलको कहते हैं;—

आराहण उवजुत्तो कालं काऊण सुविहिओ सम्मं ।
उक्कस्सं तिण्णि भवे गंतूण य लहइ णिव्वाणं ॥ ९७ ॥

आराधनोपयुक्तः कालं कृत्वा सुविहितः सम्यक् ।
उत्कृष्टं त्रीन् भवान् गत्वा च लभते निर्वाणम् ॥ ९७ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन आदि चार आराधनाकर उपयुक्त हुआ अतीचार रहित आचरणवाला जो मुनि वह अच्छीतरह मरणकर उत्कृष्ट तीन भव पाकर निर्वाण (मोक्ष) को पाता है ॥ ९७ ॥

ऐसा सुनकर क्षपक कारणपूर्वक परिणाम करनेका अभि-लाषी हुआ कहता है—

समणो मेत्ति य पढमं बिदियं सव्वत्थ संजदो मेत्ति ।
सव्वं च वोस्सरामि य एदं भणिदं समासेण ॥ ९८ ॥

श्रमणो मम इति च प्रथमः द्वितीयः सर्वत्र संयतो ममेति ।
सर्वं च व्युत्सृजामि च एतद् भणितं समासेन ॥ ९८ ॥

अर्थ—क्षपक विचारता है कि मैं प्रथम तो श्रमण अर्थात् समरसीभावकर सहित हूं और दूसरे सब भावोमें संयमी हूं इसकारण सब अयोग्य भावोंको छोडता हूं। इसतरह संक्षेपसे आलोचना कहा ॥ ९८ ॥

आगे फिर दृढ परिणामोंको दिखलाते हैं;—

लद्धं अलद्धपुव्वं जिणवयणसुभासिदं अमिदभूदं।
गहिदो सुग्गइमग्गो णाहं मरणस्स बीहेमि ॥ ९९ ॥

लब्धमलब्धपूर्वं जिनवचनसुभाषितं अमृतभूतं।
गृहीतः सुगतिमार्गः नाहं मरणाद्बिभेमि ॥ ९९ ॥

अर्थ—क्षपक विचारता है कि मैंने प्रमाणनयसे अविरुद्ध सुखका कारण, पूर्व नहीं पाया ऐसे जिनवचनको प्राप्त किया और मोक्षमार्ग भी ग्रहण किया। अब मैं मरणसे नहीं डरता ॥ **भावार्थ**—जबतक अज्ञान था तबतक यथार्थस्वरूप नहीं जाना इसलिये मरणका डर था, अब जिनवचनसे यथार्थ स्वरूपका ग्रहण हुआ मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति हुई तब मरणका भय जाता रहा ॥९९॥

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेणवि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिंवि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं १००

धीरेणापि मर्तव्यं निर्धैर्येणापि अवश्यं मर्तव्यं।
यदि द्वाभ्यामपि मर्तव्यं वरं हि धीरत्वेन मर्तव्यम् ॥१००॥

अर्थ—क्षपकविचारता है कि धीर (दृढचित्त) भी मरेगा और धैर्यरहित भी अवश्य मरेगा। यदि दोनों तरहसे ही मरना है तो धीर (क्लेशरहित) पनेसे ही मरना श्रेष्ठ है, कायरपनेसे पापबंध विशेष करता है इसलिये मरणसमय कायर नहीं होना चाहिये ॥ १०० ॥

सीलेणवि मरिदव्वं णिस्सीलेणवि अवश्य मरिदव्वं।
जइ दोहिंवि मरियव्वं वरं हु सीलत्तणेण मरियव्वं१०१

शीलेनापि मर्तव्यं निःशीलेनापि अवश्यं मर्तव्यम् ।
यदि द्वाभ्यामपि मर्तव्यं वरं हि शीलत्वेन मर्तव्यम् ॥१०१॥

अर्थ—जो शील (व्रतकी रक्षा) वाले हैं वे भी मरेंगे और जो भूखप्यास आदिकी पीड़ासे मरण होनेके भयसे व्रत शील छोड़ देते हैं वे भी काल आनेपर अवश्य मरेंगे । यदि दोनों तरह से ही मरना है तो शीलसहित ही मरना अच्छा है । व्रतशील छोड देनेसे पापबंध अधिक होगा मरना तो पड़ेगा ही ॥ १०१ ॥

इसलिये शीलसहित ही मरना श्रेष्ठ है ऐसा कहते हैं;—

चिरउसिदबंभयारी पप्फोडेदूण सेसयं कम्मं ।
अणुपुव्वीय विसुद्धो सुद्धो सिद्धिं गदिं जादि ॥१०२॥

चिरोषितब्रह्मचारी प्रस्फोट्य शेषं कर्म ।
आनुपूर्व्या विशुद्धः शुद्धः सिद्धिं गतिं याति ॥ १०२ ॥

अर्थ—जिसने बहुतकालतक ब्रह्मचर्यव्रत सेवन किया है ऐसा मुनि शेष ज्ञानावरणादि कर्मोंकी निर्जराकर क्रमसे अपूर्व अपूर्व विशुद्ध परिणामोंकर अथवा गुणस्थानके क्रमसे असंख्यातगुणश्रेणी निर्जराकर कर्मकलंकसे रहित हुआ केवलज्ञानादि शुद्ध भावोंकर युक्त होके परमस्थान मोक्षको प्राप्त होता है । ऐसे आराधनाका उपाय जानना ॥ १०२ ॥

आगे आराधकका स्वरूप कहते हैं;—

णिम्ममो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो ।
अणिदाणो दिठिसंपण्णो मरंतो आराहओ होइ ॥१०३॥

निर्ममः निरहंकारः निष्कषायः जितेंद्रियः धीरः ।
अनिदानः दृष्टिसंपन्नः म्रियमाण आराधको भवति ॥१०३॥

अर्थ—जो मरणकरनेवाला ऐसा हो-चेतन अचेतन परवस्तुमें ममता (मोह) नहीं हो, अभिमान रहित हो, क्रोधादिकषाय रहित हो, जितेंद्रिय हो अर्थात् विषयसुखोंसे उदासीन तथा अतींद्रियसुखमें लीन हो, पराक्रम सहित हो, शिथिल न हो, भोगोंकी वांछाकर रहित हो और सम्यग्दर्शनको अच्छी तरह प्राप्तहुआ हो। ऐसा जीव आराधक होसकता है ॥ १०३ ॥

आगे इसी बातको समर्थन करते हैं;—

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥ १०४ ॥

निष्कषायस्य दांतस्य शूरस्य व्यवसायिनः।
संसारभयभीतस्य प्रत्याख्यानं सुखं भवेत् ॥ १०४ ॥

अर्थ—ऐसे मुनिराजके आराधना सुखका निमित्त है-जोकि कषाय रहित हो, इंद्रियोंको वश करनेवाला हो, शूर हो कायर न हो, चारित्रमें उद्यमी-लीन हो और संसारके भयसे डरता हो चतुर्गतिके दुःखोंके स्वरूपको जानता हो। ऐसा मरण करनेवाला आराधनाका आराधक होसकता है ॥ १०४ ॥

अब कथनको संकोचते हुए आराधनाका फल कहते हैं;—

एदं पच्चक्खाणं जो काहदि मरणदेसयालम्मि।
धीरो अमूढसण्णो सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ॥ १०५ ॥

एतत् प्रत्याख्यानं यः कुर्यात् मरणदेशकाले।
धीरो अमूढसंज्ञः स गच्छति उत्तमं स्थानम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—जो मुनि मरणके देशकालमें धैर्य सहित, आहारादिसंज्ञामें अलुब्ध हुआ (आहारादिको नहीं चाहता हुआ) इस

प्रत्याख्यानको करता है वह मोक्षस्थानको प्राप्त होता है । आराधनाका फल निर्वाण है यह तात्पर्य जानना ॥ १०५ ॥

आगे अंतमंगलपूर्वक प्रार्थना करते हैं;—

वीरो जरमरणरिवू वीरो विण्णाणणाणसंपण्णो ।
लोगस्सुज्जोयपरो जिणवरचंदो दिसदु बोधिं ॥ १०६॥

वीरो जरामरणरिपुः वीरो विज्ञानज्ञानसंपन्नः ।
लोकस्य उद्योतकरो जिनवरचंद्रो दिशतु बोधिम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—बुढापा तथा मरणका शत्रु (दूर करनेवाला), विशेष लक्ष्मीका देनेवाला, चारित्र और ज्ञानकर सहित, भव्यजीवोंके मिथ्यात्व अंधकारको मिटाके ज्ञानरूप प्रकाशका करनेवाला और सामान्य केवलियोंमें प्रधान चंद्रमाके समान आनंद करनेवाला ऐसा महावीर प्रभु चौवीसवां तीर्थंकर हमें समाधिकी प्राप्ति करावे । इस प्रकार अंतमंगलकर क्षपकको समाधिकी प्राप्तिके कारण महावीर स्वामीका स्मरण दिखलाया ॥ १०६ ॥

आगे निदान नहीं करना और ऐसा भाव करना यह कहते हैं;—

जा गदी अरिहंताणं णिट्ठिदट्ठाण जा गदी ।
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥ १०७ ॥

या गतिः अर्हतां निष्ठितार्थानां या गतिः ।
या गतिः वीतमोहानां सा मे भवतु शश्वत् ॥ १०७ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि मैं ऐसी याचना करता हूं कि जो गति अर्हंतोंकी है, जो कृतकृत्य सिद्ध परमेष्ठियोंकी है और जो गति क्षीणकषाय छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) वीतरागोंकी है वही

गति हमेशा मेरी भी होवे (रहे)। मैं दूसरी कोई अभिलाषा व याचना नहीं करता। भोगकी अभिलाषाका नाम निदान है इसलिये यहां निदान नहीं हुआ ॥ १०७ ॥ इसतरह अधिकार समाप्त हुआ।

इसप्रकार आचार्यश्रीवट्टकेरिविरचित **मूलाचारकी** भाषाटीकामें **बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तव** अधिकार समाप्त हुआ ॥ २ ॥

संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकार ॥ ३ ॥

आगे अकस्मात् सिंहादिके निमित्तसे मरण आजाय तो क्या करना उसके लिये यह संक्षेप प्रत्याख्यान अधिकार कहते हैं उसमें भी पहले मंगलाचरण करते हैं;—

एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेसिं १०८

एषः करोमि प्रणामं जिनवरवृषभस्य वर्धमानस्य।
शेषाणां च जिनानां सगणगणधराणां च सर्वेषाम् ॥१०८॥

अर्थ—यह मैं स्वसंवेदन प्रत्यक्ष वट्टकेराचार्य मुनिराजोंमें श्रेष्ठ श्रीमहावीरस्वामीको, तथा यति मुनि ऋषि अनगार ऐसे चार प्रकारके संघसहित गौतमस्वामीको आदिलेकर सब गणधरोंको और शेष वृषभादि पार्श्वनाथ तीर्थंकरोंको आदिलेकर अन्य केवलियोंको नमस्कार करता हूं ॥ **भावार्थ**—सब पंच परमेष्ठियोंको नमस्कार करता हूं ॥ १०८ ॥

आगे संक्षेप प्रत्याख्यान करनेका क्रम बतलाते हैं;—

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च ।
सव्वमदत्तादाणं मेहुण्ण परिग्गहं चेव ॥ १०९ ॥

सर्वं प्राणारंभं प्रत्याख्यामि अलीकवचनं च ।
सर्वमदत्तादानं मैथुनं परिग्रहं चैव ॥ १०९ ॥

अर्थ—संक्षेपतर प्रत्याख्यान करनेवाला ऐसे प्रतिज्ञा करता है कि पहले तो मैं सब हिंसाका, झूठ बोलनेका, चोरीका; मैथुनका तथा सब आभ्यंतर बाह्य परिग्रहका प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूं । **भावार्थ**—प्रथम तो महाव्रतोंकी शुद्धि करनी चाहिये ॥ १०९ ॥

आगे सामायिकव्रतके स्वरूपका वर्णन करते हैं;—

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसाए वोसरित्ताणं समाधिं पडिवज्जइ ॥ ११० ॥

साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनापि ।
आशाः व्युत्सृज्य समाधिं प्रतिपद्ये ॥ ११० ॥

अर्थ—मेरे सब जीवोंमें समभाव हैं, मेरा किसीके साथ वैर नहीं है । इसलिये मैं सब आकांक्षाओंको छोड़ समाधि (शुद्ध) परिणामको प्राप्त होता हूं ॥ **भावार्थ**—सब जीवोंमें समभाव रखना, वैरभाव किसीके ऊपर न रखना, सब आशाओंको छोड़ना और समाधिभावको प्राप्त होना–इसीका नाम सामायिक है ॥ ११० ॥

आगे परिणाम शुद्धिके लिये फिर भी कहते हैं;—

सव्वं आहारविहिं सण्णाओ आसए कसाए य ।

सव्वं चेय ममत्तिं जहामि सव्वं ग्वमावेमि ॥ १११ ॥

सर्वं आहारविधिं संज्ञा आशाः कषायाश्च ।
सर्वं चैव ममत्वं त्यजामि सर्वं क्षमयामि ॥ १११ ॥

अर्थ—मैं सब अन्नपानादि आहारकी विधिको, आहारादि-वांछाओंको, इसलोक परलोककी सब वांछाओंको, क्रोध आदि कषायोंको, और सब चेतन अचेतन बाह्यपरिग्रहमें ममताको छोडता हूं । इसतरह परिणामोंको शुद्ध करना चाहिये ॥१११॥

एदम्हि देसयाले उवक्कमो जीविदस्स जदि मज्झं ।
एदं पच्चक्खाणं णित्थिण्णे पारणा होज्जं ॥ ११२ ॥

एतस्मिन् देशकाले उपक्रमो जीवितस्य यदि मम ।
एतत् प्रत्याख्यानं निस्तीर्णे पारणा भवेत् ॥ ११२ ॥

अर्थ—जीवितमें संदेह होनेकी अवस्थामें ऐसा विचार करे कि इस देशमें इस कालमें मेरा जीनेका सद्भाव (अस्तित्व) रहेगा तो ऐसा त्याग है कि जबतक उपसर्ग रहेगा तबतक आहारादिका त्याग है उपसर्ग दूर होनेके बाद यदि जीवित रहा तो फिर पारणा (भोजन) करूंगा ॥ ११२ ॥

जहां निश्चय होजाय कि इस उपसर्गादिमें मैं नहीं जीसकूंगा वहां ऐसा त्याग करे;—

सव्वं आहारविहिं पच्चक्खामी य पाणयं वज्ज ।
उवहिं च वोसरामिय दुविहं तिविहेण सावज्जं॥११३॥

सर्वं आहारविधिं प्रत्याख्यामि च पानकं वर्जयित्वा ।
उपधिं च व्युत्सृजामि द्विविधं त्रिविधेन सावद्यम् ॥ ११३ ॥

अर्थ—मैं जलको छोड़ सब (तीन) तरहके आहारोंको त्यागता

हूं । बाह्य आभ्यंतर दो प्रकारके परिग्रहको तथा मन वचन कायकी पापक्रियाओंको छोडता हूं ॥ ११३ ॥

आगे उत्तमार्थ त्यागको कहते हैं;—

जो कोइ मज्झ उवधी सब्भंतरबाहिरो य हवे ।
आहारं च सरीरं जावाजीवं य वोसरे ॥ ११४ ॥

यः कश्चित् मम उपधिः साभ्यंतरबाह्यश्च भवेत् ॥
आहारं च शरीरं यावज्जीवं च व्युत्सृजामि ॥ ११४ ॥

अर्थ—जो कुछ मेरे आभ्यंतर बाह्य परिग्रह है उसे तथा चारों प्रकारके आहारोंको और अपने शरीरको जबतक जीवन है तब-तक छोड़ता हूं । यही उत्तमार्थ त्याग है ॥ ११४ ॥

आगे आगमकी महिमा देखकर जिसको हर्ष हुआ है ऐसा क्षपक इसप्रकार नमस्कार करता है;—

जम्हिय लीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं ।
तं सव्वजीवसरणं णंदउ जिणसासणं सुइरं ॥ ११५ ॥

यस्मिन् लीना जीवाः तरंति संसारसागरं अनंतं ।
तत् सर्वजीवशरणं नंदतु जिनशासनं सुचिरं ॥ ११५ ॥

अर्थ—जिस जिनशास्त्रमें लीन हुए जीव अपार पंचपरावर्तनरूपसंसार–समुद्रको तर जाते हैं ऐसा सब जीवोंका सहायक केवलीश्रुतकेवलीकथित आगम सबकाल वृद्धिको प्राप्त होवो ॥ **भावार्थ**–जिसके अनुष्ठानसे भोग और मुक्ति मिले वही नमस्कार करने योग्य होता है ॥ ११५ ॥

आगे आराधनाके फलके लिये कहते हैं;—

जा गदी अरिहंताणं णिट्ठिदट्ठाण जा गदी ।

जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सव्वदा ॥ ११६ ॥

या गतिः अर्हतां निष्ठितार्थानां या गतिः ।

या गतिः वीतमोहानां सा मे भवतु सर्वदा ॥ ११६ ॥

अर्थ—जो अरहंतोंकी गति है, जो सिद्धोंकी गति है, जो वीतरागछद्मस्थोंकी गति है वही गति सर्वदा (हमेशा) मेरी भी हो । यही आराधनाका फल चाहता हूं अन्य नहीं ॥ ११६ ॥

आगे उत्तमार्थ त्यागका फल कहते हैं;—

एगं पंडियमरणं छिंददि जादीसदाणि बहुगाणि ।

तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥ ११७ ॥

एकं पंडितमरणं छिनत्ति जातिशतानि बहूनि ।

तन्मरणेन मर्तव्यं येन मृतं सुमृतं भवति ॥ ११७ ॥

अर्थ—एक भी पंडितमरण सैकडों जन्मोंका छेदनेवाला है, इसलिये ऐसा मरण करना चाहिये जिससे कि मरना अच्छा मरण कहलावे अर्थात् फिर जन्म नहीं धारण करना पडे ॥११७॥

आगे मरणकालमें समाधिधारणका फल कहते हैं;—

एगम्हिय भवगहणे समाहिमरणं लहिज्ज जदि जीवो ।

सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि ॥ ११८ ॥

एकस्मिन् भवग्रहणे समाधिमरणं लभते यदि जीवः ।

सप्ताष्टभवग्रहणे निर्वाणमनुत्तरं लभते ॥ ११८ ॥

अर्थ—जो यह जीव एक ही पर्यायमें संन्यास मरणको प्राप्त हो जाय तो सात आठ पर्यायें वीत जानेपर अवश्य मोक्षको पाता है ॥ ११८ ॥ यहां भावलिंगीकेलिये ही कहागया है ।

आगे शरीरके होनेसे ही जन्ममरणादि दुःख होते हैं

इसलिये समाधि मरणकर इस शरीरका त्याग करना ऐसा कहते हैं;—

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं।
जम्मणमरणादंकं छिंदि ममत्तिं सरीरादो ॥ ११९ ॥

नास्ति भयं मरणसमं जन्मसमं न विद्यते दुःखं।
जन्ममरणातंकं छिंधि ममत्वं शरीरतः ॥ ११९ ॥

अर्थ—इस जीवके मृत्युके समान अन्य कोई भय नहीं है और जन्मके समान कोई दुःख नहीं है इसलिये जन्ममरणरूप महान् रोगको छेद डाल। उस रोगका मूलकारण शरीरमें ममता करना है। इसलिये संन्यासविधिकर ममता छोड़नेसे जन्ममरण-रूप महान रोग मिट जाता है ॥ ११९ ॥

आगे आराधनामें कहे हुए तीन प्रतिक्रमण इस संक्षेपकालमें ही संभवते हैं ऐसा कहते हैं;—

पढमं सव्वदिचारं बिदियं तिविहं हवे पडिक्कमणं।
पाणस्स परिच्चयणं जावज्जीवुत्तमट्ठं च ॥ १२० ॥

प्रथमं सर्वातिचारं द्वितीयं त्रिविधं भवेत् प्रतिक्रमणं।
पानस्य परित्यजनं यावज्जीवमुत्तमार्थं च ॥ १२० ॥

अर्थ—पहला तो सर्वातीचार प्रतिक्रमण है अर्थात् दीक्षा-ग्रहणसे लेकर सब तपश्चरणके कालतक जो दोष लगे हों उनकी शुद्धि करना, दूसरा त्रिविध प्रतिक्रमण है वह जलके विना तीन-प्रकारके आहारका त्याग करनेमें जो अतीचार लगे थे उनका शोधन करना और तीसरा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है उसमें जीवन-

पर्यंत जलपीनेका त्याग कियाथा उसके दोषोंकी शुद्धि करना है। यही प्रतिक्रमण मोक्षका कारण है ॥ १२० ॥

आगे योग इंद्रिय शरीर कषाय हस्त पाद इनका भी प्रतिक्रमण कहागया है;—

पंचवि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा।
तणुमुंडेण य सहिया दस मुंडा वण्णिदा समए ॥१२१

पंचापि इंद्रियमुंडा वाग्मुंडो हस्तपादमनोमुंडाः।
तनुमुंडेन च सहिता दश मुंडा वर्णिता समये ॥ १२१ ॥

अर्थ—पांचों इंद्रियोंका मुंडन अर्थात् अपने २ विषयोंमें व्यापारका छुडाना, जैसे स्पर्शमें व्यापारका रोकना स्पर्शनेंद्रिय मुंड है इत्यादि; विना अवसर विना प्रयोजन वचन नहीं बोलना वह वचन मुंड, हाथकी कुचेष्टा नहीं करना वह हस्तमुंड, पैरोंको बुरीतरह संकोच व फैलानेरूप न करना वह पादमुंड, मनमें खोटा चिंतवन नहीं करना वह मनोमुंड और शरीरकी कुचेष्टा नहीं करना वह शरीरमुंड है—इसप्रकार दश मुंड जिनागममें वर्णन किये गये हैं ॥ १२१ ॥

इसप्रकार आचार्यश्रीवट्टकेरिविरचित **मूलाचार**की भाषाटीकामें **संक्षेपतरप्रत्याख्यान**नामा तीसराअधिकार समाप्तहुआ ॥ ३ ॥

समाचाराधिकार ॥ ४ ॥

आगे आयु बल रहनेपर जिसके अतीचाररहित मूलगुणोंका निर्वाह होता है उसकी प्रवृत्ति बतलानेके चौथा समाचार नामा अधिकार नमस्कारपूर्वक कहते हैं;—

तेलोक्कपुज्जणीए अरहंते वंदिऊण तिविहेण।
वोच्छं सामाचारं समासदो आणुपुव्वीए ॥ १२२ ॥

त्रिलोकपूजनीयान् अर्हतः वंदित्वा त्रिविधेन।
वक्ष्ये सामाचारं समासत आनुपूर्व्या ॥ १२२ ॥

अर्थ—भवनवासीअसुर मनुष्य देव—इन तीनोंकर वंदने योग्य ऐसे अर्हंत भगवानको मनवचनकायसे वंदनाकर मैं (वट्टकेरि) संक्षेपसे पूर्व अनुक्रमकर समाचार अधिकार कहूंगा ॥ १२२ ॥

आगे समाचार शब्दकी चारप्रकारसे निरुक्ति कहते हैं;—

समदा सामाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं हि समाणं सामाचारो दु आचारो ॥ १२३ ॥

समता समाचारः सम्यगाचारः समो वा आचारः।
सर्वेषां हि समानां समाचारस्तु आचारः ॥ १२३ ॥

अर्थ—राग द्वेषके अभावरूप समताभाव है वह समाचार है, अथवा सम्यक् अर्थात् अतीचार रहित जो मूलगुणोंका अनुष्ठान—आचरण वह समाचार है, अथवा प्रमत्तादि समस्त मुनियोंका समान अहिंसादिरूप आचार वह समाचार है, अथवा सब क्षेत्रोंमें हानिवृद्धिरहित कायोत्सर्गादिकर सदृश परिणामरूप आचरण वह समाचार है ॥ १२३ ॥

अब समाचारके भेद कहते हैं;—

दुविहो सामाचारो ओघोविय पदविभागिओ चेव।
दसहा ओघो भणिओ अणेगहा पदविभागी य १२४

द्विविध समाचार औधिकः पदविभागिकश्चैव।
दशधा औधिको भणित अनेकधा पदविभागी च ॥१२४॥

अर्थ—समाचार अर्थात् सम्यक् आचरण दोही प्रकार है—औधिक, पदविभागिक। औधिकके दश भेद हैं और पदविभागिक समाचार अनेक तरहका है ॥ १२४ ॥

औधिक समाचारके दश भेद कहते हैं;—

इच्छामिच्छाकारो तधाकारो य आसिआ णिसिही।
आपुच्छा पडिपुच्छा छंदण सणिमंतणा य उपसंपा १२५

इच्छामिथ्याकारौ तथाकारः च आसिका निषेधिका।
आपृच्छा प्रतिपृच्छा छंदनं सनिमंत्रणा च उपसंपत् ॥१२५

अर्थ—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छंदन, सनिमंत्रणा और उपसंपत्—इसतरह ये औधिक समाचारके दशभेद हैं ॥ १२५ ॥

आगे इनका विषय तीन गाथाओंमें कहते हैं;—

इट्ठे इच्छाकारो मिच्छाकारो तहेव अवराधे।
पुडिसुणणह्मि तहत्ति य णिग्गमणे आसिया भणिया॥
पविसंते अ णिसीही आपुच्छणिया सकज्जआरंभे।
साधम्मिणा य गुरुणा पुव्वणिसिट्ठह्मि पडिपुच्छा १२७
छंदण गहिदे दव्वे अगिहददव्वे णिमंतणा भणिदा।
तुह्ममहत्ति गुरुकुले आदणिसग्गो दु उवसंपा॥ १२८

इष्टे इच्छाकारो मिथ्याकारः तथैव अपराधे ।
प्रतिश्रवणे तथेति च निर्गमने आसिका भणिता ॥१२६ ॥
प्रविशति च निषेधिका आपृच्छनीयं स्वकार्यारंभे ।
सधर्मणा च गुरुणा पूर्वनिसृष्टे प्रतिपृच्छा ॥ १२७ ॥
छंदनं गृहीते द्रव्ये अगृहीतद्रव्ये निमंत्रणा भणिता ।
युष्माकं अहमिति गुरुकुले आत्मनिसर्गस्तु उपसंपत् ॥१२८

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि शुद्धपरिणाम वा व्रतादिक शुभपरिणामोंमें हर्ष होना अपनी इच्छासे प्रवर्तना वह इच्छाकार है। व्रतादिमें अतीचार होनेरूप अशुभ परिणामोंमें काय वचन मनकी निवृत्ति करना मिथ्याशब्द कहना वह मिथ्याकार है। सूत्रके अर्थ ग्रहण करनेमें जैसा आप्तने कहा है वैसे ही है इसप्रकार प्रीतिसहित 'तथेति' कहना वह तथाकार है। रहनेकी जगहसे निकलते समय देवता गृहस्थ आदिसे पूछकर गमन करना अथवा पापक्रियादिकसे मनको रोकना वह आसिका है। नवीन स्थानमें प्रवेश करते (घुसते) समय वहांके रहनेवालोंको पूछकर प्रवेश करना अथवा सम्यग्दर्शनादिमें स्थिरभाव वह निषेधिका है। अपने पठनादि कार्यके आरंभ करनेमें गुरु आदिकको वंदनापूर्वक प्रश्न करना वह आपृच्छा है। समान धर्मवाले साधर्मी तथा दीक्षागुरु आदि गुरु इन दोनोंसे पहले दिये हुए पुस्तकादि उपकरणोंको फिर लेनेके अभिप्रायसे पूछना वह प्रतिपृच्छा है। ग्रहण किये पुस्तकादि उपकर्णोंको देनेवालेके अभिप्रायके अनुकूल रखना वह छंदन है। तथा नहीं लिये हुए अन्य द्रव्यको प्रयोजनके लिये सत्कार पूर्वक याचना अथवा विनयसे रखना वह निमंत्रणा है।

और गुरुकुलमें (आम्नायमें) मैं आपका हूं ऐसा कहकर उनके अनुकूल आचरण करना वह उपसंपत् है । ऐसे दश प्रकार औघिक समाचार कहा ॥ १२६।१२७।१२८ ॥

अब पदविभागिक समाचार कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

ओघियसामाचारो एसो भणिदो हु दसविहो णेओ ।
एत्तो य पदविभागी समासदो वण्णइस्सामि ॥१२९॥

औघिकसमाचारः एषः भणितः हि दशविधो ज्ञेयः ।
इतश्च पदविभागी समासतः वर्णयिष्यामि ॥ १२९ ॥

अर्थ—यह औघिकसमाचार संक्षेपसे दशप्रकार कहा हुआ जानना, अब पदविभागी समाचारको संक्षेपसे कहूंगा ॥ १२९ ॥

उग्गमसूरप्पहुदी समणाहोरत्तमंडले कसिणे ।
जं अचरंति सददं एसो भणिदो पदविभागी ॥१३०॥

उद्गमसूरप्रभृतौ श्रमणा अहोरात्रमंडले कृत्स्ने ।
यदाचरंति सततं एप भणितः पदविभागी ॥ १३० ॥

अर्थ—जिस समय सूर्य उदय होता है वहांसे लेकर समस्त दिनरातकी परिपाटीमें मुनिमहाराज नियमादिकोंको निरंतर आचरण करें सो यह प्रत्यक्षरूप पदविभागी समाचार जिनेंद्रदेवने कहा है ॥ १३० ॥

आगे औघिकके दश भेदोंका स्वरूप कहते हुए इच्छाकारको कहते हैं;—

संजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे ।
जोगग्गहणादीसु अ इच्छाकारो दु कादव्वो ॥१३१॥

संयमज्ञानोपकरणे अन्योपकरणे च याचने अन्ये ।

योगग्रहणादिषु च इच्छाकारस्तु कर्तव्यः ॥ १३१ ॥

अर्थ—संयमके पीछी आदि उपकरणोंमें तथा श्रुतज्ञानके पुस्तक आदि उपकरणोंमें और अन्य भी तप आदिके कमंडल आहारादि उपकरणोंमें, औषधादिमें, उष्णकालादिमें आतापन आदि योगोंमें इच्छाकार करना अर्थात् मनको ही प्रवर्ताना॥१३१॥

आगे मिथ्याकारका स्वरूप कहते हैं;—

जं दुक्कडं तु मिच्छा तं णेच्छदि दुक्कडं पुणो कादुं ।
भावेण य पडिकंतो तस्स भवे दुक्कडे मिच्छा ॥१३२॥

यत् दुष्कृतं तु मिथ्या तत् नेच्छति दुष्कृतं पुनः कर्तुं ।
भावेन च प्रतिक्रांतः तस्य भवेत् दुष्कृते मिथ्या ॥१३२॥

अर्थ—जो व्रतादिकमें अतीचाररूप पाप मैंने किया हो वह मिथ्या होवे ऐसे मिथ्या किये हुए पापको फिर करनेकी इच्छा नहीं करता और मनरूप अंतरंग भावसे प्रतिक्रमण करता है उसीके दुष्कृतमें मिथ्याकार होता है ॥ १३२ ॥

आगे तथाकारका स्वरूप कहते हैं;—

वायणपडिच्छणाए उवदेसे सुत्तअत्थकहणाए ।
अवितहमेदत्ति पुणो पडिच्छणाए तधाकारो ॥१३३॥

वाचनाप्रतिच्छायायामुपदेशे सूत्रार्थकथने ।
अवितथमेतदिति पुनः प्रतीच्छायायां तथाकारः ॥१३३॥

अर्थ—जीवादिकके व्याख्यानका सुनना, सिद्धांतका श्रवण, परंपरासे चला आया मंत्रतंत्रादिका उपदेश और सूत्रादिका अर्थ—इनमें जो अर्हंत देवने कहा है सो सत्य है ऐसा समझना वह तथाकार है ॥ १३३ ॥

आगे निषेधिका व आसिकाको कहते हैं;—

कंदरपुलिणगुहादिसु पवेसकाले णिसिद्धिअं कुज्जा ।
तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ॥ १३४ ॥

कंदरपुलिनगुफादिषु प्रवेशकाले निषेधिकां कुर्यात् ।
तेभ्यो निर्गमने तथा आसिका भवति कर्तव्या ॥ १३४ ॥

अर्थ—जलकर विदारे हुए प्रदेशरूप कंदर, जलके मध्यमें जलरहित प्रदेशरूप पुलिन, पर्वतके पसवाडेके छेदरूप गुफा इत्यादि निर्जंतुक स्थानोंमें प्रवेश करनेके समय निषेधिका करे। और निकलनेके समय आसिका करे ॥ १३४ ॥

आगे प्रश्न कैसे स्थानपर करना उसे कहते हैं;—

आदावणादिगहणे सण्णा उब्भामगादिगमणे वा ।
विणयेणायरियादिसु आपुच्छा होदि कायव्वा॥१३५॥

आतापनादिग्रहणे संज्ञायां उद्भामकादिगमने वा ।
विनयेनाचार्यादिषु आपृच्छा भवति कर्तव्या ॥ १३५ ॥

अर्थ—व्रतपूर्वक उष्णका सहनारूप आतापनादि ग्रहणमें, आहारादिकी इच्छामें तथा अन्य ग्रामादिकको जानेमें नमस्कार पूर्वक आचार्यादिकोंको पूछना उनके कहे अनुसार करना वह आपृच्छा है ॥ १३५ ॥

आगे प्रतिपृच्छाको कहते हैं;—

जं किंचि महाकज्जं करणीयं पुच्छिऊण गुरुआदि ।
पुणरवि पुच्छदि साधुं तं जाणसु होदि पडिपुच्छा१३६

यत् किंचित् महाकार्यं करणीयं पृष्ट्वा गुर्वादीन् ।
पुनरपि पृच्छति साधून् तत् जानीहि भवति प्रतिपृच्छा१३६

अर्थ—जो कुछ महान् कार्य हो वह गुरु प्रवर्तक स्थविरादिकसे पूछकर करना चाहिये उसकार्यके करनेलिये दूसरीवार उनसे तथा अन्य साधर्मी साधुओंसे पूछना वह प्रतिपृच्छा है ऐसा जानना ॥ १३६ ॥

आगे छंदनको कहते हैं;—

गहिदुवकरणे विणए वंदणसुत्तत्थपुच्छणादीसु ।
गणधरवसभादीणं अणुवुत्तिं छंदणिच्छाए ॥ १३७ ॥

गृहीतोपकरणे विनये वंदनासूत्रार्थप्रश्नादिषु ।
गणधरवृषभादीनामनुवृत्तिः छंदनमिच्छया ॥ १३७ ॥

अर्थ—आचार्यादिकोंकर दिये गये पुस्तकादिक उपकरणोंमें, विनयके कालमें, वंदना-सूत्रके अर्थको पूछना इत्यादिकमें आचार्यादिकोंकी इच्छाके अनुकूल आचारण वह छंदन है॥१३७॥

आगे नौमे निमंत्रणा सूत्रको कहते हैं;—

गुरुसाहम्मियदव्वं पोत्थयमण्णं च गेण्हिदुं इच्छे ।
तेसिं विणयेण पुणो णिमंतणा होइ कायव्वा ॥१३८॥

गुरुसाधर्मिकद्रव्यं पुस्तकमन्यच्च गृहीतुं इच्छेत् ।
तेषां विनयेन पुनर्निमंत्रणा भवति कर्तव्या ॥ १३८ ॥

अर्थ—गुरु अथवा साधर्मीके पुस्तक व कमंडलु आदि द्रव्यको लेना चाहे तो उनसे नम्रीभूत होकर याचना करे । उसे निमंत्रणा कहते हैं ॥ १३८ ॥

अब उपसंपत्के भेद कहते हैं;—

उवसंपया य णेया पंचविहा जिणवरेंहि णिद्दिट्ठा ।
विणए खेत्ते मग्गे सुहदुक्खे चेय सुत्ते य ॥ १३९ ॥

उपसंपत् च ज्ञेया पंचविधा जिनवरैः निर्दिष्टा ।
विनये क्षेत्रे मार्गे सुखदुःखे चैव सूत्रे च ॥ १३९ ॥

अर्थ—गुरुजनोंके लिये मैं आपका हूं ऐसा आत्मसमर्पण वह उपसंपत् है । उसको पांचप्रकार विनयमें, क्षेत्रमें, मार्गमें, सुख दुःखमें, और सूत्रमें करना चाहिये ॥ १३९ ॥

आगे प्रथम विनयमें उपसंपत्को कहते हैं;—

पाहुणविणउवचारो तेसिं चावास भूमिसंपुच्छा ।
दाणाणुवत्तणादी विणये उवसंपया णेया ॥ १४० ॥

प्राघूर्णिकविनयोपचारौ तेषां चावासभूमिसंपृच्छा ।
दानानुवर्तनादयः विनये उपसंपत् ज्ञेया ॥ १४० ॥

अर्थ—अन्यसंघके आये हुए मुनियोंका अंगमर्दन प्रियवचनरूप विनय करना, आसनादिपर बैठाना इत्यादि उपचार करना, गुरुके विराजनेका स्थान पूछना, आगमनका रास्ता पूछना, संस्तर पुस्तक आदि उपकरणोंका देना और उनके अनुकूल आचरणादिक करना वह विनयोपसंपत् है ॥ १४० ॥

आगे क्षेत्रोपसंपत्को कहते हैं;—

संजमतवगुणसीला जमणियमादी य जह्मि खेत्तह्मि ।
वड्ढंति तह्मि वासो खेत्ते उवसंपया णेया ॥ १४१ ॥

संयमतपोगुणशीला यमनियमादयश्च यस्मिन् क्षेत्रे ।
वर्धंते तस्मिन् वासः क्षेत्रे उपसंपत् ज्ञेया ॥ १४१ ॥

अर्थ—संयम तप उपशमादि गुण व व्रतरक्षारूप शील तथा जीवनपर्यंत त्यागरूप यम, कालके नियमसे त्याग करनेरूप नियम

इत्यादिक जिस स्थानमें रहनेसे वढें उत्कृष्ट हों उस क्षेत्रमें रहना वह क्षेत्रोपसंपत् है ॥ १४१ ॥

आगे मार्गोपसंपत्को कहते हैं;—

पाहुणवत्थव्वाणं अण्णोण्णागमणगमणसुहपुच्छा ।
उवसंपदा य मग्गे संजमतवणाणजोगजुत्ताणं १४२

पादोष्णवास्तव्यानामन्योन्यागमनगमनसुखप्रश्नः ।
उपसंपत् च मार्गे संयमतपोज्ञानयोगयुक्तानाम् ॥ १४२ ॥

अर्थ—अन्य संघके आये हुए मुनि तथा अपने स्थानमें रहनेवाले मुनियोंसे आपसमें आने जानेके विषयमें कुशलका पूछना कि ' आनंदसे आये व सुखसे पहुंचे ' इसतरह पूछना वह संयमतपज्ञानयोग–गुणोंकर सहित मुनिराजोंके मार्गोपसंपत् होता है ॥ १४२ ॥

आगे सुखदुःखोपसंपत्को कहते हैं;—

सुहदुक्खे उवयारो वसहीआहारभेसजादीहिं ।
तुह्मं अहंति वयणं सुहदुक्खुवसंपया णेया ॥ १४३ ॥

सुखदुःखयोः उपचारो वसतिआहारभेषजादिभिः ।
युष्माकं अहं इति वचनं सुखदुःखोपसंपत् ज्ञेया ॥ १४३ ॥

अर्थ—सुख दुःख युक्त पुरुषोंको वसतिका आहार औषधि आदिकर उपकार (सुखी) करना अर्थात् शिष्यादिका लाभ होनेपर कमंडलु आदि देना व्याधिकर पीडित हुए को सुखरूप सोनेका स्थान बैठनेका स्थान बताना, औषध अन्नपान मिलनेका प्रकार बताना अंग मलना तथा मैं आपका हूं आप आज्ञा करें

वह करूं मेरे पुस्तक शिष्यादि आपके ही हैं ऐसा वचन कहना वह सुखदुःखोपसंपत् है ॥ १४३ ॥

आगे सूत्रोपसंपत्का स्वरूप कहते हैं;—

उवसंपया य सुत्ते तिविहा सुत्तत्थतदुभया चेव ।
एक्केक्का वि य तिविहा लोइय वेदे तहा समये ॥१४४॥

उपसंपत् च सूत्रे त्रिविधा सूत्रार्थतदुभया चैव ।
एकैकापि च त्रिविधा लौकिके वेदे तथा समये ॥ १४४॥

अर्थ—सूत्रोपसंपत्के तीन भेद हैं सूत्र अर्थ तदुभय । सूत्रके लिये यत्नकरना सूत्रोपसंपत्, अर्थके लिये यत्न अर्थोपसंपत्, दोनोंके लिये यत्नकरना वह सूत्रार्थोपसंपत् है । वह एक एक भी तीन तरह है—लौकिक वैदिक सामायिक । इसप्रकार नौ भेद हैं ॥ व्याकरण गणित आदि लौकिक शास्त्र हैं, सिद्धांत शास्त्र वैदिक कहे जाते हैं, स्याद्वादन्यायशास्त्र व अध्यात्मशास्त्र सामायिक शास्त्र जानना ॥ १४४ ॥

आगे पदविभागिक समाचारको कहते हैं;—

कोई सव्वसमत्थो सगुरुसुदं सव्व आगमित्ताण ।
विणएणुवक्कमित्ता पुच्छइ सगुरुं पयत्तेण ॥ १४५ ॥

कश्चित् सर्वसमर्थः स्वगुरुश्रुतं सर्वमवगम्य ।
विनयेनोपक्रम्य पृच्छति स्वगुरुं प्रयत्नेन ॥ १४५ ॥

अर्थ—वीर्य धैर्य विद्याबल उत्साह आदिसे समर्थ कोई मुनिराज अपने गुरुसे सीखे हुए सब शास्त्रोंको जानकर मनवचनकायसे विनय सहित प्रणाम करके प्रमादरहित हुआ पूछे—आज्ञा मागे वह पदविभागिक समाचार है ॥ १४५ ॥

गुरुको कैसे पूछे यह कहते हैं;—

तुज्झं पादपसाएण अण्णमिच्छामि गंतुमायदणं ।
तिण्णि व पंच व छा वा पुच्छाओ एत्थ सो कुणइ १४६

युष्माकं पादप्रसादेन अन्यदिच्छामि गंतुमायतनम् ।
तिस्रः वा पंच वा षट् वा पृच्छाः अत्र स करोति॥१४६॥

अर्थ—हे गुरो मैं तुम्हारे चरणोंके प्रसादसे सब शास्त्रोंके पारगामी अन्य आचार्यके प्रति जाना चाहता हूं । इस अवसरपर तीन वा पंच वा छह वार तक पूछना चाहिये ऐसा करनेसे उत्साह और विनय मालूम होता है ॥ १४६ ॥

एवं आपुच्छित्ता सगवरगुरुणा विसज्जिओ संतो ।
अप्पचउत्थो तदिओ बिदिओ वा सो तदो णीदी१४७

एवं आपृच्छ्य स्वकवरगुरुणा विसर्जितः सन् ।
आत्मचतुर्थः तृतीयो द्वितीयो वा स ततो निरेति॥१४७॥

अर्थ—इसप्रकार अपने श्रेष्ठगुरुओंको पूछकर उनसे आज्ञा लेता हुआ आप तीनमुनियोंको साथ लेकर अथवा दो वा एकको साथ लेकर वहांसे निकले अन्य जगहको जावे । अकेला जाना योग्य नहीं है ॥ १४७ ॥

अकेला न जानेका कारण बतलाते हैं;—

गिहिदत्थेय विहारो बिदिओऽगिहिदत्थसंसिदो चेव ।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं ॥ १४८ ॥

गृहीतार्थैकः विहारो द्वितीयोऽगृहीतार्थसंश्रितश्चैव ।
एताभ्यां तृतीयविहारो नानुज्ञातो जिनवरैः ॥ १४८ ॥

अर्थ—जिसने जीवादि तत्त्व अच्छी तरह जान लिये हैं ऐसा

एक विहारी देशांतरमें जाकर चारित्रका अनुष्ठान करता है। दूसरा अगृहीतार्थ है वह जानकर मुनिके साथ रहता है। इन दोनोंसे अन्य तीसरा विहार जिनेंद्रदेवने नहीं कहा है ॥१४८॥

आगे एकविहारीका स्वरूप कहते हैं;—

तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य।
पविआआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो ॥१४९॥

तपःसूत्रसत्त्वैकत्वभावसंहननधृतिसमग्रश्च।
प्रव्रज्यागमबली एकविहारी अनुज्ञातः ॥ १४९ ॥

अर्थ—तप आगम शरीरबल, अपने आत्मामें ही प्रेम, शुभ परिणाम, उत्तम संहनन और मनका बल क्षुधा आदि न होना—इन गुणोंकर संयुक्त हो तथा तपकर व आचार सिद्धांतोंकर बलवान् हो अर्थात् चतुर हो वह एक विहारी साधु कहा गया है ॥१४९॥

परंतु एकविहारी ऐसा न हो. यह कहते हैं;—

सच्छंदगदागदसयणणिसियणादाणभिक्खवोसरणे।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तूवि एगागी ॥ १५० ॥

स्वच्छंदगतागतिशयननिषीदनादानभिक्षाव्युत्सर्गाः।
स्वच्छंदजल्परुचिश्च मा मे शत्रुरप्येकाकी ॥ १५० ॥

अर्थ—सोना बैठना ग्रहण करना भोजन लेना मलत्याग करना इत्यादि कार्योंके समय जिसका स्वच्छंद गमन आगमन है तथा स्वेच्छासे ही विना अवसर बोलनेमें प्रेम रखनेवाला ऐसा एकाकी (अकेला) मेरा वैरी भी न हो। भावार्थ—ऐसा स्वच्छंदी मुनि एकाकी कदापि नहीं होसकता ॥ १५० ॥

आगे ऐसा एकाकी विहार करे तो इतने दोष होते हैं ऐसा कहते हैं;—

गुरुपरिवादो सुदवोछेदो तित्थस्स मइलणा जडदा।
भेंभलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि ॥ १५१ ॥

गुरुपरिवादः श्रुतव्युच्छेदः तीर्थस्य मलिनत्वं जडता।
विह्वलकुशीलपार्श्वस्थता च उत्सारकल्पे ॥ १५१ ॥

अर्थ—गणको छोड़ अकेले विहार करनेमें इतने दोष होते हैं—दीक्षादेनेवाले गुरूकी निंदा, श्रुतका विनाश, जिनशासनमें कलंक लगाना कि सब साधु ऐसे ही होंगे, मूर्खता, विह्वलता, कुशीलपना, पार्श्वस्थता, ये भ्रष्ट मुनियोंके भेद हैं इनको कहेंगे ॥ १५१ ॥

आगे कहते हैं कि ये दोष तो होते ही हैं परंतु अपनेको भी विपत्ति होती है;—

कंटयखण्णुयपडिणियसाणागोणादिसप्पमेच्छेहिं।
पावइ आदविवत्ती विसेण व विसूइया चेव ॥ १५२॥

कंटकस्थाणुप्रत्यनीकश्वगवादिसर्पम्लेच्छैः।
प्राप्नोति आत्मविपत्तिं विषेण वा विसूचिकया चैव॥१५२॥

अर्थ—जो स्वच्छंद विहार करता है वह कांटे, स्थाणु (ठूंठ), क्रोधसे आये हुए कुत्ते बैल आदिकर तथा सर्प, म्लेच्छ, विष, अजीर्ण–इनकर अपने मरणको व दुःखको पाता है ॥१५२॥

वह दूसरेको भी नहीं चाहता ऐसा कहते हैं;—

गारविओ गिद्धीओ माइल्लो अलसलुद्धणिद्धम्मो।
गच्छेवि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो ॥ १५३ ॥

गौरविको गृद्धिको मायावी अलसलुब्धनिर्धर्मः ।
गच्छेपि संवसन् नेच्छति संघाटकं मंदः ॥ १५३ ॥

अर्थ—जो मुनि शिथिलाचारी है वह रिद्धि आदि गौरव-वाला, भोगोंकी इच्छा करनेवाला, कुटिल स्वभावी, उद्यम रहित, लोभी, पापबुद्धि हुआ मुनिसमूहमें रहकर भी दूसरेको नहीं चाहता। तीन पुरुषोंके समूहको गण तथा सात पुरुषोंके समूहको गच्छ जानना ॥ १५३ ॥

आगे स्वच्छंदीके अन्य भी पापस्थान बतलाते हैं;—

आणा अणवत्था विय मिच्छत्ताराहणादणासो य ।
संजमविराहणावि य एदे दु णिकाइया ठाणा ॥१५४॥

आज्ञाकोपः अनवस्थापि च मिथ्यात्वाराधनात्मनाशश्च ।
संयमविराधनापि च एते तु णिकाचितानि स्थानानि॥१५४

अर्थ—जो एकाकी स्वच्छंद विहार करता है उसके आज्ञाकोप, अतिप्रसंग, मिथ्यात्वकी आराधना, अपने सम्यग्दर्श-नादिगुणोंका वा कार्यका घात, संयमका घात—ये पांच पापस्थान अवश्य होते हैं ॥ १५४ ॥

आगे कहते हैं कि जहां आधारभूत आचार्यादि न हों वहां न ठहरे;—

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा ।
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य ॥ १५५ ॥

तत्र न कल्पते वासः यत्रेमे न संति पंच आधाराः ।
आचार्योपाध्यायाः प्रवर्तकस्थविराः गणधराश्च ॥ १५५ ॥

अर्थ—ऐसे गुरुकुलमें रहना ठीक नहीं है कि जहां आचार्य,

उपाध्याय, प्रवर्तक, जिनसे आचरण स्थिर हो ऐसे स्थविर, और गणधर—ये पांच मुनिराज संघके आधारभूत न हों ॥ १५५ ॥

आगे इन पांचोंका लक्षण कहते हैं—

सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघवट्टवओ ।
मज्जादुवदेसोवि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो ॥ १५६ ॥

शिष्यानुग्रहकुशलः धर्मोपदेशकश्च संघप्रवर्तकः ।
मर्यादोपदेशकोपि च गणपरिरक्षः ज्ञातव्यः ॥ १५६ ॥

अर्थ—जो दीक्षादिकर शिष्योंके उपकार करनेमें चतुर हो वह आचार्य है, जो धर्मका उपदेश दे शास्त्र पढावे वह उपाध्याय है, जो चर्या आदिकर संघका उपकार करे प्रवर्तावे वह प्रवर्तक है, जो संघकी रीति स्थिति प्राचीन परंपराकी मर्यादको बतलावे वह स्थविर है और जो गणको पालै रक्षा करै वह गणधर जानना ॥ १५६ ॥

आगे कहते हैं कि चलते हुए मार्गमें जो मिले उसे आचार्यके पास लेजाय;—

जं तेणंतरलद्धं सच्चित्ताचित्तमिस्सयं दव्वं ।
तस्स य सो आइरिओ अरिहदि एवंगुणो सोवि १५७

यत् तेनांतरलब्धं सचित्ताचित्तमिश्रकं द्रव्यं ।
तस्य च स आचार्यः अर्हति एवंगुणः सोपि ॥ १५७ ॥

अर्थ—चलते समय मार्गमें शिष्यादिक चेतन, पुस्तकादि अचेतन, पुस्तक सहित शिष्यादि मिश्र ये पदार्थ मिल जांय तो आगे कहे जानेवाले गुणोंवाला आचार्य ही उनपदार्थों के योग्य है अर्थात् उनको आचार्यके समीप लेजावे ॥ १५७ ॥

अब आचार्यके गुणोंको कहते हैं;—

संगहणुग्गहकुसलो सत्तत्थविसारओ पहियकित्ती ।
किरिआचरणसुजुत्तो गाहुयआदेज्जवयणो य ॥ १५८॥

संग्रहानुग्रहकुशलः सूत्रार्थविशारदः प्रथितकीर्तिः ।
क्रियाचरणसुयुक्तो ग्राह्यादेयवचनश्च ॥ १५८ ॥

अर्थ—दीक्षादेकर अपना करनारूप संग्रह व शास्त्रादिसे संस्काररूप अनुग्रह इन दोनोंमें चतुर हो, सिद्धांतके अर्थ जाननेमें अतिप्रवीण हो, जिसकी कीर्ति (गुण) सब जगह फैल रही हो, पंच नमस्कार छह आवश्यक आसिका निषेधिका रूप तेरहक्रिया तथा महाव्रतादि तेरहप्रकार चारित्रकर युक्त हो और जिसका वचन सुनने मात्र ही सब ग्रहण करें—ऐसे गुणोंवाला आचार्य कहा है ॥ १५८ ॥

गंभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पभावणासीलो ।
खिदिससिसायरसरिसो कमेण तं सो दु संपत्तो १५९

गंभीरो दुर्धर्षः शूरः धर्मप्रभावनाशीलः ।
क्षितिशशिसागरसदृशः क्रमेण तं स तु संप्राप्तः ॥ १५९ ॥

अर्थ—जो क्षोभरहित अथाह गुणोंवाला हो, जिसका अनादर परवादी न करसकें, कार्य करनेमें समर्थ हो, दानतपादिके अतिशयसे धर्म प्रभावना करनेवाला हो, क्षमा शांति निर्मलपनेसे पृथ्वीचंद्रमासमुद्रकोंके समान हो—ऐसे गुणोंवाले आचार्यके पास शिष्य जावे ॥ १५९ ॥

आगे आये हुए शिष्यमुनिको देखकर दूसरे संघके क्या करें यह कहते हैं;—

आएसं एज्जंतं सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे ।
वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुट्ठंति ॥ १६० ॥

आयासेन आगच्छंतं सहसा दृष्ट्वा संयताः सर्वे ।
वात्सल्याज्ञासंग्रहप्रणमनहेतोः समुत्तिष्ठंते ॥ १६० ॥

अर्थ—परिश्रमकर अन्य संघसे आये हुए पाहुणे मुनिको देखकर शीघ्र ही सब संयमी वात्सल्य (प्रेम), सर्वज्ञाज्ञा पालन, नवीनमुनिको अपना करना, और नमस्कार करना—इन प्रयोजनों-के निमित्त उठकर खड़े होजांय ॥ १६० ॥

पच्चुग्गमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च ।
पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥ १६१ ॥

प्रत्युद्गमनं कृत्वा सप्तपदं अन्योन्यप्रणामं च ।
पादोष्णकरणीयकृते तिरत्नसंप्रश्नं कुर्यात् ॥ १६१ ॥

अर्थ—सात पैंड सन्मुख जाकर परस्पर नमस्कार करके पादोष्ण क्रिया करते हुए मुनि आये मुनिसे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्र-यका प्रश्न करैं अर्थात् तुमारे रत्नत्रय शुद्ध पलते हैं ॥ १६१ ॥

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओदु दादव्वो ।
किरियासंथारादिसु सहवासपरिक्खणाहेदुं ॥ १६२ ॥

आगतस्य त्रिरात्रं नियमात् संघाटकस्तु दातव्यः ।
क्रियासंस्तारादिषु सहवासपरीक्षणाहेतोः ॥ १६२ ॥

अर्थ—आये हुए अन्य संघके मुनिको स्वाध्याय संस्तर भिक्षा आदिका स्थान वतलानेकेलिये तथा उनकी शुद्धताकी परीक्षा करनेकेलिये नियमसे सहायक मुनि साथमें रहनेको तीन दिन-राततक देना चाहिये ॥ १६२ ॥

आगे परीक्षा करनेका अन्य उपाय भी बतलाते हैं;—

आगंतुयवत्थव्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णेहिं ।
अण्णोण्णकरणचरणं जाणणहेदुं परिक्खंति ॥ १६३ ॥

आगंतुकवास्तव्याः प्रतिलेखनाभिस्तु अन्योन्याभिः ।
अन्योन्यकरणचरणं ज्ञानहेतुं परीक्षंते ॥ १६३ ॥

अर्थ—अन्य संघके आये हुए मुनि तथा उसीसंघके रहनेवाले मुनि आपसमें पीछी आदिसे की गई प्रतिलेखना क्रिया, तेरह प्रकार करण चारित्रके जाननेके लिये परस्पर एक दूसरेको देखकर परीक्षा करें ॥ १६३ ॥

कोंन २ स्थानोंमें परीक्षाकरें यह कहते हैं;—

आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे ।
सज्झाएगविहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥ १६४ ॥

आवश्यकस्थानादिषु प्रतिलेखनवचनग्रहणनिक्षेपेषु ।
स्वाध्याये एकविहारे भिक्षाग्रहणे परीक्षंते ॥ १६४ ॥

अर्थ—छह आवश्यक व कायोत्सर्गक्रियाओंमें, पीछी आदिसे शोधन क्रिया, भाषा वोलनेकी क्रिया, पुस्तकादिके उठाने रखनेकी क्रिया, स्वाध्याय, एकाकी जानेआनेकी क्रिया, भिक्षाग्रहणार्थ चर्यामार्गमें-इन सब स्थानोंमें परस्पर परीक्षा करें ॥ १६४ ॥

अब आये हुए मुनि भी परीक्षा कैसे करें उसकी रीति वतलाते हैं;—

विस्समिदो तद्दिवसं मीमंसित्ता णिवेदयदि गणिणे ।
विणएणागमकज्जं बिदिए तदिए व दिवसम्मि ॥१६५॥

विश्रांतः तद्दिवसं मीमांसित्वा निवेदयति गणिने ।

विनयेनागमकार्यं द्वितीये तृतीये वा दिवसे ॥ १६५ ॥

अर्थ—आगंतुक मुनि आनेके दिन मार्गका खेद छोड विश्राम ले, उसके वाद आचार्योंकी परीक्षा कर अर्थात् उनका श्रद्धान ज्ञान आचरण शुद्ध जान विनयसे दूसरे दिन व तीसरे दिन अपने आनेका प्रयोजन आचार्यको निवेदन करे अथवा आचार्यके शिष्य आगंतुक मुनिकी परीक्षाकर आचरणोंको तथा उनके प्रयोजनको कहें ॥ १६५ ॥

आगे ऐसा निवेदन करनेसे आचार्य क्या करे उसे कहते हैं;—

आगंतुकणामकुलं गुरुदिक्खामाणवरसवासं च।
आगमणदिसासिक्खापडिकमणादी य गुरुपुच्छा १६६

आगंतुकनामकुलं गुरुदीक्षामानवर्षावासं च।
आगमनदिशाशिक्षाप्रतिक्रमणादयश्च गुरुपृच्छा ॥ १६६ ॥

अर्थ—आचार्य अन्यसंघसे आये हुए मुनिसे ये वात पूछे कि तुमारा नाम व गुरुकी संतान क्या है, दीक्षाके देनेवाले आचार्य कैसे हैं, दीक्षाको लिये हुए कितना समय हुआ, वर्षाकाल (चौमासा) कहां विताया, कोंनसी दिशासे आये, कोंन २ से शास्त्र पढे हो कोंन २ से सुने हैं, प्रतिक्रमण कितने हुए हैं। आदि शब्दसे तुमको क्या पढना है कितनी दूरसे आये हो इत्यादि जानना ॥ १६६ ॥

उसका उत्तर वह मुनि देवे उसका स्वरूप अच्छी तरह जानकर आचार्य क्या करे यह कहते हैं;—

जदि चरणकरणसुद्धो णिच्चुज्जुत्तो विणीद मेधावी।
तस्सिट्ठं कधिदव्वं सगसुदसत्तीए भणिऊण ॥१६७॥

यदि चरणकरणशुद्धो नित्योद्युक्तो विनीतो मेधावी ।
तस्येष्टं कथयितव्यं स्वकश्रुतशक्त्या भणित्वा ॥ १६७ ॥

अर्थ—जो वह मुनि तेरह प्रकार चारित्र तेरह प्रकार करणकर शुद्ध हो, नित्य उद्यमी हो–अतीचार न लगावे, विनयवान् हो, बुद्धिमान हो तो अपनी श्रुतज्ञानकी शक्ति कहकर उसके वांछितको वह आचार्य करे ॥ १६७ ॥

यदि आगंतुक ऐसा न हो तो आचार्यको कैसा करना उसे बतलाते हैं;—

जदि इदरो सोऽजोग्गो छेदमुवट्ठावणं च कादव्वं ।
जदि णेच्छदि छंडेज्जो अह गेह्लादि सोवि छेदरिहो १६८

यदि इतरः स अयोग्यः छेदः उपस्थापनं च कर्तव्यः ।
यदि नेच्छति त्यजेत् अथ गृह्णाति सोपि छेदार्हः ॥१६८॥

अर्थ—जो वह आगंतुक मुनि चरणकरणसे अशुद्ध हो देव-वंदनाकर अयोग्य हो तो प्रायश्चित्त शास्त्रको देखकर छेद तथा उपस्थापना करना । जो वह छेदोपस्थापना स्वीकार न करे तो उसे छोड़ दे । और जो अयोग्यको भी मोहसे ग्रहण करे उसे प्रायश्चित्त न दे तो वह आचार्य भी प्रायश्चित्तके योग्य है ॥१६८॥

उसके बाद क्या करना चाहिये यह कहते हैं;—

एवं विधिणुववण्णो एवं विधिणेव सोवि संगहिदो ।
सुत्तत्थं सिक्खंतो एवं कुज्जा पयत्तेण ॥ १६९ ॥

एवं विधिना उपपन्नः एवंविधिनैव सोपि संगृहीतः ।
सूत्रार्थं शिक्षमाणः एवं कुर्यात् प्रयत्नेन ॥ १६९ ॥

अर्थ—पूर्वकथित विधिकर युक्त वह आगंतुक मुनि पूर्वोक्त

विधानकर ही आचार्योंसे आचरणकी शुद्धता करे और आचार्योंसे यत्नाचारपूर्वक सूत्रार्थ सीखे ॥ १६९ ॥

आगे यत्नाचार कैसे करे यह कहते हैं;—

पडिलेहिऊण सम्मं दव्वं खेत्तं च कालभावे य ।
विणवोवयारजुत्तेणज्झेदव्वं पयत्तेण ॥ १७० ॥
प्रत्यालेख्य सम्यक् द्रव्यं क्षेत्रं च कालभावौ च ।
विनयोपचारयुक्तेनाध्येतव्यं प्रयत्नेन ॥ १७० ॥

अर्थ—शरीरमें होनेवाले गूंमडे घाव तथा भूमिगत चर्म हड्डी मूत्र पुरीष आदिको पीछी आदिसे शोधन करना द्रव्य शुद्धि है। भूमिको सौ हाथमात्र सोधना क्षेत्रशुद्धि है। संध्याका मेघगर्जनका बिजली चमकनेका अन्य उत्पातादिका काल छोड़ना कालशुद्धि है। क्रोधादि छोड़ना भावशुद्धि है। इसप्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भाव इन चारोंकी शुद्धिको अच्छीतरह देख विनय उपचारकर सहित होके यत्नाचारकर वह मुनि अध्ययन करे (पढै) ॥ १७० ॥

जो द्रव्यादिकी शुद्धि न करे तो क्या हो यह कहते हैं;—

दव्वादिवदिक्कमणं करेदि सुत्तत्थसिक्खलोहेण ।
असमाहिमसज्झायं कलहं वाहिं वियोगं च ॥ १७१ ॥
द्रव्यादिव्यतिक्रमणं करोति सूत्रार्थशिक्षालोभेन ।
असमाधिरस्वाध्यायः कलहो व्याधिः वियोगश्च ॥ १७१ ॥

अर्थ—जो वह आगंतुक मुनि सूत्र अर्थके सीखनेके लोभसे (आसक्ततासे) द्रव्यादिकी शुद्धताका उलंघन करे अर्थात् शास्त्रका अविनय करे तो असमाधि अस्वाध्याय कलह रोग वियोग–ये दोष होते हैं ॥ १७१ ॥

यह शुद्धि केवल पठननिमित्त नहीं है जीवदयाके निमित्त भी है;—

संथारवासयाणं पाणीलेहाहिं दंसणुज्जोवे ।
जत्तेणुभये काले पडिलेहा होदि कायव्वा ॥ १७२ ॥

संस्तारावकाशानां पाणिरेखाभिः दर्शनोद्योते ।
यत्नेनोभयोः कालयोः प्रतिलेखा भवति कर्तव्या ॥ १७२॥

अर्थ—शुद्ध भूमि शिला काठ तृणसमूहरूप चार प्रकार संस्तर और संस्तरका प्रदेश (जगह) इनके ग्रहणका व छोड़नेका प्रातः सायं (सवेरे सांझ) दोनों कालोंमें हाथकी रेखा दीखे ऐसा नेत्रोंका प्रकाश होनेपर यत्नाचारसे सोधन करना ॥ १७२ ॥

वह आगंतुक दूसरे संघमें स्वेच्छाचारी नहीं प्रवर्ते;—

उब्भामगादिगमणे उत्तरजोगे सकज्जयारंभे ।
इच्छाकारणिजुत्ते आपुच्छा होइ कायव्वा ॥ १७३ ॥

उद्भ्रामकादिगमने उत्तरयोगे स्वकार्यारंभे ।
इच्छाकारनियुक्ता आपृच्छा भवति कर्तव्या ॥ १७३ ॥

अर्थ—ग्राम भिक्षा चर्या व्युत्सर्गादिककेलिये गमनमें, वृक्ष मूलादि योगोंके धारणमें, अपने प्रयोजनके आरंभमें, करनेके अभिप्राय सहित प्रणाम करके दूसरे संघमें भी आचार्योंको पूछना चाहिये ॥ १७३ ॥

आगे कहते हैं कि वैयावृत्त्य भी वैसे ही करे;—

गच्छे वेज्जावच्चं गिलाणगुरुबालवुड्ढसेहाणं ।
जहजोगं कादव्वं सगसत्तीए पयत्तेण ॥ १७४ ॥

गच्छे वैयावृत्त्यं ग्लानगुरुबालवृद्धशैक्षाणां ।

यथायोग्यं कर्तव्यं स्वकशक्त्या प्रयत्नेन ॥ १७४ ॥

अर्थ—ऋषियोंके समुदायमें रोगादिकर पीड़ित शक्तिवाले, दीक्षागुरु आदि गुरु, नये दीक्षित, बुढापेसे जीर्ण वा दीक्षासे अधिक, शास्त्र पढनेमें उद्यमी वा स्वार्थपर निर्गुणी—इन सबकी यथायोग्य अपनी शक्तिको नहीं छिपाके यत्नाचारसे शरीरकी सेवा (टहल) करना चाहिये ॥ १७४ ॥

आगे परगणमें वंदनादि क्रिया भी अकेला न करे मिलके करे ऐसा कहते हैं;—

दिवसियरादियपक्खियचाउम्मासियवरिस्सकिरियासु ।
रिसिदेववंदणादिसु सहजोगो होदि कादव्वो ॥१७५॥

दैवसिकीरात्रिकीपाक्षिकीचातुर्मासिकीवार्षिकीक्रियासु ।
ऋषिदेववंदनादिषु सहयोगो भवति कर्तव्यः ॥ १७५ ॥

अर्थ—दिनमें होनेवाली, रात्रिकी, पक्ष संबंधी, चौमासेकी, वर्षसंबंधी क्रियाओंको तथा साधुवंदना देववंदना आदि क्रियाओंको साथ (मिलकर) ही करना चाहिये ॥ १७५ ॥

कोई दोषलगे तो उसका प्रायश्चित्त भी वहां ही करे;—

मणवयणकायजोगेणुप्पण्णवराध जस्स गच्छम्मि ।
मिच्छाकारं किचा णियत्तणं होदि कायव्वं ॥ १७६ ॥

मनोवचनकाययोगैः उत्पन्नापराधः यस्य गच्छे ।
मिथ्याकारं कृत्वा निवर्तनं भवति कर्तव्यम् ॥ १७६ ॥

अर्थ—मनवचनकायकी क्रियाओंकर जिसके गच्छमें अतीचाररूप दोष लगे उसे उसीके गच्छमें मिथ्याकाररूप पश्चात्ताप करके दूर करदेना चाहिये ॥ १७६ ॥

आगे उस गच्छमें आगंतुक मुनि आर्यिकाओंके साथ कैसे वर्ते यह कहते हैं;—

अज्जागमणे काले ण अत्थिदव्वं तहेव एक्केण ।
ताहिं पुण सल्लावो ण य कायव्वो अकज्जेण ॥ १७७ ॥

आर्यागमने काले न स्थातव्यं तथैवैकेन ।
ताभिः पुनः संलापो न च कर्तव्योऽकार्येण ॥ १७७ ॥

अर्थ—आर्या आदि स्त्रियोंके आनेके समय मुनिको बनमें अकेला नहीं रहना चाहिये और उनके साथ धर्मकार्यादि प्रयोजनके विना बोले नहीं । धर्मके निमित्त यदि कोईसमय बोलना हो तो संक्षेपवचन कहे ॥ १७७ ॥

तासिं पुण पुच्छाओ एक्कस्से णय कहेज्ज एक्को दु ।
गणिणीं पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं १७८

तासां पुनः पृच्छा एकस्या नैव कथयेत् एकस्तु ।
गणिनीं पुरतः कृत्वा यदि पृच्छति ततः कथयितव्यं १७८

अर्थ—उन आर्याओंमेंसे फिर एक आर्या कुछ पूछे तो निं- भयसे अकेला न कहे । यदि प्रधान अर्जिकाको अगाड़ पूछे तो उसका उत्तर कहदेना चाहिये ॥ १७८ ॥

तरुणो तरुणीए सह कहा व सल्लावणं च जदि ।
आणाकोवादीया पंचवि दोसा कदा तेण ॥ १७

तरुणः तरुण्या सह कथां वा संलापं च यदि कुर्यात् ।
आज्ञाकोपादयः पंचापि दोषाः कृताः तेन ॥ १७९ ॥

अर्थ—युवावस्थावाला मुनि जवान स्त्रीके साथ कथा व

हास्यादिमिश्रित वार्तालाप करे तो उसने आज्ञाकोप आदि पांचौ ही दोष (पाप) किये ऐसा जानना ॥ १७९ ॥

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चिट्ठेदुं ।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झाहारभिक्खवोसरणे ॥१८०॥

न कल्पते विरतानां विरतीनामुपाश्रये स्थातुम् ।
तत्र निषधोद्वर्तनस्वाध्यायाहारभिक्षाव्युत्सर्जनानि ॥१८०॥

अर्थ—संयमी मुनियोंको आर्यिकाओंकी वसतिकामें ठहरना योग्य नहीं है । और वहां वैठना, सोना, स्वाध्यायकरना, आहार व भिक्षा ग्रहण करना तथा प्रतिक्रमणादि व मलका त्याग इत्यादि क्रियायें भी नहीं करनी चाहिये ॥ १८० ॥ आर्याओंकर वनाया भोजन आहार व श्राविकाओंकर वनाया हुआ भोजन भिक्षा भोजन कहलाता है ।

आगे कहते हैं कि स्थविरपन आदि गुणवाला भी स्त्रीसंगतिसे विगड़ जाता है;—

थेरं चिरपव्वइयं आयरियं बहुसुदं च तवसिं वा ।
ण गणेदि काममलिणो कुलमपि सवणो विणासेइ१८१

स्थविरं चिरप्रव्रजितं आचार्यं बहुश्रुतं च तपस्विनं वा ।
न गणयति काममलिनः कुलमपि श्रमणः विनाशयति॥१८१

अर्थ—कामवासनासे मैले चित्तवाला मुनि आत्माके महत्त्वको, बहुतकालकी दीक्षाको, अपनी आचार्यपदवीको, उपाध्याय (सब शास्त्रोंका जानकर) पनेको, वेला तेला आदि तपसे हुए तापसीपनेको, तथा अपनी कुलपरंपराको नहीं गिनता है सबको नष्ट कर देता है और अपने सम्यक्त्वादि गुणोंका भी नाश करता है॥ १८१

यदि आत्माके गुणोंका नाश न करे परंतु निंदाको अवश्य पाता है;—

कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणी सलिंगं वा।
अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥ १८२ ॥

कन्यां विधवां आंतःपुरिकां तथा स्वैरिणीं सलिंगिनीं वा।
अचिरेणालाप्यमानः अपवादं तत्र प्राप्नोति ॥ १८२ ॥

अर्थ—कन्या, विधवा, रानी वा विलासिनी, स्वेच्छाचारिणी, दीक्षा धारण करनेवाली ऐसी स्त्रियोंसे क्षणमात्र भी वार्तालाप करता हुआ मुनिराज है वह लोकनिंदाको पाता है ॥ १८२ ॥

आर्याओंकी संगति छोड़नेसे उनके प्रतिक्रमणादि कैसे होसकते हैं उसे कहते हैं;—

पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।
संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ॥ १८३ ॥

प्रियधर्मा दृढधर्मा संविग्नः अवद्यभीरुः परिशुद्धः।
संग्रहानुग्रहकुशलः सततं साररक्षणायुक्तः ॥ १८३ ॥

अर्थ—आर्यकाओंका गणधर ऐसा होना चाहिये कि, उत्तम क्षमादि धर्म जिसको प्रिय हो, दृढ धर्मवाला हो, धर्ममें हर्ष करनेवाला हो पापसे डरता हो, सबतरहसे शुद्ध हो अर्थात् अखंडित आचरण-वाला हो, दीक्षाशिक्षादि उपकारकर नया शिष्य बनाने व उसका पालन करनेमें चतुर हो और हमेशा शुभक्रियायुक्त हो हितोपदेशी हो ॥ १८३ ॥

गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइ गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥१८४॥

गंभीरो दुर्धर्षो मितवादी अल्पकुतूहलश्च।
चिरप्रव्रजितः गृहीतार्थः आर्याणां गणधरो भवति॥१८४॥

अर्थ—गुणोंकर अगाध हो, परवादियोंसे दबनेवाला न हो, थोड़ा बोलनेवाला हो, अल्प विस्मय जिसके हो, बहुतकालका दीक्षित हो और आचार प्रायश्चित्तादि ग्रंथोंका जाननेवाला हो। ऐसा आचार्य आर्याओंको उपदेश देसकता है ॥ १८४ ॥

एवंगुणवदिरित्तो जदि गणधरितं करेदि अज्जाणं।
चत्तारि कालगा से गच्छादि विराहणा होज्ज ॥१८५॥

एवंगुणव्यतिरिक्तः यदि गणधरत्वं करोति आर्याणाम्।
चत्वारः कालकाः तस्य गच्छादयः विराधिता भवेयुः१८५

अर्थ—इन पूर्वकथित गुणोंसे रहित मुनि जो आर्यिकाओंका गणधरपना करता है उसके गणपोषण आदि चार काल तथा गच्छ आदिकी विराधना (नाश) होती है ॥ १८५ ॥

किं बहुणा भणिदेण दु जा इच्छा गणधरस्स सा सव्वा।
कादव्वा तेण भवे एसेव विधी दु सेसाणं ॥ १८६ ॥

किं बहुना भणितेन तु या इच्छा गणधरस्य सा सर्वा।
कर्तव्या तेन भवेत् एषैव विधिस्तु शेषाणाम् ॥ १८६ ॥

अर्थ—बहुत कहनेसे क्या लाभ, जैसी आचार्यकी इच्छा हो वैसे ही आगंतुक मुनिको करना चाहिये। और शेष मुनियोंको भी अर्थात् अपने गणमें रहनेवालोंको भी ऐसा ही करना चाहिये ॥ १८६ ॥

आगे आर्याओंका समाचार कहते हैं;—

एसो अज्जाणंपि अ सामाचारो जधाखिओ पुव्वं।

सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं ॥१८७॥

एष आर्याणामपि च समाचारः यथाख्यातः पूर्वम् ।
सर्वस्मिन् अहोरात्रे विभाषितव्यो यथायोग्यं ॥ १८७ ॥

अर्थ—जैसे पूर्व मुनिराजोंका समाचार कहागया है वही सब रातदिनका आचरण आर्याओंका भी यथायोग्य जानना । वृक्षमूलादियोग आर्याओंके नहीं होते ॥ १८७ ॥

वसतिकामें आर्यिकाओंका वर्ताव कहते हैं;—

अण्णोण्णणुकूलाओ अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ।
गयरोसवेरमाया सलज्जमज्जादकिरियाओ ॥ १८८ ॥

अन्योन्यानुकूलाः अन्योन्याभिरक्षणाभियुक्ताः ।
गतरोषवैरमायाः सलज्जामर्यादाक्रियाः ॥ १८८ ॥

अर्थ—आर्यिका आपसमें अनूकूल रहती हैं ईर्षाभाव नहीं करतीं, आपसमें प्रति पालनमें तत्पर रहती हैं, क्रोध वैर मायाचारी इन तीनोंसे रहित होतीं हैं । लोकापवादसे भयरूप लज्जापरिणाम, न्यायमार्गमें प्रवर्तनेरूप मर्यादा, दोनों कुलके योग्य आचरण—इन गुणोंकर सहित होती हैं ॥ १८८ ॥

अज्झयणे परियट्टे सवणे कहणे तहाणुपेहाए ।
तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुपओगजुत्ताओ॥१८९॥

अध्ययने परिवर्ते श्रवणे कथने तथानुप्रेक्षासु ।
तपोविनयसंयमेषु च अविरहिता उपयोगयुक्ताः ॥ १८९ ॥

अर्थ—शास्त्र पढनेमें, पढे शास्त्रके पाठ करनेमें, शास्त्र सुननेमें, श्रुतके चिंतवनमें अथवा अनित्यादि भावनाओंमें, और तप

विनय संयम इन सबमें आर्यिकायें तत्पर रहती हैं तथा ज्ञाना-भ्यास शुभयोगमें युक्त रहतीं हैं ॥ १८९ ॥

अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ ।
धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूपविसुद्धचरियाओ १९०

अविकारवस्त्रवेशाः जल्लमलविलिप्तत्यक्तदेहाः ।
धर्मकुलकीर्तिदीक्षाप्रतिरूपविशुद्धचर्याः ॥ १९० ॥

अर्थ—जिनके वस्त्र विकाररहित होते हैं, शरीरका आकार भी विकार रहित होता है, शरीर पसेव व मलकर लिप्त है तथा संस्कार (सजावट) रहित है । क्षमादि धर्म, गुरु आदिकी संता-नरूप कुल, यश, व्रत इनके समान जिनका शुद्ध आचरण है ऐसी आर्यिकायें होतीं हैं ॥ १९० ॥

अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिवाए विसुद्धसंचारे ।
दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति॥१९१॥

अगृहस्थमिश्रनिलये असंनिपाते विशुद्धसंचारे ।
द्वे तिस्रोवा आर्या बह्वयो वा सह तिष्ठंति ॥ १९१ ॥

अर्थ—जहां असंयमी न रहें ऐसे स्थानमें, बाधारहित स्थानमें क्लेशरहित गमन योग्य स्थानमें दो तीन अथवा बहुत आर्यिका एक साथ रहसकती हैं ॥ १९१ ॥

ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्स गमणिज्जे ।
गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥ १९२ ॥

न च परगेहमकार्ये गच्छेयुः कार्ये अवश्यं गमनीयं ।
गणिनीमापृच्छ्य संघाटेनैव गच्छेयुः ॥ १९२ ॥

अर्थ—आर्यिकाओंको विना प्रयोजन पराये स्थानपर नहीं

जाना चाहिये। यदि अवश्य जाना हो तो भिक्षा आदि कालमें बड़ी आर्यिकाको पूछकर अन्य आर्यिकाओंको साथ लेकर ही जाना चाहिये ॥ १९२ ॥

आगे अर्जिकाओंको इतनी क्रियायें नहीं करनी चाहिये;—

रोदणण्हाणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खणधोवण गेयं च ण य कुज्जा १९३

रोदनस्नपनभोजनपचनं सूत्रं च षड्विधारंभान्।
विरतानां पादमृक्षणधावनं गीतं च न च कुर्युः ॥ १९३ ॥

अर्थ—आर्यिकाओंको अपनी वसतिकामें तथा अन्यके घरमें रोना नहीं चाहिये, बालकादिकोंको स्नान नहीं कराना। बालकादिकोंको जिमाना, रसोई करना, सूत कातना, सीना, असि मषि आदि छह कर्म करना, संयमीजनोंके पैर धोना साफ करना रागपूर्वक गीत, इत्यादि क्रियाएं नहीं करना चाहिये ॥ १९३ ॥

तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ।
थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा॥१९४॥

तिस्रो वा पंच वा सप्त वा आर्या अन्योन्यरक्षाः।
स्थविराभिः सहांतरिता भिक्षायै समवतरंति सदा ॥१९४॥

अर्थ—अर्जिकायें भिक्षाकेलिये अथवा आचार्यादिकोंकी वंदनाकेलिये तीन व पांच व सात मिलकर जावें। आपसमें एक दूसरेकी रक्षा करे तथा वृद्धा अर्जिकाके साथ जावें ॥ १९४ ॥

आगे वंदना करनेकी रीति बतलाते हैं;—

पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥ १९५ ॥

पंच षट् सप्त हस्तान् सूरिं अध्यापकं च साधूंश्च ।
परिहृत्य आर्याः गवासनेनैव वंदंते ॥ १९५ ॥

अर्थ—आर्यिकायें आचार्योंको पांच हाथ दूरसे उपाध्यायको छहहाथ दूरसे और साधुओंको सात हाथ दूरसे गौके आसनसे बैठकर वंदना करती हैं। आलोचना अध्ययन स्तुति भी करती हैं॥१९५॥

आगे समाचारका फल कहते हैं;—

एवंविहाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ ।
ते जगपुज्जं किर्त्ति सुहं च लद्धूण सिज्झंति ॥ १९६ ॥

एवंविधानचर्यां चरंति ये साधवश्च आर्याः ।
ते जगत्पूजां कीर्तिं सुखं च लब्ध्वा सिध्यंति ॥ १९६ ॥

अर्थ—जो साधु अथवा आर्यिका इसप्रकार आचरण करते हैं वे जगतमें पूजा यश व सुखको पाकर मोक्षको पाते हैं ॥ १९६॥

आगे ग्रंथकार अपनी लघुता दिखलाते हैं;—

एवं सामाचारो बहुभेदो वण्णिदो समासेण ।
वित्थारसमावण्णो वित्थरिदव्वो बुहजणेहिं ॥ १९७ ॥

एवं समाचारः बहुभेदो वर्णितः समासेन ।
विस्तारसमापन्नो विस्तारयितव्यो बुधजनैः ॥ १९७ ॥

अर्थ—इसप्रकार मैंने संक्षेपसे बहुत भेदवाला समाचार अर्थात् आगमप्रसिद्ध अनुष्ठान वर्णन किया है, इसका विस्तारकथन बुद्धिमानोंको विस्तारित करना चाहिये ॥ १९७ ॥

इसप्रकार आचार्यश्रीवट्टकेरिविरचित मूलाचारकी हिंदीभाषा-टीकामें समाचारोंको कहनेवाला चौथा समाचाराधिकार समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पंचाचाराधिकार ॥ ५ ॥

आगे पंचाचारोंको कहते हुए मंगलाचरण करते हैं;—

तिहुयणमंदिरमहिदे तिलोयबुद्धे तिलोगमत्थत्थे ।
तेलोक्कविदिदवीरे तिविहेण य पणमिदे सिद्धे ॥१९८॥

त्रिभुवनमंदिरमहितान् त्रिलोकबुद्धान् त्रिलोकमस्तकस्थान् ।
त्रैलोक्यविदितवीरान् त्रिविधेन च प्रणिपतामि सिद्धान्१९८

अर्थ—तीन लोकके स्वामी इंद्रादिकर पूजित, तीनलोकके जाननेवाले, तीनलोकके मस्तक सिद्धक्षेत्रपर विराजमान तीन-लोकमें प्रसिद्ध पराक्रमवाले ऐसे सिद्धोंको मैं नमस्कार करता हूं ॥ १९८ ॥

दंसणणाणचरित्ते तव्वे विरियाचरह्मि पंचविहे ।
वोच्छं अदिचारेऽहं कारिद अणुमोदिदे अ कदे॥१९९॥

दर्शनज्ञानचारित्रे तपसि वीर्याचारे पंचविधे ।
वक्ष्ये अतीचारान् अहं कारितान् अनुमोदितान् च कृतान् ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपआचार वीर्याचार-इस तरह पंच आचारोंमें कृत कारित अनुमोदनासे होनेवाले अतीचारोंको (दोषोंको) मैं कहता हूं ॥ १९९ ॥

आगे दर्शनाचारके अतीचार कहते हैं;—

दंसणचरणविसुद्धी अट्ठविहा जिणवरेहिं णिद्दिट्ठा ।
दंसणमलसोहणयं वोछे तं सुणह एगमणा ॥ २०० ॥

दर्शनचरणविशुद्धिः अष्टविधा जिनवरैः निर्दिष्टा ।
दर्शनमलशोधनकं वक्ष्ये तत् शृणुत एकमनसः ॥ २०० ॥

अर्थ—दर्शनाचारकी निर्मलता जिनेंद्रभगवानने अष्टप्रकारकी कही है वह सम्यक्त्वके मल (अतीचार) को दूर करनेवाली है। उसे मैं कहता हूं सो हे शिष्यजनो! एकचित्त होकर तुम सुनो ॥ २०० ॥

णिस्संकिद णिक्कंखिद णिव्विदगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ२०१

निःशंकिता निष्कांक्षिता निर्विचिकित्सता अमूढदृष्टिः च।
उपगूहनं स्थितिकरणं वात्सल्यं प्रभावना च एते अष्टौ२०१

अर्थ—निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्वके गुण जानना ॥ २०१ ॥

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं ॥ २०२ ॥

मार्गः मार्गफलं इति च द्विविधं जिनशासने समाख्यातं।
मार्गः खलु सम्यक्त्वं मार्गफलं भवति निर्वाणं ॥ २०२ ॥

अर्थ—जिनशासनमें मार्ग और मार्गफल ये दो कहे हैं। उनमेंसे मार्ग तो सम्यक्त्व है और मार्गफल मोक्ष है ॥ २०२ ॥

आगे सम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं;—

भूयत्थेणाहिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ २०३ ॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च।
आस्रवसंवरनिर्जराबंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वं ॥ २०३ ॥

अर्थ—अपने अपने स्वरूपसे जानेगये जीव अजीव पुण्य पाप

आस्रव संवर निर्जरा बंध मोक्ष ये नौपदार्थ हैं अर्थात् इनका यथार्थश्रद्धान करना सम्यक्त्व है ॥ २०३ ॥

दुविहा य होंति जीवा संसारत्था य णिव्वुदा चेव ।
छद्धा संसारत्था सिद्धिगदा णिव्वुदा जीवा ॥ २०४ ॥

द्विविधाः च भवंति जीवाः संसारस्थाः च निर्वृता चैव ।
षद्धा संसारस्थाः सिद्धिगता निर्वृता जीवाः ॥ २०४ ॥

अर्थ—जीवोंके दो भेद हैं संसारी मुक्त । संसारी जीव छह प्रकारके हैं और जो सिद्धगतिको प्राप्त हैं वे मुक्तजीव हैं ॥२०४॥

अब संसारी जीवोंके छह भेद बतलाते हैं;—

पुढवी आऊ तेऊ वाऊ य वणप्फदी तहा य तसा ।
छत्तीसविहा पुढवी तिस्से भेदा इमे णेया ॥ २०५ ॥

पृथिव्यापस्तेजोवायुश्च वनस्पतिस्तथा च त्रसाः ।
षट्त्रिंशद्विधा पृथिवी तस्या भेदा इमे ज्ञेयाः ॥ २०५ ॥

अर्थ—पृथिवी जल अग्नि वायु वनस्पतिकाय ये पांच स्थावर और द्वींद्रियादि पंचेंद्रियतक त्रस इसतरह संसारी जीवोंके छह भेद हैं । उनमेंसे पृथिवीके छत्तीस भेद आगे कहे हुए जानना ॥ २०५ ॥

आगे पृथिवीके छत्तीस भेदोंको कहते हैं;—

पुढवी य बालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य ।
अय तंब तउ य सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य२०६
हरिदाले हिंगुलए मणोसिला सस्सगंजण पवाले य ।
अब्भपडलब्भवालु य बादरकाया मणिविधीया २०७
गोमज्झगे य रुजगे अंके फलहे य लोहिदंके य ।

चंदप्पभ वेरुलिए जलकंते सूरकंते य ॥ २०८ ॥
गेरुय चंदण वव्वग वगमोए तह मसारगल्लो य ।
ते जाण पुढविजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥ २०९ ॥

पृथिवी च बालुका शर्करा च उपलानि शिला च लवणं च।
अयस्ताम्रं त्रपुः च सीसकं रूप्यं सुवर्णानि च वज्रं च२०६
हरितालं हिंगुलकं मनःशिला सस्यकं अंजनं प्रवालं च ।
अभ्रपटलं अभ्रबालुका च बादरकाया मणिविधयः॥२०७॥
गोमध्यकश्च रुचकः अंकः स्फटिकश्च लोहितांकश्च ।
चंद्रप्रभः वैडूर्यः जलकांतः सूर्यकांतश्च ॥ २०८ ॥
गैरिकं चंदनवप्यकवकमोचाः तथा मसारगल्लश्च ।
तान् जानीहि पृथिवीजीवान् ज्ञात्वा परिहर्तव्याः ॥२०९॥

अर्थ—मट्टी आदि पृथिवी, बालू, तिकोंन चौकोंनरूप शर्करा, गोल पत्थर, बड़ा पत्थर, समुद्रादिका लवण (निमक), लोहा, तांबा, जस्ता, सीसा, चांदी, सोना, हीरा १३ । हरिताल, इंगुल, मैनसिल, हरारंगवाला सस्यक, सुरमा, मूंगा, भोडल (अवरख), चमकती रेती २१। गोरोचनवर्णवाली कर्केतनमणि, अलसीपुष्पवर्ण राजवर्तकमणि, पुलकवर्णमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, चंद्रकांतमणि, वैडूर्य (नील) मणि, जलकांतमणि, सूर्यकांतमणि ३० । गेरूवर्ण रुधिराक्षमणि, चंदनगंधमणि, विलावके नेत्रसमान मरकतमणि, पुखराज, नीलमणि, तथा विद्रुमवर्णवाली मणि ३६ इस प्रकार पृथिवीके छत्तीस भेद हैं । इनमें जीवोंको जानकर सजीवका त्याग करे ॥ २०६–२०९ ॥

आगे जलकायके जीवोंका वर्णन करते हैं;—

ओसाय हिमग महिगा हरदणु सुद्धोदगे घणुदगे य।
ते जाण आउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥ २१० ॥

अवश्यायं हिमं महिकां हरत् अणुं शुद्धोदकं घनोदकं च।
तान् जानीहि अप्जीवान् ज्ञात्वा परिहर्तव्याः ॥ २१० ॥

अर्थ—ओस, बर्फ, धुआंके समान पाला, स्थूलबिंदु रूप जल, सूक्ष्मबिंदुरूप जल, चंद्रकांत मणिसे उत्पन्न शुद्धजल, झरनासे उत्पन्न जल, मेघका जल वा घनोदधिवातजल—ये सब जलकायिक जीव हैं। इनको जानकर इनकी हिंसाका त्याग करना चाहिये ॥ २१० ॥

आगे अग्निकायिक जीवोंके भेद कहते हैं;—

इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणीय अगणी य।
ते जाण तेउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥ २११ ॥

अंगारं ज्वाला अर्चिर्मुर्मुरं शुद्धाग्निः अग्निश्च।
तान् जानीहि तेजोजीवान् ज्ञात्वा परिहर्तव्याः ॥ २११ ॥

अर्थ—धुआंरहित अंगार, ज्वाला, दीपककी लौ, कंडाकी आग और वज्राग्नि विजली आदिसे उत्पन्न शुद्ध अग्नि, सामान्य अग्नि—ये तेजकायिक जीव हैं इनको जानकर इनकी हिंसाका त्याग करना चाहिये ॥ २११ ॥

आगे वायुकायिक जीवोंके भेद कहते हैं;—

वादुब्भामो उक्कलि मंडलि गुंजा महा घणु तणू य।
ते जाण वाउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥ २१२ ॥

वातोद्भामो उत्कलिः मंडलिः गुंजा महान् घनस्तनुश्च।

तान् जानीहि वायुजीवान् ज्ञात्वा परिहर्तव्याः ॥ २१२॥

अर्थ—सामान्य पवन, भ्रमता हुआ ऊंचा जानेवाला पवन, बहुत रजसहित आवाजवाला पवन, पृथ्वीमें लगता हुआ चक्करवाला पवन, गूंजता हुआ चलनेवाला पवन, महापवन, घनोदधि घनवात तनुवात—ये वायुकायिक जीव हैं। इनको जानकर इनकी हिंसाका त्याग करना चाहिये ॥ २१२ ॥

आगे वनस्पतिकायिक जीवोंको कहते हैं;—

मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा।
संमुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥ २१३ ॥

मूलाग्रपर्वबीजाः कंदाः तथा स्कंदबीजबीजरुहाः ।
सम्मूर्छिमाश्च भणिताः प्रत्येका अनंतकायाश्च ॥ २१३ ॥

अर्थ—वनस्पतीके दो भेद हैं–प्रत्येक साधारण । एक शरीरमें एक जीव हो वह प्रत्येक वनस्पति है और एक शरीरमें अनंतजीव हों वह साधारण है, साधारणको ही निगोद कहते हैं और अनंतकाय भी कहते हैं । मूलबीज हलदी आदि, मल्लिका आदि अग्रबीज, ईख वेत आदि पर्वबीज, पिंडालू आदि कंदबीज, सल्लकी आदि स्कंधबीज, गेंहू आदि बीजबीज और सुपारी नारियल आदि संमूर्छन जीव ये सब प्रत्येक और अनंतकाय दो तरहके होते हैं ॥ २१३ ॥

आगे संमूर्छन वनस्पतिका स्वरूप कहते हैं;—

कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवाल पुप्फफलं।
गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्व काया य २१४

कंदो मूलं त्वक् स्कंधः पत्रं पल्लवं पुष्पफलं।

गुच्छः गुल्मं वल्ली तृणानि तथा पर्व कायश्च ॥ २१४ ॥

अर्थ—सूरण आदि कंद, अदरख आदि मूल, छालि, स्कंध, पत्ता, कौंपल, पुष्प, फल, गुच्छा, करंजा आदि गुल्म, वेल, तिनका और वेत आदि ये संमूर्छन प्रत्येक अथवा अनंतकायिक हैं ॥ २१४ ॥

सेवाल पणय केणग कवगो कुहणो य बादरा काया ।
सव्वेवि सुहमकाया सव्वत्थ जलत्थलागासे ॥२१५॥

शैवालं पनकं कृष्णकं कवकः कुहनश्च बादराः कायाः ।
सर्वेपि सूक्ष्मकायाः सर्वत्र जलस्थलाकाशे ॥ २१५ ॥

अर्थ—जलकी काई, ईंट आदिकी काई, कूड़ेसे उत्पन्न हरानीलारूप, जटाकार, आहार कांजी आदिसे उत्पन्न काई—ये सब बादरकाय जानने । जल स्थल आकाश सब जगह सूक्ष्मकाय भरे हुऐ जानना ॥ २१५ ॥

आगे साधारण जीवोंका स्वरूप कहते हैं;—

गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं ।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥ २१६ ॥

गूढसिरासंधिपर्व समभंगमहीरुहं च छिन्नरुहं ।
साधारणं शरीरं तद्विपरीतं च प्रत्येकं ॥ २१६ ॥

अर्थ—जिनकी नसें नहीं दीखतीं, बंधन व गांठि नहीं दीखतीं जिनके टुकटे समान होजाते हैं वलि रहित (सीधे) और भिन्न किया गया भी ऊगे ऐसे सब साधारण शरीर कहे जाते हैं । इनसे जो विपरीत होवे प्रत्येक शरीर कहेजाते हैं ॥ २१६ ॥

होदि वणप्फदि वल्ली रुक्खतणादी तहेव एइंदी ।
ते जाण हरितजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥ २१७ ॥

भवति वनस्पतिः वल्ली वृक्षतृणादीनि तथैव एकेंद्रियाः ।
तान् जानीहि हरितजीवान् ज्ञात्वा परिहर्तव्याः ॥ २१७॥

अर्थ—वनस्पति वेल वृक्ष तृण इत्यादिक स्वरूप है । ये एकेंद्रिय हैं । ये सब प्रत्येक साधारण हरितकाय हैं ऐसा जानना और जानकर इनकी हिंसाका त्याग करना चाहिये ॥ २१७ ॥

अब त्रसके भेद कहते हैं;—

दुविधा तसा य उत्ता विगला सगलेंदिया मुणेयव्वा ।
बितिचउरिंदिय विगला सेसा सगलिंदिया जीवा२१८

द्विविधाः त्रसाश्च उक्ता विकलाः सकलेंद्रिया ज्ञातव्याः ।
द्वित्रिचतुरिंद्रिया विकलाः शेषाः सकलेंद्रिया जीवाः २१८

अर्थ—त्रसकायिक दो प्रकार कहे हैं विकलेंद्रिय, सकलेंद्रिय । दोइंद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रिय इन तीनोंको विकलेंद्रिय जानना और शेष पंचेंद्रिय जीवोंको सकलेन्द्रिय जानना ॥ २१८ ॥

संखो गोभी भमरादिआ दु विकलिंदिया मुणेदव्वा ।
संकलिंदिया य जलथलखचरा सुरणारयणरा य॥२१९

शंखः गोपालिका भ्रमरादिकाः तु विकलेंद्रिया ज्ञातव्याः।
सकलेंद्रियाश्च जलस्थलखचराः सुरनारकनराश्च ॥ २१९ ॥

अर्थ—शंख आदि, गोपालिका चींटी आदि, भौंरा आदि, जीव दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रियरूप विकलेंद्रिय जानना । तथा सिंह आदि स्थलचर, मच्छ आदि जलचर, हंस आदि आकाशचर तिर्यंच और देव नारकी मनुष्य—ये सब पंचेंद्रिय हैं ॥ २१९ ॥

कुलजोणमग्गणा विय णादव्वा सव्वजीवाणं ।
णाऊण सव्वजीवे णिस्संका होदि कादव्वा ॥ २२० ॥

कुलयोनिमार्गणा अपि ज्ञातव्याः सर्वजीवानां ।
ज्ञात्वा सर्वजीवान् निःशंका भवति कर्तव्या ॥ २२० ॥

अर्थ—सब जीवोंके कुल योनि मार्गणायें भी जानने योग्य हैं, इनमें सब जीवोंको जानकर संदेह रहित श्रद्धान करना चाहिये ॥

बावीस सत्त तिण्णि अ सत्तय कुलकोडि सदसहस्साइं
णेया पुढविदगागणिवाऊकायाण परिसंखा ॥ २२१ ॥

द्वाविंशतिः सप्त त्रीणि च सप्त च कुलकोटिशतसहस्राणि ।
ज्ञेया पृथिव्युदकाग्निवायुकायानां परिसंख्या ॥ २२१ ॥

अर्थ—पृथिवीकाय जलकाय अग्निकाय और वायुकायिक जीवोंके कुल क्रमसे बाईसलाखकोटि, सप्तलाखकोटि, तीनलाख-करोड़ हैं ऐसा जानना । जतिभेदको कुल कहते हैं ॥ २२१ ॥

कोडिसदसहस्साइं सत्तट्ठ व णव य अट्ठवीसं च ।
वेइंदियतेइंदियचउरिंदियहरिदकायाणं ॥ २२२ ॥

कोटिशतसहस्राणि सप्ताष्टौ च नव चाष्टाविंशतिश्च ।
द्वींद्रियत्रींद्रियचतुरिंद्रियहरितकायानाम् ॥ २२२ ॥

अर्थ—दोइंद्रियके सातलाखकोटि, तेइंद्रियके आठलाखकोटि, चौइंद्रियजीवोंके नौलाखकरोड़ और वनस्पतीकायिकजीवोंके अट्ठाईस लाखकरोड़ कुल हैं ॥ २२२ ॥

अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं ।
जलचरपक्खिचउप्पयउरपरिसप्पेसु णव होंति २२३

अर्धत्रयोदश द्वादश दशकं कुलकोटिशतसहस्राणि ।

जलचरपक्षिचतुष्पदउरपरिसर्पेषु नव भवंति ॥ २२३ ॥

अर्थ—तिर्यंच मत्स्यादि जलचरोंके कुल साढे बारह लाख करोड़ कुल हैं। हंस आदि पक्षियोंके बारह लाख करोड़ तथा सिंह आदि चौपायोंके दशलाख करोड़ और गोह सर्प आदि जीवोंके नव लाख करोड़ कुल हैं ॥ २२३ ॥

छव्वीसं पणवीसं चउदस कुलकोडिसदसहस्साइं।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होइ णायव्वं ॥ २२४ ॥

षड्विंशतिः पंचविंशं चतुर्दश कुलकोटिशतसहस्राणि।
सुरनैरयिकनराणां यथाक्रमं भवति ज्ञातव्यम् ॥ २२४ ॥

अर्थ—देवोंके छव्वीसलाखकरोड़, नारकियोंके पचीस लाख करोड़ और मनुष्योंके चौदहलाख करोड़ कुल जानना ॥ २२४ ॥

आगे सबका जोड़ कहते हैं;—

एया य कोडिकोडी णवणवदीकोडिसदसहस्साइं।
पण्णासं च सहस्सा संवग्गीणं कुलाण कोडीओ२२५

एका च कोटिकोटिः नवनवतिकोटिशतसहस्राणि।
पंचाशच्च सहस्राणि संवर्गेण कुलानां कोट्यः ॥ २२५ ॥

अर्थ—एककोड़ाकोड़ि निन्यानवै लाख पचास हजार करोड़ प्रमाण सब मिलकर सब जीवोंके कुलोंका प्रमाण है॥ २२५ ॥

आगे जीवोंके योनि भेद कहते हैं;—

णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस विगलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणरयतिरिय चउरो चउदस मणुए सदसहस्सा२२६

नित्येतरधातूनां सप्त च तरूणां दश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव।
सुरनरकतिरश्चां चत्वारि चतुर्दश मनुष्ये शतसहस्राणि२२६

अर्थ—नित्यनिगोद जीवोंकी, इतर (चतुर्गति) निगोदिया जीवोंकी सात सात लाख योनि हैं। पृथ्वी जल तेज वायु कायके जीवोंकी सात सात लाख योनि हैं। वनस्पति कायके जीवोंकी दशलाख, दो इंद्रिय ते इंद्रिय चौ इंद्रिय जीवोंकी छह लाख, देव नारकी पंचेंद्रियतिर्यंचोंकी चार चार लाख योनि हैं। मनुष्योंकी चौदह लाख योनि हैं। सब मिलकर चौरासी लाख योनि हैं॥ उत्पत्तिका जो कारण वह योनि है॥ २२६॥

तसथावरा य दुविहा जोगगइकसायइंदियविधीहिं।
बहुविध भव्वाभव्वा एस गदी जीवणिद्देसे॥२२७॥

त्रसस्थावराः च द्विविधा योगगतिकषायेंद्रियविधिभिः।
बहुविधा भव्याभव्या एषा गतिः जीवनिर्देशे॥ २२७॥

अर्थ—कायमार्गणासे त्रस स्थावर-कायरूप दोप्रकारके जीव हैं। योग गति कषाय इंद्रियके भेदोंसे तथा भव्य अभव्यके भेदसे भी जीव बहुत प्रकारके होते हैं॥ २२७॥ इनका विशेष कथन गोंमटसार जीवकांडसे जानना।

आगे जीवका लक्षण कहते हैं;—

[1]णाणं पंचविधं पिअ अण्णाणतिगं च सागरुवओगो।
चदुदंसणमणगारो सव्वे तल्लक्खणा जीवा॥ २२८॥

ज्ञानं पंचविधं अपि अज्ञानत्रिकं च साकारोपयोगः।
चतुर्दर्शनमनाकारः सर्वे तल्लक्षणा जीवाः॥ २२८॥

अर्थ—ज्ञान पांच प्रकारका है अज्ञानके तीन भेद हैं इसतरह ज्ञानोपयोगके आठ भेद हैं वह ज्ञान साकार होता है। दर्शन चक्षुदर्शनादिके भेदसे चार प्रकार है वह अनाकार होता है।

ज्ञान और दर्शन ये दोनों लक्षणवाले सभी जीव होते हैं ॥२२८॥

एवं जीवविभागा बहुभेदा वण्णिया समासेण।
एवंविधभावरहियमजीवदव्वेत्ति विण्णेयं॥ २२९॥

एवं जीवविभागा बहुभेदा वर्णिता समासेन।
एवंविधभावरहितमजीवद्रव्यमिति विज्ञेयं॥ २२९॥

अर्थ—इसतरह जीवोंके बहुत भेद संक्षेपसे वर्णन किये। ऐसे जीवके ज्ञानादिधर्मोंसे जो रहित है उसे अजीवद्रव्य जानना चाहिये॥ २२९॥

आगे अजीवद्रव्यके भेद कहते हैं;—

अज्जीवा विय दुविहा रूवारूवा य रूविणो चदुधा।
खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा अणू य तहा॥ २३०॥

अजीवा अपि द्विविधा रूपिणोऽरूपिणश्च रूपिणः चतुर्धा।
स्कंधश्च स्कंधदेशः स्कंधप्रदेशः अणुश्च तथा॥ २३०॥

अर्थ—अजीवपदार्थके दो भेद हैं रूपी और अरूपी। रूपसे रसगंधवर्ण भी लेना। रूपी पदार्थके चार भेद हैं–स्कंध, स्कंधदेश स्कंधप्रदेश, परमाणु॥ २३०॥

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेय अविभागी॥ २३१॥

स्कंधः सकलसमर्थः तस्य तु अर्धं भणंति देश इति।
अर्धार्धं च प्रदेशः परमाणुः चैव अविभागी॥ २३१॥

अर्थ—सब भेदोंका समूहरूप पिंडको स्कंध कहते हैं, उसके आधेको देश कहते हैं। उसके आधेको स्कंध प्रदेश तथा निरंशको परमाणु जानना॥ २३१॥

ते पुण धम्माधम्मागासा य अरूविणो य तह कालो।
खंधा देस पदेसा अणुत्ति विय पोग्गला रूवी॥२३२॥

ते पुनःधर्माधर्माकाशानि च अरूपीणि च तथा कालः।
स्कंधः देशः प्रदेशः अणुरिति अपि च पुद्गला रूपिणः२३२

अर्थ—अरूपी अजीवद्रव्यके चार भेद हैं–धर्म, अधर्म, आकाश, काल। स्कंध देश प्रदेश परमाणुरूप पुद्गलद्रव्य रूपी है॥ २३२॥

गदिठाणोग्गाहणकारणाणि कमसो दु वट्टणगुणो य।
रूवरसगंधफासादि कारणं कम्मबंधस्स॥ २३३॥

गतिस्थानावगाहनकारणानि क्रमशः तु वर्तनागुणश्च।
रूपरसगंधस्पर्शादि कारणं कर्मबंधस्य॥ २३३॥

अर्थ—गमन करनेका, ठहरानेका, जगह देनेका निमित्त कारण धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य क्रमसे है। कालद्रव्यका वर्तना गुण है। और रूप रस गंध स्पर्शादिक कर्मबंधके कारण हैं॥ २३३॥

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं।
जो परिणदो स पुण्णो तव्विवरीदेण पावं तु॥२३४॥

सम्यक्त्वेन श्रुतेन च विरत्या कषायनिग्रहगुणैः।
यः परिणतस्तत्पुण्यं तद्विपरीतेन पापं तु॥ २३४॥

अर्थ—सम्यक्त्वसे, श्रुतज्ञानसे, पांच व्रतरूपपरिणामसे, कषायनिरोधरूप उत्तम क्षमादिगुणोंकर परिणत हुए जीवके जो कर्मबंध है वह पुण्य है और उससे उल्टा अर्थात् मिथ्यात्वादिसे परिणतके कर्मबंध है वह पाप है॥ २३४॥

पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्ध एव उवओगो।
विवरीदं पावस्स दु आसवहेउं वियाणाहि ॥ २३५ ॥

पुण्यस्यास्रवभूता अनुकंपा शुद्ध एव उपयोगः।
विपरीतः पापस्य तु आस्रवहेतुं विजानीहि ॥ २३५ ॥

अर्थ—जीवोंपर दया, शुद्ध मन वचन कायकी क्रिया शुद्ध दर्शन ज्ञानरूप उपयोग ये पुण्यकर्मके आस्रव (आने) के कारण हैं और इससे विपरीत निर्दयपना मिथ्याज्ञानदर्शनरूप उपयोग पापकर्मके आस्रवके कारण जानना ॥ २३५ ॥

अमूर्तीकका मूर्तीकके साथ बंध कैसे हुआ उसका उत्तर कहते हैं;—

णेहोउप्पिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अंगे।
तह रागदोससिणिहोलिदस्स कम्मं मुणेयव्वं ॥२३६॥

स्नेहार्पितगात्रस्य रेणवो लगंति यथा अंगे।
तथा रागद्वेषस्नेहालिप्तस्य कर्म ज्ञातव्यं ॥ २३६ ॥

अर्थ—जैसे घी आदि चिकनाईसे लिप्त शरीरको धूली चिपट जाती है वैसे ही रागद्वेषरूपी चिकनाईसे भीगे हुए जीवके ही कर्म पुद्गल बंधते हैं ॥ २३६ ॥

अब आस्रवके भेद कहते हैं;—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।
अरिहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं ॥ २३७ ॥

मिथ्यात्वं अविरमणं कषाययोगौ च आस्रवा भवंति।
अर्हदुक्तार्थेषु विमोहः भवति मिथ्यात्वं ॥ २३७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व अविरति कषाय योग-ये आस्रव अर्थात्

कर्मोंके आगमनके कारण होते हैं। उनमेंसे अर्हतकथित पदार्थोंमें संशयादि करना मिथ्यात्व है ॥ २३७ ॥

अविरमणं हिंसादी पंचवि दोसा हवंति णादव्वा ।
कोधादीय कसाया जोगो जीवस्स चिट्ठा दु ॥२३८॥

अविरमणं हिंसादयः पंचापि दोषा भवंति ज्ञातव्याः ।
क्रोधादयः कषाया योगः जीवस्य चेष्टा तु ॥ २३८ ॥

अर्थ—हिंसा आदि पांच दोषोंको अविरति जानना। क्रोधादि चार कषाय हैं और जीवकी क्रियाको योग कहते हैं ॥ २३८ ॥

आगे संवरको कहते हैं;—

मिच्छत्तासवदारं रुंभइ सम्मत्तदढकवाडेण ।
हिंसादिदुवाराणिवि दढवदफलिहेहिं रुब्भंति॥ २३९॥

मिथ्यात्वास्रवद्वारं रुंधंति सम्यक्त्वदृढकपाटेन ।
हिंसादिद्वाराण्यपि दृढव्रतफलकैः रुंधंति ॥ २३९ ॥

अर्थ—संवर करनेवाले जीव मिथ्यात्वरूप आस्रवद्वारको सम्यक्त्वरूप दृढ कपाटसे रोकदेते हैं और हिंसादि आस्रवद्वारको दृढ पंचव्रतरूप पट्टेसे रोकते हैं ॥ २३९ ॥

आसवदि जं तु कम्मं कोधादीहिं तु अयदजीवाणं ।
तप्पडिवक्खेहिं विदु रुंधंति तमप्पमत्ता दु ॥ २४० ॥

आस्रवति यत्तु कर्म क्रोधादिभिस्तु अयतजीवानाम् ।
तत्प्रतिपक्षैः विद्वांसो रुंधंति तमप्रमत्तास्तु ॥ २४० ॥

अर्थ—यत्नाचार रहित जीवोंके क्रोधआदिकर जो कर्म आते हैं उनको प्रमादरहित ज्ञानी जीव क्रोधादिके प्रतिपक्षी उत्तमक्षमादि धर्मोंसे रोक देते हैं ॥ २४० ॥

मिच्छत्ताविरदीहिं य कसायजोगेहिं जं च आसवदि।
दंसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहिं तु णासवदि॥२४१॥

मिथ्यात्वाविरतिभिश्च कषाययोगैश्च यच्च आस्रवति ।
दर्शनविरमणनिग्रहनिरोधनैस्तु नास्रवति ॥ २४१ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व अविरति कषाय योगोंसे जो कर्म आते हैं वे कर्म सम्यग्दर्शन विरति क्षमादिभाव और योगनिरोधसे नहीं आने पाते–रुकजाते हैं ॥ २४१ ॥

आगे निर्जराको कहते हैं;—

संजमजोगे जुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेगविधं ।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे जीवो ॥ २४२ ॥

संयमयोगेन युक्तः यः तपसा चेष्टते अनेकविधं ।
स कर्मनिर्जरायां विपुलायां वर्तते जीवः ॥ २४२ ॥

अर्थ—इंद्रियादिसंयम और योगकर सहित हुआ जो अनेक (बारह) भेद रूप तपमें प्रवर्तता है वह जीव बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥ २४२ ॥

आगे दृष्टांतसे जीवकी शुद्धता बतलाते हैं;—

जह धाऊ धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणो दु संतत्तो।
तवसा तधा विसुज्झदि जीवो कम्मेहिं कणयं वा२४३

यथा धातुः धम्यमानः शुध्यति स अग्निना तु संतप्तः ।
तपसा तथा विशुध्यति जीवः कर्मभिः कनकं इव॥२४३॥

अर्थ—जैसे मलसहित सोना धातु अग्निसे तपायागया ताड़नादि किया गया शुद्ध होजाता है उसीतरह यह जीव भी तपसे तपाया हुआ कर्मरूपी मैलसे रहित हुआ शुद्ध होजाता है॥२४३॥

जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागं कसायदो कुणदि।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥२४४॥

योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतः करोति ।
अपरिणतोच्छिन्नेषु च बंधस्थितिकारणं नास्ति ॥ २४४ ॥

अर्थ—योगसे प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होते हैं तथा कषायसे स्थिति और अनुभागबंध होते हैं, यह ग्यारवें गुणस्थान तक जानना । सयोगीगुणस्थान और क्षीणकषाय गुणस्थानवालोंके बंध स्थितिका कारण नहीं है—कुछ कर नहीं सकता ॥ २४४ ॥

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ।
पढमा विवागजादा बिदिया अविवागजादा य॥२४५॥

पूर्वकृतकर्मसडनं तु निर्जरा सा पुनः भवेत् द्विविधा ।
प्रथमा विपाकजाता द्वितीया अविपाकजाता च ॥ २४५॥

अर्थ—पूर्व (पहले) किये हुए कर्मोंका जो झड़जाना वह निर्जरा है उसके दो भेद हैं । पहली विपाकजा दूसरी अविपाकजा ॥ २४५ ॥

कालेण उवाएण य पच्चंति जधा वणप्फदिफलाणि ।
तध कालेण उवाएण य पच्चंति कदा कम्मा ॥ २४६ ॥

कालेन उपायेन च पच्यंते यथा वनस्पतिफलानि ।
तथा कालेन उपायेन च पच्यंते कृतानि कर्माणि ॥२४६॥

अर्थ—जैसे गेंहू आदि वनस्पतिके फल अपने अपने समयसे तथा उपायकर आम्रादिफल जल्दी पकजाते हैं उसीतरह किये हुए कर्म अपने २ समयपर अथवा तप आदिक उपायके प्रभावसे शीघ्र ही फल देकर झड़जाते हैं ॥ २४६ ॥

आगे मोक्ष पदार्थका वर्णन करते हैं;—

रागी बंधइ कम्मं मुच्चइ जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवएसो समासदो बंधमोक्खाणं ॥ २४७ ॥

रागी बध्नाति कर्माणि मुंचति जीवः विरागसंपन्नः ।
एष जिनोपदेशः समासतः बंधमोक्षयोः ॥ २४७ ॥

अर्थ—रागी जीव कर्मोंको बांधता है वैराग्यको प्राप्त हुआ कर्मोंसे छूट जाता है यह ही उपदेश बंध मोक्षका संक्षेपसे जिनेंद्रदेवने दिया है ॥ २४७ ॥

अब सम्यक्त्वके शंकादि आठ दोषोंको कहते हैं;—

णव य पदत्था एदे जिणदिट्ठा वण्णिदा मए तच्चा ।
तत्थ भवे जा संका दंसणघादी हवदि एसो ॥ २४८ ॥

नव च पदार्था एते जिनदिष्टा वर्णिता मया तत्त्वाः ।
तत्र भवेत् या शंका दर्शनघाती भवति एषः ॥ २४८ ॥

अर्थ—जिनभगवानकर उपदेश किये ये नौ पदार्थ यथार्थस्वरूपसे मैंने वर्णन किये हैं । इनमें जो शंका होना वह दर्शन (श्रद्धान) को घातनेवाला पहला दोष है ॥ २४८ ॥

तिविहा य होइ कंखा इह परलोए तधा कुधम्मे य ।
तिविहं पि जो ण कुज्जा दंसणसुद्धीमुपगदो सो २४९

त्रिविधा च भवति कांक्षा इह परलोके तथा कुधर्मे च ।
त्रिविधमपि यः न कुर्यात् दर्शनशुद्धिमुपगतः सः ॥ २४९ ॥

अर्थ—अभिलाषा तीनप्रकार होती है इसलोकमें संपदा मिलनेकी, परलोकमें संपदा मिलनेकी और कुधर्मकी (लौकिक

धर्मकी) अभिलाषा । जो इन तीनों अभिलाषाओंको नहीं करता वही सम्यग्दर्शनकी शुद्धिको पाता है ॥ २४९ ॥

बलदेवचक्कवट्टीसेट्ठीरायत्तणादिअहिलासो ।
इह परलोगे देवत्तपत्थणा दंसणाभिघादी सो ॥२५०॥

बलदेवचक्रवर्तिश्रेष्ठिराज्यत्वाद्यभिलाषः ।
इह परलोके देवत्वप्रार्थना दर्शनाभिघाती सः ॥ २५० ॥

अर्थ—इस लोकमें बलभद्र चक्रवर्ती होना राजसेठ होना इत्यादिक संपत्तिकी इच्छा और परलोकमें इंद्र होनेकी देव होनेकी अभिलाषा करना वह दर्शनको घातनेवाला कांक्षा दोष है ॥२५०॥

रत्तवडचरगतावसपरिहत्तादीणमण्णतित्थीणं ।
धम्मह्मि य अहिलासो कुधम्मकंखा हवदि एसा २५१

रक्तपटचरकतापसपरिव्राजादीनामन्यतैर्थिकानां ।
धर्मे च अभिलाषः कुधर्मकांक्षा भवति एषा ॥ २५१ ॥

अर्थ—वैभाषिकादि चार भेदवाले बौद्ध, नैयायिक वैशेषिक, जटाधारी वैनयिक, सांख्यमती आदि अन्य धर्मियोंके धर्ममें अभिलाषा करना वह कुधर्मकांक्षा नामा दोष है ॥ २५१ ॥

विदिगिच्छा वि य दुविहा दव्वे भावे य होइ णायव्वा ।
उच्चारादिसु दव्वे खुधादिए भावविदिगिंछा ॥ २५२ ॥

विचिकित्सापि च द्विविधा द्रव्ये भावे च भवति ज्ञातव्या ।
उच्चारादिषु द्रव्येषु क्षुधादिके भावविचिकित्सा ॥ २५२ ॥

अर्थ—विचिकित्सा (ग्लानि) दोप्रकार है–द्रव्य और भाव । मुनिराजके मूत्र विष्ठा लार आदिको देखकर ग्लानि करना वह

द्रव्यविचिकित्सा है और भूख प्यास आदि सहन करना ठीक नहीं है ऐसा विकल्प करना वह भावविचिकित्सा जानना ॥२५२॥

उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयं च चम्मट्ठी।
पूयं च मंससोणिदवंतं जल्लादि साधूणं ॥ २५३ ॥

उच्चारं प्रस्रवणं श्लेष्मा सिंघानकं च चर्मास्थि।
पूतिं च मांसशोणितवांतं जल्लादि साधूनाम् ॥ २५३ ॥

अर्थ—साधुओंके शरीरके विष्ठामल, मूत, कफ, नाकका मल, चाम, हाड, राधि, मांस, लोही, वमन, सब अंगका मल, लार–इत्यादि मलोंको देखकर ग्लानि करना वह द्रव्यविचिकित्सा है ॥

छुहतण्हा सीउण्हा दंसमसयमचेलभावो य।
अरदिरदी इत्थिचरिया णिसिद्धिया सेज्ज अक्कोसो२५४
बधजायणं अलाहो रोग तणप्फास जल्ल सक्कारो।
तह चेव पण्णपरिसह अण्णाणमदंसणं खमणं ॥२५५

क्षुत्तृष्णा शीतोष्णं दंशमशकमचेलभावश्च।
अरतिरती स्त्रीचर्या निषद्या शय्या आक्रोशः ॥ २५४ ॥
बधयाचनं अलाभो रोगस्तृणस्पर्शः जल्लं सत्कारः।
तथा चैव प्रज्ञापरीषहः अज्ञानमदर्शनं क्षमणं ॥ २५५ ॥

अर्थ—भूख प्यास शीत उष्ण दंशमशक नग्नपरीषह अरति-रति स्त्रीपरीषह चर्या निषधा शय्या आक्रोश वध याचना अलाभ रोग तृणस्पर्श मल सत्कार प्रज्ञापरीषह अज्ञान अदर्शनपरीषह–इन बाईस परीषहोंसे संक्लेश परिणाम करना वह भावविचिकित्सा है ॥ २५४ । २५५ ॥

लोइयवेदिय सामाइएसु तह अण्णदेवमूढत्वं।

णच्चा दंसणघादी ण य कायव्वं ससत्तीए ॥ २५६ ॥

लौकिकवैदिकसामायिकेषु तथा अन्यदेवमूढत्वं ।
ज्ञात्वा दर्शनघाती न च कर्तव्यं स्वशक्त्या ॥ २५६ ॥

अर्थ—मूढताके चार भेद हैं–लौकिकमूढता वैदिकमूढता सामायिकमूढता अन्यदेवमूढता । इन चारोंको दर्शनघातक जानकर अपनी शक्तिकर नहीं करना चाहिये ॥ २५६ ॥

कोडिल्लमासुरक्खा भारहरामायणादि जे धम्मा ।
होज्जु व तेसु विसोती लोइयमूढो हवदि एसो २५७

कौटिल्यमासुरक्षः भारतरामायणादयो ये धर्माः ।
भवेत् वा तेषु विश्रुतिः लौकिकमूढः भवति एषः ॥२५७॥

अर्थ—कुटिलता प्रयोजनवाले चार्वाक व चाणिक्यनीति आदिके उपदेश, यज्ञहिंसामें धर्म माननेवाले वैदिकधर्मके शास्त्र, महान पुरुषोंको असत्य दोष लगानेवाले महाभारत रामायणआदि शास्त्र–इनमें धर्म समझना वह लौकिकमूढता है ॥ २५७ ॥

आगे वैदिकमूढताको कहते हैं;—

ऋगवेदसामवेदा वागणुवादादिवेदसत्थाइं ।
तुच्छाणित्ति ण गेण्हइ वेदियमूढो हवदि एसो॥२५८

ऋग्वेदसामवेदौ वागनुवादादि वेदशास्त्राणि ।
तुच्छानि इति न गृह्णाति वैदिकमूढो भवति एषः ॥२५८॥

अर्थ—ऋग्वेद सामवेद प्रायश्चित्तादि वाक्, मनुस्मृति आदि अनुवाक् आदिशब्दसे यजुर्वेद अथर्ववेद–ये सब हिंसाके उपदेशक हैं अग्निहोम आदि कार्योंके कहनेवाले हैं इसलिये धर्मरहित निर-

र्थक हैं। ऐसा न समझकर जो ग्रहण करता है वह वैदिकमूढ है॥

रत्तवडचरगतावसपरिहत्तादीय अण्णपासंडा।
संसारतारगत्तिय जदि गेण्हइ समयमूढो सो॥२५९॥

रक्तपटचरकतापसपरिव्राजकादयः अन्यपाषंडाः।
संसारतारका इति च यदि गृह्णाति समयमूढः सः॥२५९॥

अर्थ—बौद्ध नैयायिक वैशेषिक जटाधारी सांख्य, आदिशब्दसे शैव पाशुपत कापालिक आदि अन्यलिंगी हैं वे संसारसे तारनेवाले हैं-इनका आचरण अच्छा है ऐसा ग्रहण करना वह सामायिकमूढता दोष है॥ २५९॥

अब देवमूढताका स्वरूप कहते हैं;—

ईसरबंभाविण्हूअज्जाखंदादिया य जे देवा।
ते देवभावहीणा देवत्तणभावणे मूढो॥ २६०॥

ईश्वरब्रह्माविष्णुआर्यास्कंदादयश्च ये देवाः।
ते देवभावहीना देवत्वभावने मूढः॥ २६०॥

अर्थ—ईश्वर (महादेव) ब्रह्मा विष्णु पार्वती स्वामिकार्तिकेय इत्यादिक देव देवपनेसे रहित हैं परमार्थदेवपना भी नहीं है। इनमें देवपनेकी भावना करना वह देवमूढता है॥ २६०॥

अब उपगूहनगुणका स्वरूप कहते हैं;—

दंसणचरणविवण्णे जीवे दट्ठूण धम्मभत्तीए।
उपगूहणं करंतो दंसणसुद्धो हवदि एसो॥ २६१॥

दर्शनचरणविपन्नान् जीवान् दृष्ट्वा धर्मभक्त्या।
उपगूहनं कुर्वन् दर्शनशुद्धो भवति एषः॥ २६१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमें ग्लानि सहित जीवोंको देखकर

धर्मकी भक्तिकर उनके दोषोंको दूर करता है वह शुद्ध सम्यग्दर्शनवाला होता है ॥ २६१ ॥

दंसणचरणुवभट्ठे जीवे दट्ठूण धम्मबुद्धीए ।
हिदमिदमवगूहिय ते खिप्पं तत्तो णियत्तेइ ॥ २६२ ॥

दर्शनचरणप्रभ्रष्टान् जीवान् दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या ।
हितमितमवगूह्य तान् क्षिप्रं ततः निवर्तयति ॥ २६२ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसे भ्रष्ट हुए जीवोंको देख धर्मबुद्धिकर सुखके निमित्त हितमितवचनोंसे उनके दोषोंको दूरकर सम्यग्दर्शनादि धर्ममें दृढ करता है वह शुद्धसम्यक्त्वी स्थितिकरण गुणवाला कहाजाता है ॥ २६२ ॥

चादुव्वण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे ।
वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धी ॥ २६३ ॥

चतुर्वर्णे संघे चतुर्गतिसंसारनिस्तरणभूते ।
वात्सल्यं कर्तव्यं वत्से गौः यथा गृद्धिः ॥ २६३ ॥

अर्थ—नरकादि चारगतिरूप संसारसे तिरनेके कारणभूत ऋषि अर्यिका श्रावक श्राविकारूप चतुर्वर्ण संघमें आहारादि दानकर वछड़ेमें गायकी प्रीतिकी तरह प्रीति करना चाहिये । यही वात्सल्यगुण है ॥ २६३ ॥

धम्मकहाकहणेण य बाहिरजोगेहिं चावि णवज्जेहिं ।
धम्मो पहाविदव्वो जीवेसु दयाणुकंपाए ॥ २६४ ॥

धर्मकथाकथनेन च बाह्ययोगैश्चापि अनवद्यैः ।
धर्मः प्रभावयितव्यः जीवेषु दयानुकंपया ॥ २६४ ॥

अर्थ—महापुराणादि धर्मकथाके व्याख्यान करनेसे, हिंसादि

दोषरहित तपश्चरणकर, जीवोंकी दया व अनुकंपाकर जैन धर्मकी प्रभावना करनी चाहिये। आदिशब्दसे परवादियोंको जीतना अष्टांगनिमित्तज्ञान पूजा दान आदि समझना, इनसे भी धर्मकी प्रभावना करनी चाहिये ॥ २६४ ॥

जं खलु जिणोवदिट्ठं तमेव तत्थित्ति भावदो गहणं।
सम्मद्दंसणभावो तव्विवरीदं च मिच्छत्तं ॥ २६५ ॥

यत् खलु जिनोपदिष्टं तदेव तथ्यमिति भावतो ग्रहणं।
सम्यग्दर्शनभावः तद्विपरीतं च मिथ्यात्वं ॥ २६५ ॥

अर्थ—जो जिनेंद्र भगवानने पदार्थ उपदेश किया है वही सत्य है ऐसा भावसे ग्रहण करना वही सम्यग्दर्शन भाव है और इससे उलटा अर्थात् जिनोपदिष्ट तत्त्वका श्रद्धान नहीं होना वह निसर्ग मिथ्यात्व है ॥ २६५ ॥

दंसणचरणो एसो णाणाचारं च वोच्छमट्ठविहं।
अट्ठविहकम्ममुक्को जेण य जीवो लहइ सिद्धिं ॥२६६॥

दर्शनचरण एष ज्ञानाचारं च वक्ष्ये अष्टविधं।
अष्टविधकर्ममुक्तः येन च जीवः लभते सिद्धिम् ॥ २६६ ॥

अर्थ—यह दर्शनाचार संक्षेपसे मैंने कहा। अब आठप्रकार ज्ञानाचारको कहता हूं जिससे कि यह जीव आठ प्रकारके ज्ञानावरणादिकर्मोंकर रहित हुआ मोक्षको पाता है ॥ २६६ ॥

आगे ज्ञानाचारका स्वरूप बतलाते हैं;—

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥ २६७॥

येन तत्त्वं विबुध्यते येन चित्तं निरुध्यते।

येन आत्मा विशुध्यते तत् ज्ञानं जिनशासने ॥ २६७ ॥

अर्थ—जिससे वस्तुका यथार्थ स्वरूप जान सकें, जिससे मनका व्यापार रुकजाय अर्थात् अपने वशमें चित्त हो, जिससे अपना जीव शुद्ध हो वही ज्ञान जैनमतमें उत्तम कहा गया है ॥

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि ।
जेण मेत्ती पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥ २६८ ॥

येन रागात् विरज्यते येन श्रेयसि रज्यते ।
येन मैत्री प्रभावयेत् तत् ज्ञानं जिनशासने ॥ २६८ ॥

अर्थ—जिससे कामक्रोधादिरूप रागसे विरक्त (परान्मुख) हो, जिससे कल्याणरूप चारित्रमें रक्त हो, जिससे यह जीव सब प्राणियोंमें मित्रता करे वही जिनमतमें ज्ञान माना गया है ॥२६८॥

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे ।
वंजण अत्थ तदुभयं णाणाचारो दु अट्ठविहो ॥ २६९ ॥

काले विनये उपधाने बहुमाने तथैव निह्नवने ।
व्यंजनमर्थस्तदुभयं ज्ञानाचारस्तु अष्टविधः ॥ २६९ ॥

अर्थ—स्वाध्यायका काल, मनवचनकायसे शास्त्रका विनय, यत्न करना, पूजासत्कारादिसे पाठादिक करना, अपने पढानेवाले गुरुका तथा पढे हुए शास्त्रका नाम प्रगट करना छिपाना नहीं, वर्णपदवाक्यकी शुद्धिसे पढना, अनेकांतस्वरूप अर्थकी शुद्धि, अर्थ सहित पाठादिककी शुद्धि होना । इसतरह ज्ञानाचारके आठ भेद हैं ॥ २६९ ॥

अब कालाचारको विस्तारसे कहते हैं;—

पादोसियवेरत्तियगोसग्गियकालमेव गेण्हित्ता ।

उभये कालह्मि पुणो सज्झाओ होदि कायव्वो ॥२७०

प्रादोषिकवैरात्रिकगौसर्गिककालमेव गृहीत्वा ।
उभये काले पुनः स्वाध्यायः भवति कर्तव्यः ॥ २७० ॥

अर्थ—प्रादोषिककाल, वैरात्रिक, गोसर्गकाल–इन चारों कालोंमेंसे दिनरातके पूर्वकाल अपरकाल इन दोकालोंमें स्वाध्याय करना चाहिये ॥ **भावार्थ**—जिसमें रातका भाग है वह प्रदोषकाल है अर्थात् रातके पूर्वभागके समीप दिनका पश्चिमभाग वह सुवह शाम दोनों कालोंमें प्रदोषकाल जानना । आधीरात के वाद दो घड़ी वीतजानेपर वहांसे लेकर दो घड़ी रात रहे तबतक कालको वैरात्रिककाल कहते हैं । दो घड़ी दिन चढनेके वादसे लेकर मध्याह्नकाल में दो घड़ी कम रहें उतने कालको गोसर्गिककाल कहते हैं । इनमेंसे प्रदोषकालको छोड़कर दोकालोंमें पठनपाठन करना चाहिये ॥ २७० ॥

सज्झाये पट्ठवणे जंघच्छायं वियाण सत्तपयं ।
पुव्वण्हे अवरण्हे तावदियं चेव णिट्ठवणे ॥ २७१ ॥

स्वाध्याये प्रस्थापने जंघच्छायां विजानीहि सप्तपदां ।
पूर्वाह्णे अपराह्णे तावत्कं चैव निष्ठापने ॥ २७१ ॥

अर्थ—स्वाध्यायके आरंभ करनेमें सूर्यके उदय होनेपर दोनों जांघोंकी छाया सात विलस्त प्रमाण जानना । और सूर्यके अस्त होनेके कालमें भी सात विलस्त छाया रहे तव स्वाध्याय समाप्त करना चाहिये ॥ २७१ ॥

आसाढे दुपदा छाया पुस्समासे चदुप्पदा ।
वड्ढदे हीयदे चावि मासे मासे दुअंगुला ॥ २७२ ॥

आषाढे द्विपदा छाया पुष्यमासे चतुष्पदा ।
वर्धते हीयते चापि मासे मासे द्व्यंगुला ॥ २७२ ॥

अर्थ—आषाढ महीनेके अंतदिवसमें पूर्वाह्णके समय दो पहर पहले जंघा छाया दो विलस्त अर्थात् बारह अंगुल प्रमाण होती है और पौषमासमें अंतके दिनमें चौवीस अंगुल प्रमाण जंघाछाया होती है । और फिर महीने महीनेमें दो दो अंगुल बढती घटती रहती है ॥ सब संध्याओंमें आदि अंतकी दो दो घड़ी छोड़ स्वाध्यायकाल है ॥ २७२ ॥

णवसत्तपंचगाहापरिमाणं दिसिविभागसोधीए ।
पुव्वण्हे अवरण्हे पदोसकाले य सज्झाए ॥ २७३ ॥

नवसप्तपंचगाथापरिमाणं दिशाविभागशुद्ध्या ।
पूर्वाह्ने अपराह्ने प्रदोपकाले च स्वाध्याये ॥ २७३ ॥

अर्थ—दिशाओंके पूर्व आदि भेदोंकी शुद्धिके लिये प्रातःकालमें नौ गाथाओंका, तीसरे पहर सात गाथाओंका, सायंकालके समय पांच गाथाओंका स्वाध्याय (पाठ व जाप) करे ॥ २७३ ॥

आगे दिशादाह आदिक दोषोंको वतलाते हैं उनके अभावसे कालशुद्धि होती है;—

दिसदाह उक्कपडणं विज्जु चडुक्कासणिंदधणुगं च ।
दुग्गंधसज्झदुद्दिणचंदग्गहसूरराहुजुज्झं च ॥ २७४ ॥

दिग्दाहः उल्कापतनं विद्युत् चडत्काराशनींद्रधनुश्च ।
दुर्गंधसंध्यादुर्दिनचंद्रग्रहसूरराहुयुद्धं च ॥ २७४ ॥

अर्थ—उत्पातसे दिशाका अग्निवर्ण (लाल) होना, ताराके आकार पुद्गलका पड़ना, विजलीका चमकना, मेघोंके संघट्टसे

उत्पन्न वज्रपात, ओले वरसना, धनुषके आकार पंचवर्ण पुद्गलोंका दीखना, दुर्गंध, लालपीलेवर्णके आकार सांझका समय, वादला-ओंसे आच्छादित दिन, चंद्रमा ग्रह सूर्य राहुके विमानोंका आप-समें टकराना ॥ २७४ ॥

कलहादिधूमकेदू धरणीकंपं च अब्भगज्जं च ।
इच्चेवमाइबहुया सज्झाए वज्जिदा दोसा ॥ २७५ ॥

कलहादिधूम्रकेतुः धरणीकंपश्च अभ्रगर्जं च ।
इत्येवमादिबहुका स्वाध्याये वर्जिता दोषाः ॥ २७५ ॥

अर्थ—लड़ाईके वचन, लकड़ी आदिसे झगड़ा, आकाशमें धुआंके आकार रेखाका दीखना, धरती कंप, वादलोंका गर्जना, महा पवनका चलना अग्निदाह–इत्यादि बहुतसे दोष स्वाध्यायमें वर्जित किये गये हैं अर्थात् ऐसे दोषोंके होनेपर नवीन पठन पाठन नहीं करना चाहिये ॥ २७५ ॥

अब द्रव्य क्षेत्र भावशुद्धिको कहते हैं;—

रुहिरादिपूयमंसं दव्वे खेत्ते सदहत्थपरिमाणं ।
कोधादिसंकिलेसा भावविसोही पढणकाले ॥ २७६ ॥

रुधिरादि पूतिमांसं द्रव्ये क्षेत्रे शतहस्तपरिमाणं ।
क्रोधादिसंक्लेशो भावविशुद्धिः पठनकाले ॥ २७६ ॥

अर्थ—लोही मल मूत्र वीर्य हाड पीव (राधि) मांस रूप द्रव्यका शरीरसे संबंध नहीं करना । उस जगहसे चारों दिशा-ओंमें सौ सौ हाथप्रमाण स्थान छोडना । क्रोध मान माया लोभ ईर्षादि भाव नहीं करना वह क्रमसे द्रव्यशुद्धि क्षेत्रशुद्धि भाव-शुद्धि पठनकालके समय कहीगई है ॥ २७६ ॥

अब पढे जानेवाले सूत्रोंको कहते हैं;—

सुत्तं गणधरकधिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकथिदं च ।
सुदकेवलिणा कधिदं अभिण्णदसपुव्वकधिदं च २७७

सूत्रं गणधरकथितं तथैव प्रत्येकबुद्धिकथितं च ।
श्रुतकेवलिना कथितं अभिन्नदशपूर्वकथितं च ॥ २७७ ॥

अर्थ—अंग पूर्व वस्तु प्राभृतरूप सूत्र गणधरकथित श्रुतकेवलीकथित अभिन्नदशपूर्वकथित होता है ॥ २७७ ॥

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स ।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुंअसज्झाए ॥ २७८ ॥

तत् पठितुमस्वाध्याये नो कल्प्यते विरते स्त्रीवर्गस्य ।
इतः अन्यः ग्रंथः कल्प्यते पठितुं अस्वाध्याये ॥ २७८ ॥

अर्थ—वे चार प्रकारके सूत्र कालशुद्धि आदिके विना संयमियोंको तथा आर्यिकाओंको नहीं पढने चाहिये । इनसे अन्य ग्रंथ कालशुद्धि आदिके न होनेपर भी पढने योग्य माने गये हैं ॥ २७८ ॥

अब उन अन्यग्रंथोंको वतलाते हैं;—

आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ ।
पच्चक्खाणावासयधम्मकहाओ य एरिसओ ॥ २७९ ॥

आराधनानिर्युक्तिः मरणविभक्तिश्च संग्रहः स्तुतयः ।
प्रत्याख्यानावश्यकधर्मकथाश्च ईदृशः ॥ २७९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओंका स्वरूप कहनेवाला ग्रंथ, सत्रह प्रकारके मरणको वर्णन करनेवाला ग्रंथ, पंचसंग्रहग्रंथ, स्तोत्रग्रंथ, आहार आदिके त्यागका उपदेश करनेवाला,

सामायिक आदि छह आवश्यकको कहनेवाला, महापुरुषोंके चरित्रको वर्णनकरनेवाला ग्रंथ–इसतरहके ग्रंथोंको काल शुद्धि आदि न होनेपरभी पढना चाहिये ॥ २७९ ॥

उद्देस समुद्देसे अणुणापणए अ होंति पंचेव ।
अंगसुदखंधझेणुवदेसा विय पदविभागी य २८०

उद्देशे समुद्देशे अनुज्ञापणायां च भवंति पंचैव ।
अंगश्रुतस्कंधप्राभृतप्रदेशा अपि पदविभागी च ॥ २८० ॥

अर्थ—बारह अंग चौदहपूर्व वस्तु प्राभृत प्राभृतप्राभृत इनके पादविभागसे प्रारंभमें वा समाप्तिमें वा गुरुओंकी अवज्ञा होनेपर पांच पांच उपवास अथवा प्रायश्चित्त अथवा कायोत्सर्ग कहे गये हैं ॥ २८० ॥

अब विनयशुद्धिको कहते हैं;—

पलियंकणिसेज्जगदो पडिलेहियअंजलीकदपणामो ।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए ॥२८१॥

पर्यंकनिषद्यागतः प्रतिलेख्य अंजलिकृतप्रणामः ।
सूत्रार्थयोगयुक्तः पठितव्यः आत्मशक्त्या ॥ २८१ ॥

अर्थ—पल्यंक आसन अथवा वीरासनादिकर बैठा हुआ, पुस्तकको देखकर पीछीसे भूमिको सोधकर हाथकी अंजुलीसे प्रणाम करनेवाला, अंगादि ग्रंथोंको अर्थका विरोध मेंटकर अपनी शक्तिके अनुसार पढे ॥ २८१ ॥

आगे उपधान शुद्धिको कहते हैं;—

आयंबिल णिव्वियडी अण्णं वा होदि जस्स कादव्वं ।
तं तस्स करेमाणो उपहाणजुदो हवदि एसो ॥ २८२ ॥

आचाम्लं निर्विकृतिः अन्यत् वा भवति यस्य कर्तव्यं ।
तत् तस्य कुर्वाणः उपधानयुतो भवति एषः ॥ २८२ ॥

अर्थ—कांजीका आहार (आचाम्ल) अथवा नीरस निर्विकार अन्नादिका आहार (निर्विकृतितप) तथा और भी जिस शास्त्रके योग्य जो क्रिया कही हो उसका नियम करना वह उपधान है इससे भी शास्त्रका आदर होता है ॥ २८२ ॥

आगे बहुमानका स्वरूप कहते हैं;—

सुत्तत्थं जप्पंतो वायंतो चावि णिज्जराहेदुं ।
आसादणं ण कुज्जा तेण किदं होदि बहुमाणं ॥२८३॥

सूत्रार्थं जल्पयन् वाचयंश्चापि निर्जराहेतोः ।
आसादनां न कुर्यात् तेन कृतं भवति बहुमानं ॥ २८३ ॥

अर्थ—अंगपूर्वादिका सम्यक् अर्थ उच्चारण करता वा पढता पढाता हुआ जो भव्य कर्मनिर्जराके लिये अन्य आचार्योंका वा शास्त्रोंका अपमान (अनादर) नहीं करता है वही बहुमान गुणको पालता है ॥ २८३ ॥

आगे निह्नवका स्वरूप कहते हैं;—

कुलवयसीलविहूणे सुत्तत्थं सम्मगागमित्ताणं ।
कुलवयसीलमहल्ले णिण्हवदोसो दु जप्पंतो ॥ २८४ ॥

कुलव्रतशीलविहीनाः सूत्रार्थं सम्यगवगम्य ।
कुलव्रतशीलमहतो निह्नवदोषस्तु जल्पंतः ॥ २८४ ॥

अर्थ—गुरूका संतान, अहिंसादिव्रत, और व्रतकी रक्षारूप शील–इनकर रहित (मलिन) मठादिकका सेवनकर कुलव्रत शीलसे महान् गुरुके पास अच्छीतरह पढकर कहे कि मैंने जैन-

गुरूसे जैनग्रंथ एक भी नहीं पढा । मुझे तो अन्यमतके शास्त्रोंसे इतना ज्ञान हुआ है-इसतरह शास्त्र और गुरुका नाम छिपाना वह निह्नव दोष है उसे न कर शास्त्रका अभ्यास करना चाहिये नहीं तो ज्ञानावरणकर्मका तीव्रबंध होगा ॥ २८४ ॥

विंजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयविसुद्धं ।
पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो ॥ २८५ ॥

व्यंजनशुद्धं सूत्रं अर्थविशुद्धं च तदुभयविशुद्धं ।
प्रयत्नेन च जल्पन् ज्ञानविशुद्धो भवति एषः ॥ २८५ ॥

अर्थ—जो सूत्रको अक्षरशुद्ध अर्थशुद्ध अथवा दोनोंकर शुद्ध सावधानीसे पढता पढाता है उसीके शुद्धज्ञान होता है ॥ २८५ ॥

आगे विनयकरनेका फल दिखलाते हैं;—

विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं ।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि ॥ २८६ ॥

विनयेन श्रुतमधीतं यद्यपि प्रमादेन भवति विस्मृतं ।
तदुपतिष्ठते परभवे केवलज्ञानं च आवहति ॥ २८६ ॥

अर्थ—विनयसे पढा हुआ शास्त्र किसी समय प्रमादसे विस्मृत हो जाय (याद न रहे) तौभी वह अन्यजन्ममें स्मरण (याद) आजाता है संस्कार रहता है और क्रमसे केवलज्ञानको प्राप्त कराता है ॥ २८६ ॥

आगे चारित्राचार कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

णाणाचारो एसो णाणगुणसमण्णिदो मए वुत्तो ।
एत्तो चरणाचारं चरणगुणसमण्णिदं वोच्छं ॥ २८७ ॥

ज्ञानाचारः एषः ज्ञानगुणसमन्वितो मया उक्तः ।

इतः चरणाचारं चरणगुणसमन्वितं वक्ष्ये ॥ २८७ ॥

अर्थ—ज्ञानगुणसहित यह ज्ञानाचार मैंने कहा । अब यहांसे आचरण गुणसहित चारित्राचारको कहता हूं ॥ २८७ ॥

पाणिवहमुसावादअदत्तमेहुणपरिग्गहा विरदी ।
एस चारित्ताचारो पंचविहो होदि णादव्वो ॥ २८८ ॥

प्राणिवधमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहाणां विरतयः ।
एष चारित्राचारः पंचविधो भवति ज्ञातव्यः ॥ २८८ ॥

अर्थ—प्राणियोंकी हिंसा, झूठबोलना, चोरी, मैथुनसेवन, परिग्रह–इनका त्यागकरना वह अहिंसा आदि पांचप्रकारका चारित्राचार जानना ॥ २८८ ॥

अब अहिंसा आदिका स्वरूप कहते हैं;—

एइंदियादिपाणा पंचविधावज्जभीरुणा सम्मं ।
ते खलु ण हिंसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ २८९

एकेंद्रियादिप्राणाः पंचविधावद्यभीरुणा सम्यक् ।
ते खलु न हिंसितव्याः मनोवाक्कायैः सर्वत्र ॥ २८९ ॥

अर्थ—सब देश और सब कालमें मन वचन कायसे एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्रिय प्राणियोंके प्राण पांचप्रकारके पापोंसे डरनेवालेको नहीं घातने चाहिये अर्थात् जीवोंकी रक्षा करना अहिंसाव्रत है ॥ २८९ ॥

हस्सभयकोहलोहा मणिवचिकायेण सव्वकालम्मि ।
मोसं ण य भासिज्जो पच्चयघादी हवदि एसो ॥२९०॥

हास्यभयक्रोधलोभैः मनोवाक्कायैः सर्वकाले ।
मृषां न च भाषयेत् प्रत्ययघाती भवति एषः ॥ २९० ॥

अर्थ—हास्यसे, भयसे, क्रोधसे, लोभसे मन वचन कायकर किसी समयमें भी विश्वासघातक दूसरेको पीडा करनेवाला झूठ वचन न बोले । वह सत्यव्रत है ॥ २९० ॥

गामे णगरेरण्णे थूल सचित्तं बहु सपडिवक्खं ।
तिविहेण वज्जिदव्वं अदिण्णगहणं च तण्णिच्चं ॥ २९१

ग्रामे नगरेऽरण्ये स्थूलं सचित्तं बहु सप्रतिपक्षं ।
त्रिविधेन वर्जितव्यं अदत्तग्रहणं च तन्नित्यं ॥ २९१ ॥

अर्थ—ग्राम नगर वन आदिमें स्थूल अथवा सूक्ष्म सचित्त अथवा अचित्त बहुत अथवा थोड़ा भी सुवर्णादि धन धान्य द्विपद चतुष्पदादि परिग्रह विना दिया मिल जाय तो उसे मन वचन कायसे हमेशा त्याग करना (छोड़ना) चाहिये । यह अचौर्यव्रत है ॥ २९१ ॥

अच्चित्तदेवमाणुसतिरिक्खजादं च मेहुणं चदुधा ।
तिविहेण तं ण सेवदि णिच्चं पि मुणी हि पयदमणो ॥

अचित्तदेवमानुपतिर्यग्जातं च मैथुनं चतुर्धा ।
त्रिविधेन तत् न सेवते नित्यं अपि मुनिर्हि प्रयतमनाः २९२

अर्थ—चित्र लेप आदिकी बनीहुई अचेतन तथा देवी मानुषी तिर्यंचिनी सचेतन स्त्री ऐसी चार प्रकार स्त्रीको मन वचन कायसे जो ध्यान स्वाध्यायमें लगा हुआ मुनि है वह हमेशा किसी समय भी नहीं सेवन करता है । सबको माता बहिन पुत्रीके समान समझता है । यही ब्रह्मचर्यव्रत है ॥ २९२ ॥

गामं णगरं रण्णं थूलं सचित्त बहु सपडिवक्खं ।
अज्झत्थ बाहिरत्थं तिविहेण परिग्गहं वज्जे ॥ २९३ ॥

ग्रामं नगरं अरण्यं स्थूलं सचित्तं बहु सप्रतिपक्षं ।
अध्यात्म बहिःस्थं त्रिविधेन परिग्रहं वर्जयेत् ॥ २९३ ॥

अर्थ—गाम नगर वन क्षेत्र घर दासीदास गाय भैंस बहुत प्रकारके अथवा सूक्ष्म अचेतन एकरूप वस्त्रसुवर्ण आदि बाह्य-परिग्रह और मिथ्यात्व आदि अंतरंग परिग्रह–इन सबको मन-बचनकाय कृत कारित अनुमोदनासे मुनि आदिको त्यागना चाहिये ॥ यह परिग्रहत्याग व्रत है ॥ २९३ ॥

आगे महाव्रत शब्दकी व्युत्पत्ति (अक्षरार्थ) करते हैं;—

साहंति जं महत्थं आचरिदाणी अ जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाणि तदो महव्वदाइं भवे ताइं ॥ २९४ ॥
साधयंति यत् महार्थं आचरितानि च यत् महद्भिः ।
यच्च महांति ततः महाव्रतानि भवंति तानि ॥ २९४ ॥

अर्थ—जिसकारण महान् मोक्षरूप अर्थको सिद्ध करते हैं और महान् तीर्थंकरादि पुरुषोंने जिनका पालन किया है सब पापयोगोंका त्याग होनेसे स्वतः ही पूज्य हैं इसलिये इनका नाम महाव्रत है ॥ २९४ ॥

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठय पवयणमादा य भावणाओ य सव्वाओ॥२९५॥
तेषां चैव व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजननिवृत्तिः ।
अष्टौ च प्रवचनमातरश्च भावनाश्च सर्वाः ॥ २९५ ॥

अर्थ—उन महाव्रतोंकी ही रक्षाके लिये रातमें भोजनका त्याग, समिति आदि आठ प्रवचन माता और पच्चीस भावना हैं ऐसा जानना ॥ २९५ ॥

तेसिं पंचण्हंपि य वयाणमावज्जणं च संका वा।
आदविवत्ती अ हवे रादीभत्तप्पसंगेण ॥ २९६ ॥

तेषां पंचानामपि च व्रतानामावर्जनं च शंका वा।
आत्मविपत्तिश्च भवेत् रात्रिभक्तप्रसंगेन ॥ २९६ ॥

अर्थ—उन मुनियोंके रात्रिभोजनके लिये गमन करनेसे पांच व्रतोंका भंग अथवा मलिनता, चोर आदिकी शंका और कोतवाल आदिसे बंधने आदिकी विपत्ति अपने ऊपर आपड़ती है। इसलिये रात्रिभोजनका त्याग अवश्य करना ॥ २९६ ॥

आगे आठ प्रवचनमाताओंसे आठ भेद चारित्रके होते हैं;—

पणिधाणजोगजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
एस चरित्ताचारो अट्ठविधो होइ णायव्वो ॥ २९७ ॥

प्रणिधानयोगयुक्तो पंचसु समितिषु त्रिषु गुप्तिषु।
एष चरित्राचारः अष्टविधो भवति ज्ञातव्यः ॥ २९७ ॥

अर्थ—परिणामके संयोगसे पांच समिति तीन गुप्तियोंमें न्यायरूप प्रवृत्ति वह आठ भेदवाला चारित्राचार है ऐसा जानना ॥ २९७ ॥

पणिधाणंपि य दुविहं पसत्थ तह अपसत्थं च।
समिदीसु य गुत्तीसु य सत्थं सेसमप्पसत्थं तु २९८

प्रणिधानमपि च द्विविधं प्रशस्तं तथा अप्रशस्तं च।
समितिषु च गुप्तिषु च शस्तं शेषमप्रशस्तं तु ॥ २९८ ॥

अर्थ—परिणामके भी दो भेद हैं–शुभ और अशुभ। पांच समिति और तीन गुप्तियोंमें जो परिणाम वे शुभ होते हैं और शेष इन्द्रियविषयोंमें जो परिणाम है वह अशुभ है ॥ २९८ ॥

सद्दरसरूवगंधे फासे य मणोहरे य इदरे य।
जं रागदोसगमणं पंचविहं होइ पणिधाणं ॥ २९९ ॥
शब्दरसरूपगंधे स्पर्शे च मनोहरे च इतरे च।
यत् रागद्वेषगमनं पंचविधं भवति प्रणिधानं ॥ २९९ ॥

अर्थ—शब्द रस रूप गंध स्पर्श इन पांचोंके शोभन अशोभनस्वरूपमें जो राग द्वेषका होना वह इन्द्रियप्रणिधान पांचप्रकारका है ॥ २९९ ॥

णोइंदियपणिधाणं कोहे माणे तहेव मायाए।
लोहे य णोकसाए मणपणिधाणं तु तं वज्जे ॥ ३०० ॥
नोइन्द्रियप्रणिधानं क्रोधे माने तथैव मायायां।
लोभे च नोकषाये मनःप्रणिधानं तु तत् वर्जयेत् ॥ ३०० ॥

अर्थ—क्रोधमें, मानमें, मायामें, लोभमें इसी प्रकार अनंतानुबंधी क्रोध आदि कषायोंमें तथा हास्यादि नव नोकषायोंमें मनके व्यापारको करना वह मनःप्रणिधान है, उसको छोड़ना चाहिये ॥ ३०० ॥

णिक्खेवणं च गहणं इरियाभासेसणा य समिदीओ।
पदिठावणियं च तहा उच्चारादीण पंचविहा ॥ ३०१ ॥
निक्षेपणं च ग्रहणं ईर्याभाषैषणाश्च समितयः।
प्रतिष्ठापनं च तथा उच्चारादीनां पंचविधा ॥ ३०१ ॥

अर्थ—पुस्तकादिका यत्नपूर्वक देखकर रखना उठाना स्वरूप आदाननिक्षेपण समिति, ईर्या, भाषा, एषणासमिति और मूत्रविष्ठा आदिका प्रासुक जगहमें क्षेपण करने रूप प्रतिष्ठापना समिति—इस तरह समितियोंके पांच भेद हैं ॥ ३०१ ॥

मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि ३०२

मार्गोद्योतोपयोगालंबनशुद्धिभिः ईर्यतो मुनेः।
सूत्रानुवीच्या भणिता ईर्यासमितिः प्रवचने ॥ ३०२ ॥

अर्थ—मार्ग, नेत्र सूर्यका प्रकाश, ज्ञानादिमें यत्न, देवता आदि आलंबन–इनकी शुद्धतासे तथा प्रायश्चित्तादि सूत्रोंके अनुसारसे गमन करते मुनिके ईर्यासमिति होती है ऐसा आगममें कहा है ॥ ३०२ ॥

इरियावहपडिवण्णेणवलोगंतेण होदि गंतव्वं।
पुरदो जुगप्पमाणं सयाप्पमत्तेण सत्तेण ॥ ३०३ ॥

ईर्यापथप्रतिपन्नेनावलोकयता भवति गंतव्यं।
पुरतः युगप्रमाणं सदा अप्रमत्तेन सता ॥ ३०३ ॥

अर्थ—कैलाश गिरनार आदि यात्राके कारण गमन करना हो तो ईर्यापथसे आगेकी चार हाथ प्रमाण भूमिको सूर्यके प्रकाशसे देखता मुनि सावधानीसे हमेशा गमन करे ॥ ३०३ ॥

सयडं जाणं जुग्गं वा रहो वा एवमादिया।
बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ भवे॥३०४॥

शकटं यानं युग्यं वा रथो वा एवमादिकाः।
बहुशो येन गच्छंति स मार्गः प्रासुकः भवेत् ॥ ३०४ ॥

अर्थ—बैलगाडी आदि गाडी, हाथीकी अंबारी, डोली आदि, घोड़ा आदिकर सहित रथ इत्यादिक बहुतबार जिस मार्गसे चलते हों वह मार्ग प्रासुक (पवित्र) है ॥ ३०४ ॥

हत्थी अस्सो खरोट्टो वा गोमहिसगवेलया।

बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ भवे ॥३०५॥

हस्ती अश्वः खर उष्ट्रो वा गोमहिषगवेलकाः ।

बहुशः येन गच्छंति स मार्गः प्रासुको भवेत् ॥ ३०५ ॥

अर्थ—हाथी घोडा गधा ऊंट गाय भैंस बकरी आदि जीव बहुत वार जिस रास्तेसे गये हों वह मार्ग प्रासुक है ॥ ३०५ ॥

इच्छी पुंसादिगच्छंति आदावेण य जं हदं ।
सत्थपरिणदो चेव सो मग्गो फासुओ हवे ॥ ३०६ ॥

स्त्रियः पुरुषा अतिगच्छंति आतापेन च यो हतः ।

शस्त्रपरिणतश्चैव स मार्गः प्रासुकः भवेत् ॥ ३०६ ॥

अर्थ—स्त्री पुरुष जिस मार्गमें तेजीसे गमन करें और जो सूर्य आदिके आतापसे व्याप्त हो तथा हल आदिसे जोता गया हो वह मार्ग प्रासुक है। ऐसे मार्गसे चलना योग्य है ॥ ३०६ ॥

सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवे सुद्धा ॥३०७॥

सत्यं असत्यमृषा अलीकादिदोषवर्ज्यमनवद्यं ।

वदतः अनुवीच्या भाषासमितिः भवेत् शुद्धा ॥ ३०७ ॥

अर्थ—द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा सत्यवचन, सामान्यवचन, मृषावादादि दोष रहित, पापोंसे रहित आगमके अनुसार बोलनेवाले मुनिके शुद्ध भाषा समिति होती है ॥ ३०७ ॥

आगे सत्यवचनके भेद वतलाते हैं;—

जणवदसम्मदठवणा णामे रूवे पडुच्चसच्चे य ।
संभावणववहारे भावे ओपम्मसच्चे व ॥ ३०८ ॥

जनपदसम्मतस्थापनायां नाम्नि रूपे प्रतीत्यसत्ये च ।

संभावनाव्यवहारे भावे औपम्यसत्ये च ॥ ३०८ ॥

अर्थ—सत्यवचनके दस भेद हैं–जनपदसत्य, संमतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, संभावनासत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य, उपमासत्य ॥ ३०८ ॥

जणपदसच्चं जध ओदणादि रुचिदे य सव्वभासाए ।
बहुजणसम्मदमवि होदि जं तु लोए तहा देवी ३०९

जनपदसत्यं यथा ओदनादिरौचित्ये च सर्वभाषया ।
बहुजनसम्मतमपि भवति यत्तु लोके तथा देवी ॥ ३०९ ॥

अर्थ—देशसत्य वह है कि जो सब भाषाओंसे भातके नाम जुदे २ बोले जाते हैं जैसे चोरू कूल भक्त । और बहुतजनोंकर माना गया जो नाम वह संमतसत्य है जैसे लोकमें राजाकी स्त्रीको देवी कहना ॥ ३०९ ॥

ठवणा ठविदं जह देवदादि णामं च देवदत्तादि ।
उक्कडदरोत्ति वण्णे रूवे सेओ जध बलाया ॥ ३१० ॥

स्थापना स्थापितं यथा देवतादि नाम च देवदत्तादि ।
उत्कटतर इति वर्णेन रूपे श्वेता यथा बलाका ॥ ३१० ॥

अर्थ—जो अर्हंत आदिकी पाषाण आदिमें स्थापना वह स्थापनासत्य है । जो गुणकी अपेक्षा न रखकर व्यवहारके लिये देवदत्त आदि नाम रखना वह नाम सत्य है और जो रूपके बहुतपनेसे कहना कि बगुलाओंकी पंक्ति सफेद होती है यह रूपसत्य है ॥ ३१० ॥

अण्णं अपेच्छसिद्धं पडुच्चसत्यं जहा हवदि दिग्घं ।
ववहारेण य सच्चं रज्झदि कूरो जहा लोए ॥ ३११ ॥

अन्यदपेक्ष्यसिद्धं प्रतीत्यसत्यं यथा भवति दीर्घं ।
व्यवहारेण च सत्यं रध्यते क्रूरो यथा लोके ॥ ३११ ॥

अर्थ—अन्यकी अपेक्षासे जो कहा जाय वह प्रतीत्यसत्य है जैसे यह दीर्घ (बडा) है यहां ह्रस्वकी अपेक्षासे है । जो लोकमें भात पकता है ऐसा वचन कहा जाता है वह व्यवहारसत्य है ३११

संभावणा य सच्चं जदि णामेच्छेज्ज एव कुज्जंति ।
जदि सक्को इच्छेज्जो जंबूदीवं हि पल्लत्थे ॥ ३१२ ॥

संभावना च सत्यं यदि नाम इच्छेत् एवं कुर्यात् ।
यदि शक्रः इच्छेत् जंबूद्वीपं हि परिवर्तयेत् ॥ ३१२ ॥

अर्थ—जैसी इच्छा रखे वैसा ही करसके वह संभावनासत्य है जैसे इंद्र इच्छा करे तो जंबूद्वीपको पलटा सकता है ॥ ३१२॥

हिंसादिदोसविजुदं सच्चमकप्पियवि भावदो भावं ।
ओवम्मेण दु सत्यं जाणसु पलिदोवमादीया ॥ ३१३॥

हिंसादिदोषवियुतं सत्यमकल्पितमपि भावतो भावं ।
औपम्येन तु सत्यं जानीहि पल्योपमादिकं ॥ ३१३ ॥

अर्थ—जो हिंसादि दोष रहित अयोग्य वचन भी हो वह भावसत्य है जैसे किसीने पूछा कि चोर देखा उसने कहा कि नहीं देखा । जो उपमा सहित हो वह वचन उपमासत्य है जैसे पल्योपम सागरोपम आदि कहना ॥ ३१३ ॥

अब असत्यादिवचनको कहते हैं;—

तव्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सच्चमोसं तं ।
तव्विवरीदा भासा असच्चमोसा हवदि दिट्ठा ॥३१४॥

तद्विपरीतं मृषा तदुभयं यत्र सत्यमृषा तत् ।

तद्विपरीता भाषा असत्यमृषा भवति दृष्टा ॥ ३१४ ॥

अर्थ—दस सत्योंसे उलटा जो वचन वह असत्यवचन है, जहां दोनों हैं वह सत्यमृषा है और जो इससे विपरीत है वह असत्यमृषा भाषा है ॥ ३१४ ॥

अब असत्यमृषावचनके भेद कहते हैं;—

आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी भासा छट्ठी इच्छाणुलोमा य ॥ ३१५ ॥
संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा।
णवमी अणक्खरगया असच्चमोसा हवदि दिट्ठा ३१६

आमंत्रणी आज्ञापनी याचनी संपृच्छनी च प्रज्ञापनी।
प्रत्याख्यानी भाषा षष्ठी इच्छानुलोमा च ॥ ३१५ ॥
संशयवचनी च तथा असत्यमृषा च अष्टमी भाषा।
नवमी अनक्षरगता असत्यमृषा भवति दृष्टा ॥ ३१६ ॥

अर्थ—हे देवदत्त ऐसा बोलकर संमुखकरना वह आमंत्रणी भाषा, आज्ञा करनेरूप आज्ञापनी, याचनीभाषा, पूछनेरूप पृच्छनी भाषा, जतलानेरूप प्रज्ञापनी भाषा, त्याग लेनेरूप प्रत्याख्यानी भाषा, इच्छाके अनुकूल बोलनेरूप इच्छानुलोमा छठी भाषा। संशयरूप अर्थको कहनेवाली संशयवचनी भाषा, भैंस आदिका शब्द स्वरूप आठमी असत्यमृषा है। और अनक्षरी दिव्यध्वनि-रूप वाणी वह नौमी अनक्षरगता असत्यमृषा कही है। इन भाषाओंमें विशेषका जानना न होनेसे सत्य भी नहीं कहसकते और सामान्य ज्ञान होनेसे असत्य भी नहीं कहसकते, इसलिये ये नौ असत्यमृषा भाषा कहलातीं हैं ॥ ३१५ ॥ ३१६ ॥

सावज्जजोग्गवयणं वज्जंतोऽवज्जभीरु गुणकंखी ।
सावज्जवज्जवयणं णिच्चं भासेज्ज भासंतो ॥ ३१७ ॥

सावद्यायोग्यवचनं वर्जयन् अवद्यभीरुः गुणकांक्षी ।
सावद्यवर्ज्यवचनं नित्यं भाषयेत् भाषयन् ॥ ३१७ ॥

अर्थ—जो पापोंसे डरता है गुणोंको चाहता है पापसहित अयोग्य वचनोंको छोडना चाहता है वह पापरहित वचनोंको हमेशा बोलै यह भी सत्यवचन है ॥ ३१७ ॥

आगे एषणा समितिको कहते हैं;—

उग्गमउप्पादणएसणेहिं पिंडं च उवधि सज्जं च ।
सोधंतस्स य मुणिणो परिसुज्झइ एसणासमिदी ३१८

उद्गमोत्पादनैषणैः पिंडं च उपधिं शय्यां च ।
शोधयतश्च मुनेः परिशुद्ध्यति एषणासमितिः ॥ ३१८ ॥

अर्थ—उद्गम उत्पादन अशन दोषोंसे आहार, पुस्तकादि उपधि, वसतिकाको शोधनेवाले मुनिके शुद्ध एषणा समिति होती है । इन दोषोंका स्वरूप आगे कहा जायगा ॥ ३१८ ॥

आगे आदाननिक्षेपण समितिको कहते हैं;—

आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा पमज्जेज्जो ।
दव्वं च दव्वठाणं संजमलद्धीए सो भिक्खू ॥ ३१९ ॥

आदाने निक्षेपे प्रतिलेख्य चक्षुषा प्रमार्जयेत् ।
द्रव्यं च द्रव्यस्थानं संयमलब्ध्या स भिक्षुः ॥ ३१९ ॥

अर्थ—ग्रहण और रखनेमें पीछी कमंडलु आदि वस्तुको तथा वस्तुके स्थानको चक्षुसे अच्छीतरह देखकर पीछीसे जो शोधन

करता है वह संयमकी प्राप्तिसे साधु कहलाता है । यही आदाननिक्षेपण समिति है ॥ ३१९ ॥

सहसाणाभोइददुप्पमज्जिदअपचुवेक्खणा दोसा ।
परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥३२०॥

सहसानाभोगितदुष्प्रमार्जिताप्रत्युपेक्षणान् दोषान् ।
परिहरतः भवेत् समितिः आदाननिक्षेपा ॥ ३२० ॥

अर्थ—शीघ्रतासे, विनादेखे, अनादरसे, बहुतकालसे उपकरणोंका उठाना रखना स्वरूप दोषोंका जो त्याग करता है उसके आदाननिक्षेपण समिति होती है । **भावार्थ**—स्वस्थवृत्तिसे द्रव्य व द्रव्यस्थानको नेत्रोंसे देख कोमलपीछीसे पुस्तकादिको उठान रखना वही आदाननिक्षेपण समिति है ॥ ३२० ॥

वणदाहकिसिमसिकदे थंडिल्लेणुपरोधे वित्थिण्णे ।
अवगदजंतु विवित्ते उच्चारादी विसज्जेज्जो ॥ ३२१ ॥

वनदाहकृषिमषिकृते स्थंडिलेनुपरोधे विस्तीर्णे ।
अपगतजंतौ विविक्ते उच्चारादीन् विसर्जयेत् ॥ ३२१ ॥

अर्थ—दावाग्निसे जला हुआ प्रदेश, हलकर जुता हुअ स्थान, मसानभूमिका प्रदेश, खारसहित भूमि, लोग जहां रोकें नहीं ऐसी जगह, विशालस्थान, त्रस जीवोंरहित स्थान, जन रहित—ऐसी जगहमें मल मूत्रादिका त्याग करे ॥ ३२१ ॥

उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयादियं दव्वं ।
अच्चित्तभूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जेज्जो ॥ ३२२ ॥

उच्चारं प्रश्रवणं खेलं सिंघाणकादिकं द्रव्यं ।
अचित्तभूमिदेशे प्रतिलेख्य विसर्जयेत् ॥ ३२२ ॥

अर्थ—विष्ठा, मूत्र, कफ, नाकका मैल, आदि द्रव्यको हरे तृण आदिसे रहित प्रासुकभूमिमें अच्छीतरह देखकर निक्षेपण करे ॥ ३२२ ॥

रादो दु पमज्जित्ता पण्णसमणपेक्खिदम्मि ओगासे ।
आसंकविसुद्धीए अपहत्थगफासणं कुज्जा ॥ ३२३ ॥

रात्रौ तु प्रमार्जयित्वा प्रज्ञाश्रमणप्रेक्षिते अवकाशे ।
आशंकाविशुद्धये अपहस्तकस्पर्शनं कुर्यात् ॥ ३२३ ॥

अर्थ—रात्रिमें संघको पालनेवाले आचार्यसे देखे हुए स्थानको आप भी देख भालकर मल मूत्रादि क्षेपण करे । जो वहां सूक्ष्म-जीवकी आशंका हो तो उस आशङ्काकी शुद्धिकेलिये कोमल-पीछीको लेकर हथेलीसे उस जगहको देखे ॥ ३२३ ॥

जदि तं हवे असुद्धं बिदियं तदियं अणुण्णवे साहू ।
लघुए अणिछायारे ण देज्ज साधम्मिए गुरूयो ॥३२४॥

यदि तत् भवेत् अशुद्धं द्वितीयं तृतीयं अनुमन्येत साधुः ।
लघु अनिच्छाकारे न देयं सधर्मिणि गुरु अयः ॥३२४॥

अर्थ—जो पहला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा यदि वह भी अशुद्ध हो तो वह साधु तीसरा स्थान देखे । कोई समय रोगसे पीडित होके अथवा शीघ्रतासे अशुद्ध प्रदेशमें मल छूट जाय तो उस धर्मात्मा साधुको बड़ा प्रायश्चित्त न दे ॥ ३२४ ॥

पदिठवणासमिदीवि य तेणेव कमेण वण्णिदा होदि ।
बोसरणिज्जं दव्वं कुथंडिले वोसरत्तस्स ॥ ३२५ ॥

प्रतिष्ठापनासमितिरपि च तेनैव क्रमेण वर्णिता भवति ।
व्युत्सर्जनीयं द्रव्यं कुस्थंडिले व्युत्सृजतः ॥ ३२५ ॥

अर्थ—उसी कहे हुए क्रमसे प्रतिष्ठापना समिति भी वर्णन की गई है उसीक्रमसे त्यागने योग्य मलमूत्रादिको उक्त स्थंडिल स्थानमें निक्षेपण करे । उसीके प्रतिष्ठापना समिति शुद्ध होती है ॥ ३२५ ॥

एदाहिं सया जुत्तो समिदीहिं महिं विहरमाणोवि ।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकाआउले साहू ॥३२६॥

एताभिः सदा युक्तः समितिभिः मह्यां विहरमाणोपि ।
हिंसादिभिर्न लिप्यते जीवनिकायाकुलायां साधुः ॥३२६॥

अर्थ—इन पांच समितियोंसे हमेशा युक्त साधु जीवोंके समूहसे भरी हुई पृथ्वीमें विहार करता हुआ भी हिंसादि पापोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ३२६ ॥

पउमिणिपत्तं व जहा उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं
तह समिदीहिं ण लिप्पदि साधू काएसु इरियंतो ॥३२७॥

पद्मिनीपत्रं वा यथा उदकेन न लिप्यते स्नेहगुणयुक्तं ।
तथा समितीभिः न लिप्यते साधुः कायेषु ईर्यन् ॥ ३२७॥

अर्थ—जैसे कमलिनीका पत्र जलमें वढा है तौभी स्नेहगुण (चिकनाई) से युक्त हुआ जलसे लिप्त नहीं होता, उसीतरह समितियोंकर सहित साधु भी जीव समूहोंमें विहार करता हुआ पापसे लिप्त नहीं होता ॥ ३२७ ॥

सरवासेहि पडंतेहि जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहिं ।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो॥३२८॥

शरवर्षैः पतद्भिः यथा दृढकवचो न भिद्यते शरैः ।
तथा समितिभिः न लिप्यते साधुः कायेषु ईर्यन् ॥ ३२८॥

अर्थ—जैसे लड़ाईके स्थानमें बाणोंकी वर्षासे पड़ते हुए तीक्ष्णबाणोंसे दृढ बगतरवाला पुरुष भेदको प्राप्त नहीं होता उसीतरह छह जीवजातिसमूहोंमें विहार करता हुआ साधु समितियोंकर पापसे लिप्त नहीं होता ॥ ३२८ ॥

जत्थेव चरदि बालो परिहारण्हवि चरदि तत्थेव ।
वज्झदि पुण सो बालो परिहारण्ह विमुच्चदि सो॥३२९॥

यत्रैव चरति बालः परिहरमाणोपि चरति तत्रैव ।
बध्यते पुनः स बालः परिहरमाणो विमुच्यते सः ॥३२९॥

अर्थ—जहांपर बाल (अज्ञानी) भ्रमण करता है आचरण करता है वहां ही त्यागी साधु भी आचरण व भ्रमण करता है, परंतु अज्ञानी लिप्त होनेसे बंधता है और त्याग करनेवाला साधु यत्नाचारमें लीन होनेसे कर्मोंसे मुक्त होता है ॥ ३२९ ॥

तम्हा चेट्ठिदुकामो जइया तइया भवाहि तं समिदो ।
समिदो हु अण्ण णादियदि खवेदि पोराणगं कम्मं ॥ ३३०

तस्मात् चेष्टितुकामो यदा तदा भव त्वं समितः ।
समितः खलु अन्यत् नाददाति क्षपयति पुराणं कर्म ॥३३०॥

अर्थ—इसकारण हे मुनि ! जब गमनकरनेकी इच्छा है तब तू समितिमें परिणत हो, क्योंकि जो मुनि समितिमें परिणत होता है वह नवीन कर्मोंको तो ग्रहण नहीं करता और पुराने कर्मोंको क्षय करता है ॥ ३३० ॥

अब गुप्तिका स्वरूप कहते हैं;—

मणवचकायपउत्ती भिक्खू सावज्जकज्जसंजुत्ता ।
खिप्पं णिवारयंतो तीहिं दु गुत्तो हवदि एसो॥३३१॥

मनोवाक्कायप्रवृत्तिं भिक्षुः सावद्यकार्यसंयुक्तां ।
क्षिप्रं निवारयन् त्रिभिस्तु गुप्तो भवति एषः ॥ ३३१ ॥

अर्थ—हिंसादिकार्योंसे मिलीहुई मन वचन कायकी प्रवृत्तिको शीघ्र ही दूर करता हुआ साधु है वह तीन गुप्तिका धारक होता है ॥ ३३१ ॥

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होदि वचिगुत्ती॥३३२॥

या रागादिनिवृत्तिः मनसः जानीहि तां मनोगुप्तिं ।
अलीकादिनिवृत्तिः वा मौनं वा भवति वचोगुप्तिः॥३३२॥

अर्थ—जो मनकी रागद्वेष आदिसे निवृत्ति (त्याग) है उसे मनोगुप्ति समझो, और जो असत्य वचनोंका त्याग अथवा मौनकर ध्यान आदि वह वचनगुप्ति है ॥ ३३२ ॥

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि एसा ॥ ३३३ ॥

कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः ।
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिर्भवति एषा ॥ ३३३ ॥

अर्थ—शरीरसंबंधी चेष्टाकी अप्रवृत्ति वह शरीरगुप्ति है अथवा कायोत्सर्ग अथवा हिंसादिमें प्रवृत्ति न होना वह भी शरीरगुप्ति है ॥ ३३३ ॥

खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पापस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स॥३३४॥

क्षेत्रस्य वृतिः नगरस्य खातिका अथवा भवति प्राकारः ।
तथा पापस्य निरोधः ताः गुप्तयः साधोः ॥ ३३४ ॥

अर्थ—जैसे अनाजके खेतकी रक्षाके लिये वाड़ि होती है अथवा नगरकी रक्षारूप खाई तथा कोट होता है उसीतरह पापके रोकनेके लिये संयमी साधुके ये गुप्तियां होतीं हैं ॥ ३३४ ॥

तम्हा तिविहेण तुमं णिचं मणवयणकायजोगेहिं।
होहिसु समाहिदमई णिरंतरं झाण सज्झाए ॥ ३३५॥

तस्मात् त्रिविधेन त्वं नित्यं मनोवचनकाययोगैः ।
भव समाहितमतिः निरंतरं ध्याने स्वाध्याये ॥ ३३५ ॥

अर्थ—इसकारण हे साधु तू कृत कारित अनुमोदना सहित मनवचनकायके योगों (प्रवृत्ति) से हमेशा ध्यान और स्वाध्यायमें सावधानीसे चित्तको लगा ॥ ३३५ ॥

एताओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं ।
रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ॥३३६॥

एता अष्टप्रवचनमातरः ज्ञानदर्शनचारित्रं ।
रक्षंति सदा मुनेः माता पुत्रमिव प्रयताः ॥ ३३६ ॥

अर्थ—ये पांच समिति तीन गुप्तिरूप आठ प्रवचनमातायें मुनिके ज्ञान दर्शन चारित्रकी सदा ऐसे रक्षा करतीं हैं कि जैसे सावधान माता पुत्रकी रक्षा करती हो ॥ ३३६ ॥

आगे व्रतोंकी भावनाओंको कहते हैं;—

एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी तहा मणोगुत्ती ।
आलोयभोयणंपि य अहिंसाए भावणा पंच ॥३३७॥

एषणानिक्षेपादानेर्यासमितयः तथा मनोगुप्तिः ।
आलोक्यभोजनमपि च अहिंसाया भावनाः पंच ॥३३७॥

अर्थ—एषणासमिति, निक्षेपादानसमिति, ईर्यासमिति, मनो-

गुप्ति और देखकर अन्न पान लेनारूप आलोक्यपानभोजन–ये पांच अहिंसाव्रतकी पूर्णताकी भावनायें हैं ॥ ३३७ ॥

कोहभयलोहहासपइण्णा अणुवीचिभासणं चेव ।
बिदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति॥३३८॥

क्रोधभयलोभहास्यप्रतिज्ञाः अनुवीचिभाषणं चैव ।
द्वितीयस्य भावनाः व्रतस्य पंचेव ता भवंति ॥ ३३८ ॥

अर्थ—क्रोध भय लोभ हास्य इनका त्याग और सूत्रानुसार बोलना–ये पांच सत्यव्रतकी भावनायें हैं ॥ ३३८ ॥

जायणसमणुण्णमणा अणण्णभावोवि चत्तपडिसेवी।
साधम्मिओवकरणस्सणुवीचीसेवणं चावि ॥ ३३९ ॥

याञ्चा समनुज्ञापना अनन्यभावोपि त्यक्तप्रतिसेवी ।
साधर्मिकोपकरणस्यानुवीचिसेवनं चापि ॥ ३३९ ॥

अर्थ—आचार्यादिसे प्रार्थनाकर पुस्तकादि लेना, जिसके उपकरण हैं उसको जताकर लेना, दुष्टभाव अर्थात् परकी वस्तुमें आत्मबुद्धि न करना, निर्दोष धर्मोपकरण ग्रहण करना अथवा वियत (आचार्य) की सेवा करना, समानधर्मवालोंके पुस्तक पीछी आदि उपकरणोंको आगमके अनुसार सेवना–ऐसे ये अचौर्यमहाव्रतकी पांच भावनायें हैं ॥ ३३९ ॥

महिलालोयण पुव्वरदिसणं संसत्तवसधिविकहाहिं ।
पणिदरसेहिं य विरदी य भावणा पंच बम्हम्मि ॥३४०॥

महिलालोकनं पूर्वरतिस्मरणं संसक्तवसतिविकथाभ्यः ।
प्रणीतरसेभ्यश्च विरतिश्च भावनाः पंच ब्रह्मणि ॥ ३४० ॥

अर्थ—दुष्ट परिणामोंसे स्त्रियोंको देखना, पहले ग्रहस्थ अव-

स्थाके भोगोंको याद करना, द्रव्यसहित अथवा रागसहित वसतिका होना, संयमके विरुद्ध दुष्ट रागकथा करना, इष्टरूप पुष्टि करनेवाला मद करनेवाला आहार—इन पांचोंसे विरक्त होना त्याग करना वे पांच ब्रह्मचर्य महाव्रतकी भावनायें हैं ॥ ३४० ॥

अपरिग्गहस्स मुणिणो सद्दप्फरिसरसरूवगंधेसु ।
रागद्दोसादीणं परिहारो भावणा पंच ॥ ३४१ ॥

अपरिग्रहस्य मुनेः शब्दस्पर्शरसरूपगंधेषु ।
रागद्वेषादीनां परिहारः भावनाः पंच ॥ ३४१ ॥

अर्थ—परिग्रहरहित मुनिके शब्द स्पर्श रस रूप गंध इन पांच विषयोंमें राग द्वेष न होना—ये पांच, भावना परिग्रहत्यागमहाव्रतकी हैं ॥ ३४१ ॥

ण करेदि भावणाभाविदो हु पीलं वदाण सव्वेसिं ।
साधू पासुत्तो स मणागवि किं दाणि वेदंतो ॥ ३४२॥

न करोति भावनाभावितो हि पीडां व्रतानां सर्वेषां ।
साधुः प्रसुप्तः स मनागपि किमिदानीं वेदयन् ॥ ३४२ ॥

अर्थ—पचीस भावनाओंको भावता मुनि सोताहुआ भी सब व्रतोंकी विराधना नहीं करता तो जाग्रत अवस्थाकी क्या बात है। स्वप्नमें भी उन भावनाओंको ही देखता है व्रतोंकी विराधना नहीं देखता ॥ ३४२ ॥

एदाहि भावणाहिं हु तम्हा भावेहि अप्पमत्तो तुं ।
अच्छिद्दाणि अखंडाणि ते भविस्संति हु वदाणि॥३४३॥

एताभिः भावनाभिस्तु तस्मात् भावय अप्रमत्तस्त्वं ।
अच्छिद्राणि अखंडानि ते भविष्यंति खलु व्रतानि ॥३४३॥

अर्थ—इसलिये प्रमादरहित हुआ तू इन भावनाओंसे आत्माका चिंतवन कर क्योंकि इनके भावनेसे निश्चयकर निर्दोष संपूर्ण व्रत तेरे होंगे ॥ ३४३ ॥

अब तपाचार कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

एसो चरणाचारो पंचविधो वण्णिदो समासेण।
एत्तो य तवाचारं समासदो वण्णयिस्सामि ॥ ३४४ ॥

एष चरणाचारः पंचविधो वर्णितः समासेन।
इतश्च तप आचारं समासतो वर्णयिष्यामि ॥ ३४४ ॥

अर्थ—इसतरह ये पांच प्रकारका चारित्राचार संक्षेपसे कहा यहांसे आगे तपाचारको संक्षेपसे कहता हूं ॥ ३४४ ॥

दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो।
एक्केक्को विय छद्धा जधाकमं तं परूवेमो ॥ ३४५ ॥

द्विविधश्च तप आचारः बाह्य आभ्यंतरो ज्ञातव्यः।
एकैकोपि च षोढा यथाक्रमं तं प्ररूपयामि ॥ ३४५ ॥

अर्थ—तपाचारके दो भेद हैं–बाह्य, आभ्यंतर। उनमेंसे भी एक एकके छह छह भेद जानना। उनको मैं क्रमसे कहता हूं ॥ ३४५ ॥

आगे बाह्यतपका वर्णन करते हैं;—

अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसंखा।
कायस्स च परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं ॥३४६॥

अनशनं अवमौदर्यं रसपरित्यागश्च वृत्तिपरिसंख्या।
कायस्य च परितापो विविक्तशयनासनं षष्ठं ॥ ३४६ ॥

अर्थ—अनशन, अवमोदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिकी परिसंख्या,

कायशोषण, और छठा–विविक्तशयनासन–इसतरह बाह्यतपके छह भेद हैं ॥ ३४६ ॥

इतिरियं जावजीवं दुविहं पुण अणसणं मुणेदव्वं ।
इतिरियं साकंखं णिरावकंखं हवे बिदियं ॥ ३४७ ॥

इतिरियं यावज्जीवं द्विविधं पुनः अनशनं ज्ञातव्यं ।
इतिरियं साकांक्षं निराकांक्षं भवेत् द्वितीयं ॥ ३४७ ॥

अर्थ—अनशनतपके दो भेद हैं–इतिरिय, यावज्जीव । कालकी मर्यादासे इतिरिय होता है और दूसरा आकांक्षारहित होता है ॥ ३४७ ॥

छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहिं मासद्धमासखमणाणि ।
कणगेगावलिआदी तवोविहाणाणि णाहारे ॥ ३४८ ॥

षष्ठाष्टमदशमद्वादशैः मासार्धमासक्षमणानि ।
कनकैकावल्यादीनि तपोविधानानि अनाहारे ॥ ३४८ ॥

अर्थ—एकदिनमें दो भोजनवेला कहीं हैं । चार भोजन-वेलाका त्याग उसे चतुर्थ अथवा उपवास कहते हैं, छह भोजन-वेलाका त्याग वह दो उपवास कहे जाते हैं इसी को षष्ठतप कहते हैं । षष्ठ अष्टम दशम द्वादश, पंद्रह, एकमास त्याग, कनकावली एकावली मुरज मध्यविमानपंक्ति सिंहनिःक्रीडित इत्यादि तपोंके भेद जहां हैं वह सब साकांक्ष अनशनतप है ॥ ३४८ ॥

अब निराकांक्ष अनशनतपको कहते हैं;—

भत्तपइण्णा इंगिणि पाउवगमणाणि जाणि मरणाणि ।
अण्णेवि एवमादी बोधव्वा णिरवकंखाणि ॥ ३४९ ॥

भक्तप्रतिज्ञा इंगिनी प्रायोपगमनानि यानि मरणाणि ।

अन्यान्यपि एवमादीनि बोद्धव्यानि निरवकांक्षाणि॥३४९॥

अर्थ—मरणपर्यंत चारों प्रकारके आहारका त्याग करना वह निराकांक्ष अनशनतप है। उसके मुख्य तीन भेद हैं–भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण। जिसमें दोसे लेकर अड़तालीस तक निर्यापकमुनि जिसकी शरीरसेवा करें तथा आप भी अपने अंगोंसे शरीरकी टहल करे ऐसे मुनिके आहारका त्याग वह भक्तप्रतिज्ञा है। जिसमें परके उपकारकी अपेक्षा न हो वह इंगिनीमरण है, और जिसमें आप पर दोनोंकी अपेक्षा न हो वह प्रायोपगमनमरणत्याग है। इत्यादि अन्य भी निराकांक्ष त्यागसे लेकर सर्व निराकांक्ष अनशनतप जानना॥ ३४९ ॥

अब अवमौदर्यतपका स्वरूप कहते हैं;—

बत्तीसा किर कवला पुरिसस्स दु होदि पयदि आहारो।
एगकवलादिहिं ततो ऊणियगहणं उमोदरियं॥३५०॥

द्वात्रिंशत् किल कवलाः पुरुषस्य तु भवति प्रकृत्या आहारः।
एककवलादिभिस्तत ऊनितग्रहणं अवमौदर्यम्॥ ३५० ॥

अर्थ—पुरुषका स्वाभाविक आहार बत्तीस ग्रास होते हैं उनमेंसे एक गस्सा आदि कमती करके लेना वह अवमौदर्य तप है॥ ३५० ॥

धम्मावासयजोगे णाणादीये उवग्गहं कुणदि।
ण य इंदियप्पदोसयरी उमोदरितवोवुत्ती ॥ ३५१ ॥

धर्मावश्यकयोगेषु ज्ञानादिके उपग्रहं करोति।
न च इंद्रियप्रद्वेषकरी अवमौदर्यतपोवृत्तिः॥ ३५१ ॥

अर्थ—क्षमादि धर्मोंमें, सामायिकादि आवश्यकोंमें, वृक्ष-

मूलादि योगोंमें तथा स्वाध्याय आदिमें यह अवमौदर्य तपकी वृत्ति उपकार करती है और इंद्रियोंको स्वेच्छाचारी नहीं होने देती ३५१

आगे रसपरित्याग तपका स्वरूप कहते हैं;—

खीरदहिसप्पितेलगुडलवणाणं च जं परिचयणं।
तित्तकडुकसायंबिलमधुररसाणं च जं चयणं॥ ३५२॥

क्षीरदधिसर्पिस्तैलगुडलवणानां च यत् परित्यजनं।
तिक्तकटुकषायाम्लमधुररसानां च यत् त्यजनं॥ ३५२॥

अर्थ—दूध दही घी तेल गुड लवण (नोंन) इन छह रसोंका त्याग अथवा चर्परा कडुआ कसैला खट्टा मीठा इनमेंसे त्याग वह रसपरित्याग तप है॥ ३५२॥

आगे चार महाविकृतियोंको कहते हैं;—

चत्तारि महावियडी य होंति णवणीदमज्जमंसमधू।
कंखापसंगदप्पासंजमकारीओ एदाओ॥ ३५३॥

चतस्रो महाविकृतयश्च भवंति नवनीतमद्यमांसमधूनि।
कांक्षाप्रसंगदर्पासंयमकारिण एताः॥ ३५३॥

अर्थ—लोंनीघी, मदिरा, मांस, शहत ये चार महाविकृतियां हैं वे काम मद (अभिमान व नशा) और हिंसाको करतीं हैं॥ ३५३॥

आणाभिकंखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण।
ताओ जावज्जीवं णिव्वुड्ढाओ पुरा चेव॥ ३५४॥

आज्ञाभिकांक्षिणा अवद्यभीरुणा तपःसमाधिकामेन।
ताः यावज्जीवं निर्व्यूढा पुरा चैव॥ ३५४॥

अर्थ—सर्वज्ञकी आज्ञाको माननेवाले पापोंसे डरनेवाले और

तपकी क्रियामें सावधान रहनेवाले भव्यजीवको इन चारोंका मरणपर्यंत सबसे पहले त्याग करदेना चाहिये ॥ ३५४ ॥

आगे वृत्तिपरिसंख्यानतपको कहते हैं;—

गोयरपमाण दायगभायणणाणविधाण जं गहणं ।
तह एसणस्स गहणं विविधस्स वुत्तिपरिसंखा ॥३५५॥

गोचरप्रमाणं दायकभाजननानाविधानं यद्ग्रहणं ।
तथा अशनस्य ग्रहणं विविधस्य वृत्तिपरिसंख्या ॥ ३५५ ॥

अर्थ—गृहोंका प्रमाण, भोजनदाताका विशेष, कांसे आदि-पात्रका विशेष, और मौंठ सत्तू आदि भोजनका विशेष—इनमें अनेकतरहके विकल्प कर भोजन ग्रहण करना वह वृत्तिपरिसंख्यातप है। जैसे आज हम कांसेके पात्रमें अथवा सत्तू ही मिलेगा तभी आहार लेंगे नहीं तो न लेंगे इत्यादि कठिन प्रतिज्ञायें अंतरायकर्मकी परीक्षार्थ साधुजन करते हैं ॥ ३५५ ॥

आगे कायक्लेशतपको कहते हैं;—

ठाणसयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गयेहिं बहुगेहिं ।
अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो ॥३५६॥

स्थानशयनासनैश्च विविधैश्चावग्रहैः बहुभिः ।
अनुवीचिपरितापः कायक्लेशः भवति एषः ॥ ३५६ ॥

अर्थ—खड़ा रहना, एकपार्श्व मृतककी तरह सोना, वीरासनादिसे बैठना इत्यादि अनेक तरहके कारणोंसे शास्त्रके अनुसार आतापन आदि योगोंकर शरीरक्लेश देना वह कायक्लेशतप है ॥ ३५६ ॥

आगे विविक्तशय्यासनका स्वरूप कहते हैं;—

तेरिक्खी माणुस्सिय सविकारिणिदेविगेहिसंसत्ते ।
वज्जेंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे ॥ ३५७ ॥

तिरश्ची मानुषी सविकारणीदेवीगेहिसंसक्तान् ।
वर्जयंति अप्रमत्ता निलयान् शयनासनस्थानेषु ॥ ३५७ ॥

अर्थ—गायआदि तिर्यंचिनी, कुशील स्त्री, भवनवासी व्यंतरी देवी, असंयमी गृहस्थ–इनके रहनेके निवासोंको यत्नाचारी मुनि शयन आसन खड़ारहना इन तीन कार्योंमें छोड़ै अर्थात् वहां शयनादि न करे ॥ ३५७ ॥ उसीके विविक्तशय्यासन तप होता है ।

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि ।
जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हीयंते॥३५८॥

तत् नाम बाह्यतपः येन मनः दुष्कृतं न उत्तिष्ठति ।
येन च श्रद्धा जायते येन च योगा न हीयंते ॥ ३५८ ॥

अर्थ—हे शिष्य ! वही बाह्यतप है जिससे कि चित्तमें क्लेश (खेद) न हो, जिससे धर्ममें प्रीति बढे और जिससे मूलगुणोंमें कमी न हो ॥ ३५८ ॥

एसो दु बाहिरतवो बाहिरजणपायडो परम घोरो ।
अब्भंतरजणणादं वोच्छं अब्भंतरं वि तवं ॥ ३५९ ॥

एतत्तु बाह्यं तपो बाह्यजनप्रकटं परमं घोरं ।
अभ्यंतरजनज्ञातं वक्ष्ये अभ्यंतरमपि तपः ॥ ३५९ ॥

अर्थ—यह छह प्रकारका तप बाह्य मिथ्यादृष्टियोंके भी प्रगट अत्यंत दुर्धर हो सकता है इसलिये बाह्यतप कहाजाता है । और

जो आगममें प्रवेश करनेवाले ज्ञानी जनोंकर जाना गया ऐसा अंतरंगतप है उसे भी मैं कहता हूं ॥ ३५९ ॥

अब अंतरंगतपके भेदोंको कहते हैं;—

पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं ।
झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तवो एसो ॥३६०॥

प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्त्यं तथैव स्वाध्यायः ।
ध्यानं च व्युत्सर्गः अभ्यंतरं तपः एतत् ॥ ३६० ॥

अर्थ—प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्त्य स्वाध्याय ध्यान व्युत्सर्ग–ये छह भेद अंतरंग तपके हैं ॥ ३६० ॥

आगे प्रायश्चित्ततपका स्वरूप कहते हैं;—

पायच्छित्तं ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं ।
पायच्छित्तं पत्तोत्ति तेण वुत्तं दसविधं तु ॥ ३६१ ॥

प्रायश्चित्तं इति तपो येन विशुध्यति हि पूर्वकृतपापात् ।
प्रायश्चित्तं प्राप्त इति तेन उक्तं दशविधं तु ॥ ३६१ ॥

अर्थ—व्रतमें लगेहुए दोषोंको प्राप्त हुआ यति जिससे पूर्व किये पापोंसे निर्दोष होजाय वह प्रायश्चित्ततप है उसके दस भेद हैं ॥ ३६१ ॥

आलोयणपडिकमणं उभय विवेगो तहा विउस्सग्गो ।
तव छेदो मूलं विय परिहारो चेव सद्दहणा ॥ ३६२ ॥

आलोचना प्रतिक्रमणं उभयं विवेकं तथा व्युत्सर्गः ।
तपः छेदो मूलमपि च परिहारः चैव श्रद्धानं ॥ ३६२ ॥

अर्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, दोनों, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार, श्रद्धान–ये दश भेद प्रायश्चितके हैं ॥

चारित्रमें उत्पन्न हुए अपराधोंको आचार्यके सामने निवेदन करना वह आलोचना है, रात्रिभोजनत्यागव्रतके साथ महाव्रतोंकी भावना करना दिवस प्रतिक्रम पाक्षिकआदि प्रतिक्रमण करना वह प्रतिक्रमण है, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना वह उभय है, गणविवेक स्थानविवेक ऐसे दो प्रकारका विवेक है, कायोत्सर्गको व्युत्सर्ग कहते हैं, अनशनादि तप हैं, दीक्षाका पक्ष मासादिसे घटाना वह छेद है, फिर उस समयसे लेकर व्रत धारण करना वह मूल है, परिहारके दो भेद हैं गणप्रतिबद्ध अगणप्रतिबद्ध। उनमेंसे जहां गणमें बैठकर क्रिया करना कि जहां मुनिजन मूत्रादि करते हों वहां बैठ पीछी अगाड़ीकर यतिओंको वंदना करे उसको यति प्रतिवंदना न करे वह गणप्रतिबद्ध है। तथा जिस देशमें धर्म नहीं जाने वहां जाके मौनधारण करके तपश्चरण करना वह अगणप्रतिबद्ध है। तत्त्वोंमें रुचि होनेरूप परिणाम अथवा क्रोधादिका त्याग वह श्रद्धान है। इसतरह प्रायश्चित्तके दश भेद जानना॥३६२

पोराणकम्मखमणं खिवणं णिज्जरण सोधणं धुमणं।
पुच्छणमुछिवण छिदणं ति पायच्चित्तस्स णामाइं३६३

पुराणकर्मक्षपणं क्षेपणं निर्जरणं शोधनं धावनं।
पुच्छनं उत्क्षेपणं छेदनमिति प्रायश्चित्तस्य नामानि ॥३६३॥

अर्थ—पुराने कर्मोंका नाश, क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, पुच्छन (निराकरण) उत्क्षेपण, छेदन (द्वैधीकरण)—ये सब प्रायश्चित्तके नाम हैं ॥ ३६३ ॥

आगे विनयका स्वरूप कहते हैं;—

दंसणणाणे विणओ चरित्ततव ओवचारिओ विणओ।

पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ ३६४

दर्शनज्ञाने विनयः चारित्रतप औपचारिकः विनयः ।
पंचविधः खलु विनयः पंचमगतिनायको भणितः ॥३६४॥

अर्थ—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, तपोविनय, चारित्रविनय उपचारविनय–इसतरह विनयके पांच भेद हैं । यह विनय मोक्ष (सिद्ध)गतिको प्राप्त करानेवाला कहा गया है ॥ ३६४ ॥

उवगूहणादिआ पुव्वुत्ता तह भत्तिआदिआ य गुणा ।
संकादिवज्जणं पिय दंसणविणओ समासेण ॥ ३६५ ॥

उपगूहनादिकाः पूर्वोक्ता तथा भक्त्यादयश्च गुणाः ।
शंकादिवर्जनमपि च दर्शनविनयः समासेन ॥ ३६५ ॥

अर्थ—उपगूहन आदि पहले कहे हुए गुण, पंचपरमेष्ठीकी भक्ति आदि, और शंकादि दोषोंका त्याग होना वह संक्षेपसे दर्शनविनय कहा गया है ॥ ३६५ ॥

जे अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे ।
ते तह रोचेदि णरो दंसणविणओ हवदि एसो ३६६

ये अर्थपर्यायाः खलु उपदिष्टा जिनवरैः श्रुतज्ञाने ।
तान् तथा रोचयति नरः दर्शनविनयः भवति एषः ३६६

अर्थ—जो जिनवरदेवने द्वादशांग श्रुत ज्ञानमें स्थूल सूक्ष्म जीव अजीवादिद्रव्योंके पर्याय कहे हैं उसी प्रकार प्रतीति करना वह भव्यजीवके दर्शनविनय होता है ॥ ३६६ ॥

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे ।
वंजणअत्थतदुभयं विणओ णाणम्हि अट्ठविहो ३६७

काले विनये उपधाने बहुमाने तथैव अनिह्नवे ।

व्यंजनार्थतदुभयं विनयो ज्ञाने अष्टविधः ॥ ३६७ ॥

अर्थ—कालशुद्धि, हस्तशुद्धि विनय, सावधानीसे पाठको याद रखना, गुरु आदिका सत्कार, ज्ञानको नहीं छिपाना, शब्द शुद्धि, अर्थ शुद्धि, दोनोंकी शुद्धि–इसतरह ज्ञानकी विनयके आठ भेद हैं ॥ ३६७ ॥

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि ।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो ३६८

ज्ञानं शिक्षते ज्ञानं गुणयति ज्ञानं परस्य उपदिशति ।
ज्ञानेन करोति न्यायं ज्ञानविनीतो भवति एषः ॥ ३६८ ॥

अर्थ—जो ज्ञानको सीखता है ज्ञानका ही चिंतवन करता है, दूसरेको भी ज्ञानका ही उपदेश करता है, ज्ञानसे ही न्यायप्रवृत्ति करता है वह जीव ज्ञानविनयवाला होता है ॥ ३६८ ॥

इंदियकसायपणिहाणंपि य गुत्तीओ चेव समिदीओ ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो ॥३६९॥

इन्द्रियकषायप्रणिधानमपि च गुप्तयः चैव समितयः ।
एष चारित्रविनयः समासतो भवति ज्ञातव्यः ॥ ३६९ ॥

अर्थ—इंद्रियोंके व्यापारका रोकना, क्रोधादिकषायोंके प्रचारको रोकना, गुप्ति, समिति–ये सब संक्षेपसे चारित्र विनय है ऐसा जानना ॥ ३६९ ॥

उत्तरगुणउज्जोगो सम्मं अहियासणा य सद्धा य ।
आवासयाणमुचिदाण अपरिहाणीयणुस्सेहो ॥ ३७० ॥

उत्तरगुणोद्योगः सम्यगध्यासनं च श्रद्धा च ।
आवश्यकानामुचितानां अपरिहाणिरनुत्सेधः ॥ ३७० ॥

अर्थ—आतापनादि उत्तर गुणोंमें उत्साह, श्रमको निराकुलतासे सहना, प्रीति और छह आवश्यकोंमेंसे कमती बढती नहीं करना ॥ ३७० ॥

भत्ती तवोधियम्हि य तवम्हि अहीलणा य सेसाणं।
एसो तवम्हि विणओ जहुत्तचरित्तसाहुस्स ॥ ३७१ ॥

भक्तिः तपोधिके च तपसि अहेलनां च शेषाणां।
एष तपसि विनयः यथोक्तचारित्रसाधोः ॥ ३७१ ॥

अर्थ—तपसे अधिक मुनियोंमें और बारह प्रकार तपमें भक्ति करना-सेवा करना तथा इनसे बाकीके उत्कृष्ट तप नहीं पालनेवाले मुनियोंका तिरस्कार नहीं करना अर्थात् सब संयमियोंको नमस्कार करना वह शास्त्रकथित चारित्रको पालनेवाले मुनियोंके तपमें विनय होता है ॥ ३७१ ॥

काइयवाइयमाणसिओत्तिअ तिविहो दु पंचमो विणओ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो तह परोक्खो य ३७२

कायिकवाचिकमानसिक इति च त्रिविधस्तु पञ्चमो विनयः।
स पुनः सर्वो द्विविधः प्रत्यक्षस्तथा परोक्षश्च ॥ ३७२ ॥

अर्थ—उपचार विनयके तीन भेद हैं-कायिक वाचिक मानसिक। उसके भी प्रत्येकके दो दो भेद हैं-प्रत्यक्ष और परोक्ष ॥ ३७२ ॥

अब कायिकविनयको चारगाथाओंसे कहते हैं;—

अब्भुट्ठाणं किदिअम्मं णवण अंजलीय मुंडाणं।
पच्चूगच्छणमेदे पछिदस्सणुसाधणं चेव ॥ ३७३ ॥

अभ्युत्थानं कृतिकर्म नमनं अंजलिना मुंडानां।

प्रत्युद्गमनमायातस्य प्रस्थितस्यानुसाधनं चैव ॥ ३७३ ॥

अर्थ—साधुओंको आते हुए देखे पहले तो आसनसे उठ खड़े होजाना, सिद्धभक्ति आदि करके कायोत्सर्ग करना, हाथ-जोड़कर नमस्कार करना, आते हुए ऋषीश्वरोंके सामने जाना, जानेवालोंको पहुंचानेके लिये साथ जाना–इस तरह कायसे आदर करना ॥ ३७३ ॥

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं ।
आसणदाणं उवगरणदाणं ओग्गासदाणं च ॥ ३७४॥

नीचं स्थानं नीचं गमनं नीचं च आसनं शयनं ।
आसनदानं उपकरणदानं अवकाशदानं च ॥ ३७४ ॥

अर्थ—गुरु आदिके पीछे खड़े रहना, पीछे गमन करना, नीचे बैठना, नीचे सोना, गुरुओंको आसन देना, पुस्तक आदि धर्मोपकरण देना, प्रासुक वसतिका वतादेना–इत्यादि कायविनय है ॥ ३७४ ॥

पडिरूवकायसंफासणदा पडिरूपकालकिरिया य ।
पोसणकरणं संथरकरणं उवकरणपडिलिहणं ॥ ३७५ ॥

प्रतिरूपकायसंस्पर्शनता प्रतिरूपकालक्रिया च ।
प्रेष्यकरणं संस्तरकरणं उपकरणं प्रतिलेखनं ॥ ३७५ ॥

अर्थ—बलके अनुसार शरीरका स्पर्शन मर्दन, कालके अनु-सार क्रिया करना अर्थात् उष्णकालमें शीतक्रिया शीतकालमें उष्णक्रिया, आज्ञाके अनुसार करना, संथारा करदेना, पुस्तकादिका सोधदेना ॥ ३७५ ॥

इच्चेवमादिओ जो उवयारो कीरदे सरीरेण ।

एसो काइयविणओ जहारिहं साधुवग्गस्स ॥ ३७६ ॥

इत्येवमादिको यः उपकारः क्रियते शरीरेण ।

एषः कायिकविनयः यथार्हं साधुवर्गस्य ॥ ३७६ ॥

अर्थ—इत्यादि गुरुओंका तथा अन्य साधुओंका जो शरीरसे यथायोग्य उपकार है वह सब कायिक विनय जानना ॥ ३७६ ॥

आगे वाचिकविनयका स्वरूप कहते हैं;—

पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च मधुरं च ।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥ ३७७ ॥

पूजावचनं हितभाषणं च मितभाषणं च मधुरं च ।

सूत्रानुवीचिवचनं अनिष्ठुरमकर्कशं वचनं ॥ ३७७ ॥

अर्थ—ऊंचे (पूज्य) वचनोंसे बोलना, हितरूप बोलना, थोड़ा बोलना, मिष्ट बोलना, आगमके अनुसार बोलना, कठोरता रहित वचन बोलना, ॥ ३७७ ॥

उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं ।
एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादव्वो ॥ ३७८ ॥

उपशांतवचनं अगृहस्थवचनं अक्रियमहीलनं वचनं ।

एष वाचिकविनयः यथार्हं भवति कर्तव्यः ॥ ३७८ ॥

अर्थ—क्रोधादिरहित वचन, बंधन आदि रहित वचन, असि आदि क्रिया रहित वचन, अभिमानरहित वचन, बोलना—वह वाचिकविनय है उसे यथायोग्य करना चाहिये ॥ ३७८ ॥

आगे मानसिक विनयको कहते हैं;—

पापविसोतिअपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो ।
णादव्वो संखेवेणेसो माणसिओ विणओ ॥ ३७९ ॥

पापविश्रुतिपरिणामवर्जनं प्रियहिते च परिणामः ।
ज्ञातव्यः संक्षेपेणैषः मानसिको विनयः ॥ ३७९ ॥

अर्थ—हिंसादिमें व सम्यक्त्वकी विराधनामें जो परिणाम उसका त्याग करना, धर्मोपकारमें व सम्यक्त्वज्ञानादिमें परिणाम होना–वह मानसीक विनय संक्षेपसे कहा गया है ॥ ३७९ ॥

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओवि जं गुरुणो ।
विरहम्मिवि वट्टिज्जदि आणाणिद्दिस्सचरिआए ३८०

इति एषः प्रत्यक्षः विनयः पारोक्षिकोपि यत् गुरोः ।
विरहेपि वर्तते आज्ञानिर्देशचर्यायाः ॥ ३८० ॥

अर्थ—इसतरह यह प्रत्यक्ष विनय कहा । और जो गुरुओंके विरह होनेपर अर्थात् परोक्ष होनेपर उनको हाथ जोड़ना, अरहंतादिकर उपदेश किये हुए जीवादिपदार्थोंमें श्रद्धान करना और उनके कहे अनुसार प्रवर्तना–वह परोक्ष विनय है ॥ ३८० ॥

अह ओपचारिओ खलु विणओ तिविहो समासदो भणिओ ।
सत्त चउव्विह दुविहो बोधव्वो आणुपुव्वीए ॥३८१॥

अथ औपचारिकः खलु विनयः त्रिविधः समासतो भणितः ।
सप्त चतुर्विधः द्विविधः बोद्धव्यः आनुपूर्व्या ॥ ३८१ ॥

अर्थ—वह औपचारिकविनय तीनप्रकार वाला भी क्रमसे सात चार दो भेदवाला जानना चाहिये । अर्थात् कायिकविनयके सात, वचनविनयके चार, मानसीकविनयके दो भेद हैं ॥ ३८१ ॥

अब्भुट्ठाणं सण्णदि आसणदाणं अणुप्पदाणं च ।
किदियम्मं पडिरूवं आसणचाओ य अणुव्वजणं ३८२

अभ्युत्थानं सन्नतिः आसनदानं अनुप्रदानं च ।
कृतिकर्म प्रतिरूपं आसनत्यागश्च अनुव्रजनं ॥ ३८२ ॥

अर्थ—आदरसे उठना, मस्तक नमाके नमस्कार, आसन देना, पुस्तकादि देना, यथायोग्य श्रुतभक्ति आदि पूर्वक कायोत्सर्गकरना अथवा शीत आदि बाधाका मेंटना, गुरुओंके आगे ऊंचा आसन छोड़के बैठना, जाते हुएके कुछ दूरतक साथ जाना। ये सात कायिकविनयके भेद हैं ॥ ३८२ ॥

हिदमिदपरिमिदभासा अणुवीचीभासणं च बोधव्वं ।
अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपवत्तओ चेव ॥ ३८३

हितमितपरिमितभाषा अनुवीचिभाषणं च बोद्धव्यं ।
अकुशलमनसो रोधः कुशलमनःप्रवर्तकश्चैव ॥ ३८३ ॥

अर्थ—हितरूप (धर्मसहित) वचन बोलना, अल्प अक्षर अर्थगंभीरतावाले वचन बोलना, कारण सहित वचन बोलना, शास्त्रके अनुसार वचन बोलना—ये चार भेद वचनविनयके हैं। और जो पापको ग्रहण करानेवाले चित्तको रोकना, धर्ममें उद्यमी हुए मनको प्रवर्ताना—ये दो भेद मानसिकविनयके हैं ॥ ३८३ ॥

रादिणिए ऊणरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवग्गे ।
विणओ जहारिओ सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥३८४॥

रात्र्यधिके ऊनरात्र्यधिकेषु च आर्यासु चैव गृहिवर्गे ।
विनयः यथार्हः स कर्तव्यः अप्रमत्तेन ॥ ३८४ ॥

अर्थ—दीक्षागुरु श्रुतगुरु तपोधिक तथा इनसे तपकर घटते गुणोंकर घटते अवस्थाकर घटते साधुओंमें, आर्यिकाओंमें, श्रावकलोकोंमें यथा योग्य विनय अप्रमादी साधुको करना चाहिये ३८४

अब विनयका फल दिखलाते हैं;—

विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ३८५

विनयेन विप्रहीनस्य भवति शिक्षा निरर्थिका सर्वा ।
विनयः शिक्षायाः फलं विनयफलं सर्वकल्याणं ॥ ३८५ ॥

अर्थ—जो विनयकर हीन है उसका शास्त्र पढना सब निष्फल है। क्योंकि विद्या पढनेका फल विनय है और विनयका फल स्वर्गमोक्षका मिलना है ॥ ३८५ ॥

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं ।
विणएणाराहिज्जदि आइरिओ सव्वसंघो य ॥ ३८६ ॥

विनयः मोक्षद्वारं विनयात् संयमस्तपो ज्ञानं ।
विनयेनाराध्यते आचार्यश्च सर्वसंघश्च ॥ ३८६ ॥

अर्थ—विनय मोक्षका द्वार (प्रवेशमार्ग) है, विनयसे ही संयम तप और ज्ञान होता है, और विनयसे ही आचार्य और सब संघकी सेवा होसकती है ॥ ३८६ ॥

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्झंजा ।
अज्जवमद्दवलाहवभत्तीपल्हादकरणं च ॥ ३८७ ॥

आचारजीदकल्पगुणदीपना आत्मशुद्धिः निर्द्वंद्वः ।
आर्जवमार्दवलाघवभक्तिप्रह्लादकरणानि च ॥ ३८७ ॥

अर्थ—आचारके, जीदप्रायश्चित्तके, कल्पप्रायश्चित्तके गुणोंका प्रगट होना; आत्माको कर्मोंसे छूटनेरूप शुद्धि, कलहादि रहित होना, आर्जव, मार्दव, लोभका त्याग, गुरुओंकी सेवा, सबको सुखी करना—ये सब विनयके गुण हैं ॥ ३८७ ॥

केती मेत्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणं।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ३८८

कीर्तिः मैत्री मानस्य भंजनं गुरुजने च बहुमानं।
तीर्थकराणां आज्ञा गुणानुमोदश्च विनयगुणाः ॥ ३८८ ॥

अर्थ—सब जगह प्रसिद्धि, सबसे मित्रता, गर्वका त्याग, आचार्यादिकोंसे बहुमानका पाना, तीर्थकरोंकी आज्ञाका पालन, गुणोंसे प्रेम करना इतने गुण विनय करने वालेके प्रगट होते हैं ॥

आगे वैयावृत्त्यतपका स्वरूप कहते हैं;—

आइरियादिसु पंचसु सबालवुड्ढाउलेसु गच्छेसु।
वेज्जावच्चं वुत्तं कादव्वं सव्वसत्तीए ॥ ३८९ ॥

आचार्यादिषु पंचसु सबालवृद्धाकुलेषु गच्छेषु।
वैयावृत्त्यं उक्तं कर्तव्यं सर्वशक्त्या ॥ ३८९ ॥

अर्थ—आचार्य उपाध्याय स्थविर प्रवर्तक गणधर इन पांचोंमें नवीनदीक्षित तथा गुण अवस्था आदिसे बड़े ऐसे मुनियोंके समूहमें अपनी शक्तिके अनुसार औषधि आदिसे उपकार सेवा करनी चाहिये ॥ ३८९ ॥

गुणधीए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुब्बले।
साहुगणे कुले संघे समणुण्णे य चापदि ॥ ३९० ॥

गुणाधिके उपाध्याये तपस्विनि शिष्ये च दुर्बले।
साधुगणे कुले संघे समनोज्ञे च चापदि ॥ ३९० ॥

अर्थ—गुणोंसे अधिकमें, श्रुतगुरुओंमें, कायक्लेशतपकरने-वालोंमें, शिष्योंमें, रोगसे पीडितोंमें, ऋषि यति मुनि अनगाररूप

साधुसमूहमें, गुरुकुलमें, चातुवर्णसंघमें, सुखी उपद्रव्यरहितमें और उपद्रव होनेपर, वैयावृत्त्य (टहल) करना योग्य है ॥ ३९० ॥

सेज्जोग्गासणिसज्जा तहोवहिपडिलेहणाहि उवग्गहो।
आहारोसहवायणणिकिंचणं वंदणादीहिं ॥ ३९१ ॥

शय्यावकाशनिषद्या तथा उपधिप्रतिलेखनाभिः उपगृहः।
आहारौषधवाचनाविकिंचनवंदनादिभिः ॥ ३९१ ॥

अर्थ—शय्या, वसतिका, आसन, कमंडलु आदि, पीछी आदि इनकर तथा भिक्षाचर्या, सोंठ आदि औषध, शास्त्रव्याख्यान, मलका त्याग और वंदना आदि-इन सब उपायोंसे उपकार करना चाहिये ॥ ३९१ ॥

अद्धाणतेणसावदरायणदीरोधणासिवे ओमे।
वेज्जावच्चं वुत्तं संगहसारक्खणोवेदं ॥ ३९२ ॥

अध्वस्तेनश्वापदराजनदीरोधनाशिवे ओमे।
वैयावृत्त्यं उक्तं संग्रहसारक्षणोपेतम् ॥ ३९२ ॥

अर्थ—जो साधु मार्गमें खेदयुक्त हो, चोर नाहर वघेरा नदी-रोध मरीरोगादिक उपद्रवों सहित हो तथा दुर्भिक्षसे पीडित हो उसका वैयावृत्त्य करना कहा गया है। वह ऐसे करना-आये हुएका संग्रह करना (रखना) संग्रहकी रक्षा करना चाहिये ३९२

आगे स्वाध्यायतपका स्वरूप कहते हैं;—

परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ ॥ ३९३ ॥

परिवर्तनं वाचनं पृच्छना अनुप्रेक्षा च धर्मकथा।
स्तुतिमंगलसंयुक्तः पंचविधो भवति स्वाध्यायः ॥ ३९३ ॥

अर्थ—पढे हुए ग्रंथका पाठकरना, शास्त्रका व्याख्यान करना, शास्त्रोंके अर्थको दूसरेसे पूछना, वारंवार शास्त्रका मनन करना, त्रेसठ शलाका पुरुषोंका चरित्र पढना—ये पांच प्रकारका स्वाध्याय है । इसे मुनिदेववंदना मंगल सहित करना चाहिये ॥ ३९३ ॥

अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णिवि झाणाणि अप्पसत्थाणि ।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि ॥ ३९४ ॥

आर्तं च रौद्रसहितं द्वे अपि ध्याने अप्रशस्ते ।
धर्मं शुक्लं च द्वे प्रशस्तध्याने ज्ञातव्यानि ॥ ३९४ ॥

अर्थ—आर्तध्यान रौद्रध्यान ये दो ध्यान अशुभ हैं नरकादिदुःखोंको प्राप्त कराते हैं तथा धर्मध्यान शुक्लध्यान ये दो ध्यान शुभ हैं मोक्षादिके सुखोंको प्राप्त कराते हैं । ऐसा जानना चाहिये ॥ ३९४ ॥

आगे इन चारोंका स्वरूप कहते हैं;—

अमणुण्णजोगेइट्ठविओगपरीसहणिदाणकरणेसु ।
अट्टं कसायसहियं झाणं भणिदं समासेण ॥ ३९५ ॥

अमनोज्ञयोगइष्टवियोगपरीषहनिदानकरणेषु ।
आर्तं कषायसहितं ध्यानं भणितं समासेन ॥ ३९५ ॥

अर्थ—ज्वर शूल शत्रु आदि अप्रिय वस्तुका संबंध होना, पुत्र पुत्री माता शिष्य आदि प्रियवस्तुका विनाश होना, क्षुधा (भूख) आदि परिषहोंकी बाधा होना, परलोकसंबंधी भोगोंकी वांछा होना—इनके होनेपर जो कषायसहित मनको क्लेश होना वह संक्षेपसे आर्तध्यान कहा गया है ॥ ३९५ ॥

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तध चेव छव्विहारंभे ।

रुद्दं कसायसहिदं झाणं भणियं समासेण ॥ ३९६ ॥

स्तैन्यमृषासारक्षणेषु तथा चैव षड्विधारंभे ।
रौद्रं कषायसहितं ध्यानं भणितं समासेन ॥ ३९६ ॥

अर्थ—दूसरेके द्रव्य लेनेका अभिप्राय, झूठ बोलनेमें आनंद मानना, दूसरेके मारनेका अभिप्राय, छहकायके जीवोंकी विराधना अथवा असिमसि आदि परिग्रहके आरंभ व संग्रह करनेमें आनंद मानना—इनमें जो कषाय सहित मनको करना वह संक्षेपसे रौद्रध्यान कहागया है ॥ ३९६ ॥

अपहट्ट अट्टरुद्दे महाभए सुग्गदीयपच्चूहे ।
धम्मे वा सुक्के वा होहि समण्णागदमदीओ ॥ ३९७ ॥

अपहृत्य आर्तरौद्रे महाभये सुगतिप्रत्यूहे ।
धर्मे वा शुक्ले वा भव समन्वागतमतिः ॥ ३९७ ॥

अर्थ—आर्तध्यान रौद्रध्यान ये दो ध्यान संसारके भयके देनेवाले हैं, देवगति मोक्षगतिके रोकनेवाले हैं इसलिये इन दोनोंका त्याग करके हे भव्य तू धर्मध्यान शुक्लध्यान इन दो ध्यानोंमें आदर बुद्धि कर ॥ ३९७ ॥

एयग्गेण मणं णिरुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि ।
आणापायविवायविजओ संठाणविचयं च ॥ ३९८ ॥

एकाग्रेण मनो निरुध्य धर्मं चतुर्विधं ध्याय ।
आज्ञापायविपाकविचयः संस्थानविचयश्च ॥ ३९८ ॥

अर्थ—एकाग्रतासे इन्द्रियोंका व्यापार तथा मनका व्यापार रोककर अर्थात् अपने [illegible]में कर हे भव्य तू चारप्रकारके धर्म-

ध्यानका चिंतवनकर । उसके आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय संस्थानविचय ऐसे चार भेद हैं ॥ ३९८ ॥

पंचत्थिकायछज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥३९९॥

पंचास्तिकायषट्जीवनिकायान् कालद्रव्यमन्यत् च ।
आज्ञाग्राह्यान् भावान् आज्ञाविचयेन विचिनोति ॥ ३९९ ॥

अर्थ—जीवादि पंच अस्तिकाय, पृथिवीकाय आदि छह जीवकाय, कालद्रव्य,—ये सब सर्वज्ञकी आज्ञाप्रमाण ग्रहण करने योग्य हैं इसतरह आज्ञामात्रसे श्रद्धान करना विचारना वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है ॥ ३९९ ॥

कल्लाणपावगाओ पाओ विचिणोदि जिणमदमुविच्च ।
विचिणादि वा अपाये जीवाण सुहे य असुहे य ४००

कल्याणप्रापकान् उपायान् विचिनोति जिनमतमुपेत्य ।
विचिनोति वा अपायान् जीवानां शुभान् च अशुभान् च ४००

अर्थ—कल्याणके प्राप्त करानेवाले सम्यग्दर्शनादि उपायोंको जिनमतका आश्रयलेकर ध्यावे अथवा जीवोंके शुभ अशुभ कर्मोंका नाश कैसे हो ऐसा विचारना वह अपायविचय धर्मध्यान है ४००

एआणेयभवगयं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं ।
उदओदीरणसंकमबंधं मोक्खं च विचिणादि ॥४०१॥

एकानेकभवगतं जीवानां पुण्यपापकर्मफलं ।
उदयोदीरणासंक्रमबंधं मोक्षं च विचिनोति ॥ ४०१ ॥

अर्थ—एक भवमें प्राप्त तथा अनेकभवोंमें प्राप्त जीवोंके पुण्यकर्म पापकर्मोंके फलको विचारना तथा कर्मोंका उदय अपक्क-

पाचनरूप उदीरणा, अन्यप्रकृतिरूपपरिणमन, बंध इनका तथा कर्मोंके छूटनेका विचार करना वह विपाकविचयनामा धर्मध्यान है ॥ ४०१ ॥

उड्ढमहतिरियलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे ।
एत्थेव अणुगदाओ अणुपेक्खाओ य विचिणादि ४०२

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान् विचिनोति सपर्यायान् ससंस्थानान् ।
अत्रैवानुगता अनुप्रेक्षाश्च विचिनोति ॥ ४०२ ॥

अर्थ—पटल इंद्रक श्रेणीबद्ध प्रकीर्णकादि पर्यायोंसहित त्रिकोन चतुष्कोण गोल आयत मृदंगाकाररूप आकारोंसहित ऊर्ध्वलोक अधोलोक तथा मध्यलोकका चिंतवनकरे तथा इसीमें प्राप्त बारह भावनाओंका चिंतवनकरे वह संस्थानविचय धर्मध्यान है ॥ ४०२ ॥

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं ॥
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोधिं च चिंतिज्जो ॥ ४०३ ॥

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यत्वसंसारलोकमशुचित्वं ।
आस्रवसंवरनिर्जराधर्मो बोधिश्च चिंत्यः ॥ ४०३ ॥

अर्थ—अनित्य अशरण एकत्व अन्यत्व संसार लोक अशुचित्व आस्रव संवर निर्जरा धर्म बोधि (सम्यक्त्वसहित) भावना–इन बारहभावनाओंका चिंतवन करना चाहिये ॥ ४०३ ॥

उवसंतो दु पुहत्तं झायदि झाणं विदक्कवीचारं ।
खीणकसाओ झायदि एयत्तविदक्कवीचारं ॥ ४०४ ॥

उपशांतस्तु पृथक्त्वं ध्यायति ध्यानं वितर्कवीचारं ।
क्षीणकषायो ध्यायति एकत्ववितर्कवीचारं ॥ ४०४ ॥

अर्थ—उपशांतकषायगुणस्थानवाला जीव पृथक्त्ववितर्कवीचार नामा शुक्लध्यानको ध्याता है और क्षीणकषायगुणस्थानवाला एकत्ववितर्कवीचार नामा दूसरे शुक्लध्यानका चिंतवन करता है॥४०४॥

सुहुमकिरियं सजोगी झायदि झाणं च तदियसुक्कं तु।
जं केवली अजोगी झायदि झाणं समुच्छिण्णं ४०५

सूक्ष्मक्रियं सयोगी ध्यायति ध्यानं च तृतीयशुक्लं तु।
यत् केवली अयोगी ध्यायति ध्यानं समुच्छिन्नं॥ ४०५॥

अर्थ—सूक्ष्मकायक्रियाप्रतिपाति नामक तीसरे शुक्लध्यानको सयोग केवली ध्याते हैं और समुच्छिन्नक्रिय नामके चौथे शुक्लध्यानको अयोगकेवली ध्याते हैं॥ ४०५॥

आगे व्युत्सर्गतपका निरूपण करते हैं;—

दुविहो य विउस्सग्गो अब्भंतर बाहिरो मुणेयव्वो।
अब्भंतर कोहादी बाहिर खेत्तादियं दव्वं॥ ४०६॥

द्विविधश्च व्युत्सर्गः आभ्यंतरो बाह्यः ज्ञातव्यः।
अभ्यंतरः क्रोधादिः बाह्यः क्षेत्रादिकं द्रव्यं॥ ४०६॥

अर्थ—परिग्रहत्यागरूप व्युत्सर्गतप दो प्रकारका है एक अभ्यंतर दूसरा बाह्य। क्रोधादिका त्याग होना अभ्यंतर व्युत्सर्ग है और क्षेत्रादि बाह्यद्रव्यका त्याग वह बाह्य व्युत्सर्ग है॥ ४०६॥

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा॥४०७॥

मिथ्यात्ववेदरागा तथैव हास्यादिकाश्च षट्दोषाः।
चत्वारः तथा कषायाः चतुर्दश आभ्यंतरा ग्रंथाः॥४०७॥

अर्थ—मिथ्यात्व, तीन वेद (स्त्री आदि), राग, हास्य आदि

छह दोष और क्रोध आदि चार कषाय—इसप्रकार चौदह अभ्यंतर परिग्रह हैं। इनका त्याग वह अभ्यंतरव्युत्सर्ग है ॥ ४०७ ॥

खेत्तं वत्थु धणधण्णगदं दुपदचदुप्पदगदं च।
जाणसयणासणाणि य कुप्पे भंडेसु दस होंति ४०८

क्षेत्रं वास्तु धनधान्यगतं द्विपदचतुष्पदगतं च।
यानशयनासनानि च कुप्ये भांडेषु दश भवंति ॥ ४०८ ॥

अर्थ—खेत, घर, सोना आदि धन, गेंहू आदि धान्य, दासी-दास, गाय आदि, सवारी, पलंग, चौकी पटा आदि आसन, कपास आदि, हींग आदि अथवा भाजन (वर्तन) आदि—ये दस बाह्यपरिग्रह हैं। इनका त्याग वह बाह्यव्युत्सर्ग है ॥ ४०८ ॥

आगे वारहतपोंमेंसे स्वाध्यायकी अधिकता देखलाते हैं;—

बारसविधह्मिवि तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमो तवोकम्मं ॥

द्वादशविधेपि तपसि साभ्यंतरबाह्ये कुशलदृष्टे।
नाप्यस्ति नापि च भविष्यति स्वाध्यायसमं तपःकर्म ४०९

अर्थ—सर्वज्ञदेवकर उपदेशे हुए अभ्यंतर और बाह्य भेद सहित बारह प्रकारके तपमेंसे स्वाध्यायतपके समान अन्य (दूसरा) कोई भी न तो है और न होगा ॥ ४०९ ॥

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एअग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥

स्वाध्यायं कुर्वन् पंचेंद्रियसंवृतः त्रिगुप्तश्च।
भवति च एकाग्रमनाः विनयेन समाहितो भिक्षुः ॥४१०॥

अर्थ—जो साधु स्वाध्याय करता है वह पांचों इन्द्रियोंका

संवर करता है मन आदि तीनगुप्तियोंका भी पालनेवाला होता है और एकाग्रचित्त हुआ विनयकर संयुक्त होता है ॥ ४१० ॥

सिद्धिप्पासादवदंसयस्स करणं चदुव्विहो होदि ।
दव्वे खेत्ते काले भावेवि य आणुपुव्वीए ॥ ४११ ॥

सिद्धिप्रासादावतंसकस्य करणं चतुर्विधं भवति ।
द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावमपि च आनुपूर्व्या ॥ ४११ ॥

अर्थ—मुक्तिरूपी महलका आभूषण जो यह बारहप्रकारका तप उसका अनुष्ठान क्रमसे द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चारप्रकारका है। आहार शरीर आदि द्रव्य; बहुत जलवालेदेश, निर्जलदेश, जांगलदेश आदि क्षेत्र अथवा स्निग्धरूक्षवात आदिके आश्रय; शीत उष्ण वर्षा आदि काल और चित्तका संक्लेशपरिणामरूप भाव जानना। जिसतरह वातादिका विकार न हो ऐसे क्रमसे तप करना ॥ ४११ ॥

अब्भंतरसोहणओ एसो अब्भंतरो तओ भणिओ ।
एत्तो विरियाचारं समासओ वण्णइस्सामि ॥ ४१२ ॥

अभ्यंतरशोधनकं एतत् अभ्यंतरं तपो भणितं ।
इतो वीर्याचारं समासतः वर्णयिष्यामि ॥ ४१२ ॥

अर्थ—अंतरंगको शुद्ध करनेवाला यह अभ्यंतर तप कहा, इससे आगे वीर्याचारको संक्षेपसे वर्णन करता हूं ॥ ४१२ ॥

आगे वीर्याचारका स्वरूप कहते हैं;—

अणिगूहियबलविरिओ परकामदि जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजदि य जहाथाणं विरियाचारोत्ति णादव्वो ॥४१३॥

अनिगूहितबलवीर्यः पराक्रमते यः यथोक्तमात्मनः ।

युनक्ति च यथास्थानं वीर्याचार इति ज्ञातव्यः ॥ ४१३ ॥

अर्थ—नहीं छिपाया है आहार आदिसे उत्पन्न बल तथा स्वयं शक्ति जिसने ऐसा साधु यथोक्तचारित्रमें तीन प्रकार अनुमति रहित सत्रह प्रकार संयमविधानकरनेकेलिये आत्माको युक्त करता है वह वीर्याचार जानना ॥ ४१३ ॥

पडिसेवा पडिसुणणं संवासो चेव अणुमदी तिविहा।
उद्दिट्ठं जदि भुंजदि भोगदि य होदि पडिसेवा ॥४१४

प्रतिसेवा प्रतिश्रवणं संवासः चैव अनुमतिः त्रिविधा ।
उद्दिष्टं यदि भुंक्ते भोगयति च भवति प्रतिसेवा ॥ ४१४ ॥

अर्थ—प्रतिसेवा प्रतिश्रवण संवास ये तीन भेद अनुमतिके हैं । जो पात्रका नाम ले पात्रके अभिप्रायसे आहारादिका भोजन करावे और पात्र करे तो उस पात्रके प्रतिसेवा अनुमतिका भेद होता है ॥

उद्दिट्ठं जदि विचरदि पुव्वं पच्छा व होदि पडिसुणणं ।
सावज्जसंकिलिट्ठो ममत्तिभावो दु संवासो ॥ ४१५ ॥

उद्दिष्टं यदि विचरति पूर्वं पश्चात् वा भवति प्रतिश्रवणं ।
सावद्यसंक्लिष्टो ममत्वभावस्तु संवासः ॥ ४१५ ॥

अर्थ—दाता यदि साधुको पहले कहदे कि तुह्मारे निमित्त आहारादिक प्रासुक तयार कर रखा है अथवा आहारादि लेनेके पीछे कहे तो सुनकर साधु आहार ग्रहण करले तथा संतोषकर तिष्ठे तो उसके प्रतिश्रवण नामा अनुमतिका भेद होता है और जो आहारादिके निमित्त ऐसा ममत्वभाव करे कि ये गृहस्थलोक हमारे हैं वह संवास नामा तीसरा अनुमतिका भेद है । इसकारण वीर्याचार पालनेवालेको ये तीन दोष छोड़देने चाहिये ॥ ४१५ ॥

पुढविदगतेउवाऊवणप्फदीसंजमो य बोधव्वो ।
विगतिचदुपंचेंदियअजीवकायेसु संजमणं ॥ ४१६ ॥
अप्पडिलेहं दुप्पडिलेहमुवेखवहरणदु संजमो चेव ।
मणवयणकायसंजम सत्तरसविधो दु णादव्वो ॥४१७

पृथिव्युदकतेजोवायुवनस्पतिसंयमश्च बोद्धव्यः ।
द्वित्रिचतुःपंचेंद्रियाजीवकायेषु संयमनं ॥ ४१६ ॥
अप्रतिलेखं दुष्प्रतिलेखं उपेक्षा अपहरणस्तु संयमश्चैव ।
मनोवचनकायसंयमः सप्तदशविधस्तु ज्ञातव्यः ॥ ४१७ ॥

अर्थ—पृथिवीकायिक जलकाय अग्निकाय वायुकाय वनस्पतिकाय–इन पांचोंप्रकारके जीवोंकी रक्षाकरना वह पांचप्रकारका संयम है । और दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेंद्रिय जीवोंकी रक्षा इसतरह चार भेद ये हुए । तथा सूकेतृण आदिका छेदन न करनेरूप अजीवकाय रक्षा इसका एक भेद–इसप्रकार दस भेद हुए । अप्रतिलेख दुष्प्रतिलेख उपेक्षा अपहरणसंयम मनःसंयम वचनसंयम कायसंयम–इन सात भेदोंको मिलानेसे संयमके सत्रह भेद होते हैं ॥ पीछीसे द्रव्यका शोधन वह अप्रतिलेखसंयम है । यत्नपूर्वक प्रमाद रहित शोधन वह दुष्प्रतिलेखसंयम है । उपकरणादिको प्रतिदिन देखलेना कि इसमें जीव तो नहीं है वह उपेक्षासंयम है । उपकरणोंमेंसे द्वींद्रियादि जीवोंको दूर करदेना वह अपहरण संयम है । ये सत्रहप्रकारका संयम वीर्याचारकी रक्षा करता है ॥ ४१६।४१७ ॥

पंचरस पंचवण्णा दो गंधे अट्ठ फास सत्तसरा ।
मणसा चोद्दसजीवा इन्दियपाणा य संजमो णेओ ॥

पंचरसाः पंचवर्णा द्वौ गंधौ अष्ट स्पर्शाः सप्त स्वराः ।
मानसः चतुर्दश जीवाः इन्द्रियप्राणाश्च संयमः ज्ञेयः ४१८

अर्थ—पांचरस पांचवर्ण दो गंध आठ स्पर्श षड्जआदि सात स्वर, मनका विषय–इन अट्ठाईस विषयोंका निरोध वह इन्द्रिय संयम है। और चौदह प्रकारके जीवोंकी रक्षाकरना वह प्राण-संयम है। इसतरह संयमके दो भेद हैं ॥ ४१८ ॥

अब पंचाचारकी महिमा कहते हैं;—

दंसणणाणचरित्तेतव विरियाचारणिग्गहसमत्थो ।
अत्ताणं जो समणो गच्छदि सिद्धिं धुदकिलेसो ४१९

दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्याचारनिग्रहसमर्थः ।
आत्मानं यः श्रमणो गच्छति सिद्धिं धौतक्लेशः ॥ ४१९ ॥

अर्थ—जो साधु दर्शन ज्ञान चारित्र तप वीर्याचारकर अपने आत्माको नियमरूप करनेमें समर्थ है वह साधू आठ कर्मोंका नाशकर मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ४१९ ॥

इसतरह पंचाचारका व्याख्यान किया ।

इसप्रकार आचार्यश्रीवट्टकेरिविरचित**मूलाचार**की हिंदीभाषा-टीकामें पंचाचारोंको कहनेवाला पांचवां **पंचाचाराधिकार** समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

पिण्डशुद्धि–अधिकार ॥ ६ ॥

आगे मंगलाचरणपूर्वक पिंडशुद्धि कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

तिरदणपुरुगुणसहिदे अरहंते विदिदसयलसब्भावे ।
पणमिय सिरसा वोच्छं समासदो पिंडसुद्धी दु ४२०

त्रिरत्नपुरुगुणसहितान् अर्हतः विदितसकलसद्भावान् ।
प्रणम्य शिरसा वक्ष्ये समासतः पिंडशुद्धिस्तु ॥ ४२० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादितीनरत्नरूपी महान गुणोंकर सहित सब पदार्थोंके जाननेवाले ऐसे अरहंतोंको मस्तक नवाकर मैं संक्षेपसे आहारशुद्धिको कहता हूं ॥ ४२० ॥

उग्गम उप्पादण एसणं च संजोजणं पमाणं च ।
इंगालधूमकारण अट्ठविहा पिंडसुद्धी दु ॥ ४२१ ॥

उद्गमः उत्पादनं एषणं च संयोजनं प्रमाणं च ।
अंगारं धूमः कारणं अष्टविधा पिंडशुद्धिस्तु ॥ ४२१ ॥

अर्थ—उद्गम उत्पादन अशन संयोजन प्रमाण अंगार धूम कारण–इन आठ दोषोंकर रहित जो भोजन (आहार) लेना वह आठ प्रकारकी पिंडशुद्धि कही है ॥ ४२१ ॥

आधाकम्मुद्देसिय अज्झोवज्झेय पूदि मिस्से य ।
ठविदे बलि पाहुडिदे पादूकारे य कीदे य ॥ ४२२ ॥
पामिच्छे परियट्टे अभिहडमच्छिण्ण मालआरोहे ।
अच्छिज्जे अणिसट्ठे उग्गमदोसा दु सोलसिमे ॥ ४२३

अधःकर्म औद्देशिकं अध्यधि पूतिः मिश्रश्च ।
स्थापितं बलिः प्रावर्तितं प्राविष्करणं च क्रीतं च ॥४२२॥

प्रामृष्यं परिवर्तकं अभिघटं उद्भिन्नं मालारोहं ।
अच्छेद्यं अनिसृष्टं उद्गमदोषास्तु षोडश इमे ॥ ४२३ ॥

अर्थ—गृहस्थके आश्रित चक्की आदि आरंभरूप कर्म वह अधःकर्म है उसका तो सामान्यरीतिसे साधुके त्याग ही होता है। तथा उद्गमदोषके सोलहभेद कहते हैं–औद्देशिकदोष, अध्यधिदोष, पूतिदोष, मिश्रदोष, स्थापितदोष, बलिदोष, प्रावर्तितदोष, प्राविष्करणदोष, क्रीतदोष, प्रामृष्यदोष, परिवर्तकदोष, अभिघटदोष, उद्भिन्नदोष, मालारोहदोष, अच्छेद्यदोष, अनिसृष्टदोष ॥

आगे गृहस्थाश्रित अधःकर्मको कहते हैं;—

छज्जीवणिकायाणं विराहणोद्दावणादिणिप्पण्णं ।
आधाकम्मं णेयं सयपरकदमादसंपण्णं ॥ ४२४ ॥

षट्जीवनिकायानां विराधनोद्दावनादिनिष्पन्नं ।
अधःकर्म ज्ञेयं स्वपरकृतमात्मसंपन्नं ॥ ४२४ ॥

अर्थ—पृथ्वीकाय आदि छह कायके जीवोंको दुःख देना मारना इससे उत्पन्न जो आहारादि वस्तु वह अधःकर्म है। वह पापक्रिया आपकर की गई दूसरेकर कीगई आपकर अनुमोदना कीगई जानना ॥ ४२४ ॥

देवदपासंडट्ठं किविणट्ठं चावि जं तु उद्दिसियं ।
कदमण्णसमुद्देसं चदुव्विधं वा समासेण ॥ ४२५ ॥

देवतापाखंडार्थं कृपणार्थं चापि यत्तु औद्देशिकं ।
कृतमन्नं समुद्देशं चतुर्विधं वा समासेन ॥ ४२५ ॥

अर्थ—नागयक्षादिदेवताके लिये, अन्यमतीपाखंडियोंकेलिये, दीनजनकृपणजनोंके निमित्त उनके नामसे बनाया गया भोजन वह

औद्देशिक है । अथवा संक्षेपसे समौद्देशिकके कहे जानेवाले चार भेद हैं ॥ ४२५ ॥

जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो ।
समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य हवे समादेसो ॥

यावान् उद्देशः पाषंड इति च भवेत् समुद्देशः ।
श्रमण इति च आदेशो निर्ग्रंथ इति च भवेत् समादेशः ॥

अर्थ—जो कोई आयेगा सबको देंगे ऐसे उद्देशसे किया अन्न यावानुद्देश १ है, पाखंडी अन्यलिंगीके निमित्तसे बना हुआ अन्न समुद्देश है २, तापस परिव्राजक आदिके बनाया भोजन आदेश है ३, निर्ग्रंथ (दिगंबर) साधुओंके निमित्त बनाया गया समादेश दोष सहित है ४ ॥ ये चार औद्देशिकके भेद हैं ॥४२६

आगे अध्यधिदोषका स्वरूप कहते हैं;—

जलतंदुलपक्खेवो दाणट्टं संजदाण सयपयणे ।
अज्झोवोज्झं णेयं अहवा पागं तु जाव रोहो वा ॥

जलतंदुलप्रक्षेपो दानार्थं संयतानां स्वपचने ।
अध्यधि ज्ञेयं अथवा पाकं तु यावत् रोधो वा ॥ ४२७ ॥

अर्थ—संयमी साधुको आता देख उनको देनेके लिये अपने निमित्त भातकेलिये चूल्हेपर रखे हुए जल और चांवलोंमें जल और चांवल मिलाकर फिर पकावे अथवा जब तक भोजन तयार न हो तबतक धर्म प्रश्नके बहानेसे उस साधुको रोक रखे वह अध्यधिदोष है ॥ ४२७ ॥

अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूदिकम्मं तं ।
चुल्ली उक्खलि दव्वी भायणगंधत्ति पंचविहं ॥ ४२८॥

अप्रासुकेन मिश्रं प्रासुकद्रव्यं तु पूतिकर्म तत् ।
चुल्ली उदूखलः दर्वी भाजनं गंध इति पञ्चविधं ॥ ४२८ ॥

अर्थ—प्रासुक आहारादिक वस्तु सचित्तादिवस्तुसे मिश्रित हो वह पूतिदोष है । प्रासुकद्रव्य भी पूतिकर्मसे मिला पूतिकर्म कहलाता है उसके पांच भेद हैं–चूलि ओखली कड़छी पकानेके बासन गंधयुक्त द्रव्य । इन पांचोंमें संकल्प करना कि चूलि आदिसे पका हुआ भोजन जबतक साधुको न देदें तबतक किसीको नहीं देंगे । ये ही पांच आरंभ दोष हैं ॥ ४२८ ॥

आगे मिश्रदोषको कहते हैं;—

पासंडेहिं य सद्धं सागारेहिं य जदण्णमुद्दिसियं ।
दादुमिदि संजदाणं सिद्धं मिस्सं वियाणाहि ॥ ४२९ ॥

पाखण्डैः सार्धं सागारैश्च यदन्नं उद्दिष्टं ।
दातुमिति संयतानां सिद्धं मिश्रं विजानीहि ॥ ४२९ ॥

अर्थ—प्रासुक तयार हुआ भोजन अन्य भेषधारियोंके साथ तथा गृहस्थोंके साथ संयमी साधुओंको देनेका उद्देश करे तो मिश्रदोष जानना ॥ ४२९ ॥

पागादु भायणाओ अण्णह्मि य भायणह्मि पक्खविय ।
सघरे व परघरे वा णिहिदं ठविदं वियाणाहि ॥ ४३० ॥

पाकात् भाजनात् अन्यस्मिन् च भाजने प्रक्षिप्य ।
स्वगृहे वा परगृहे वा निहितं स्थापितं विजानीहि ॥ ४३० ॥

अर्थ—जिस बांसनमें पकाया था उससे दूसरे भाजनमें पके भोजनको रखकर अपने घरमें तथा दूसरेके घरमें जाकर उस अन्नको रख दे उसे स्थापित दोष जानना ॥ ४३० ॥

जक्खयणागादीणं बलिसेसं स बलित्ति पण्णत्तं।
संजदआगमणट्ठं बलियम्मं वा बलिं जाणे॥ ४३१॥

यक्षनागादीनां बलिशेषं स बलिरिति प्रज्ञप्तः।
संयतागमनार्थं बलिकर्म वा बलिं जानीहि॥ ४३१॥

अर्थ—यक्षनागादिके लिये जो बलि (आहार) किया हो उससे शेष रहा भोजन वह बलिदोष सहित है अथवा संयमियोंके आगमनकेलिये जो बलिकर्म (सावद्य पूजन) करे वहां भी बलि-दोष जानना॥ ४३१॥

पाहुडिहं पुण दुविहं बादर सुहुमं च दुविहमेक्कं।
ओकस्सणमुक्कस्सणमह कालोवट्टणावड्ढी॥ ४३२॥

प्राभृतकं पुनर्द्विविधं बादरसूक्ष्मं च द्विविधमेकैकं।
अपकर्षणमुत्कर्षणमथ कालापवर्तनवृद्धी॥ ४३२॥

अर्थ—प्राभृतकदोषके दो भेद हैं बादर १ सूक्ष्म २। इन दोनोंके भी दो दो भेद हैं अपकर्षण उत्कर्षण। कालकी हानिका नाम अपकर्षण है और कालकी वृद्धिको उत्कर्षण कहते हैं ४३२

दिवसे पक्खे मासे वास परत्तीय बादरं दुविहं।
पुव्वपरमज्झवेलं परियत्तं दुविह सुहुमं च॥ ४३३॥

दिवसं पक्षं मासं वर्षं परावृत्त्य बादरं द्विविधं।
पूर्वापरमध्यवेलं प्रावर्तितं द्विविधं सूक्ष्मं च॥ ४३३॥

अर्थ—दिन पक्ष महीना वर्ष इनको बदलकर जो आहारदान देना वह बादर प्राभृत दोष है वह उत्कर्षण (बढाना) अपकर्षण (घटाना) करनेसे स्थूलदोष दो प्रकारका है। सूक्ष्मप्रावर्तितदोष भी दो प्रकारका है वह इसतरह है—पूर्वाह्नसमय मध्या-

ह्नसमय अपराह्नसमय इनको पलटनेसे कालका बढाना व घटाना-रूप है ॥ ४३३ ॥

पादुक्कारो दुविहो संकमण पयासणा य बोधव्वो ।
भायणभोयणदीणं मंडवविरलादियं कमसो ॥ ४३४ ॥

प्रादुष्कारो द्विविधः संक्रमणं प्रकाशनं च बोद्धव्यं ।
भाजनभोजनादीनां मंडपविरलनादिकं क्रमशः ॥ ४३४ ॥

अर्थ—प्रादुष्कारदोषके दो भेद हैं संक्रमण प्रकाशन । साधुको घर आनेपर भोजन भाजन आदिको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें लेजाना वह संक्रमण है तथा भाजनको मांजना दीपकका प्रकाश करना अथवा मंडपका उद्योतनकरना आदि प्रकाशनदोष है ॥ ४३४ ॥

कीदयडं पुण दुविहं दव्वं भावं च सगपरं दुविहं ।
सच्चित्तादी दव्वं विज्जामंतादि भावं च ॥ ४३५ ॥

क्रीततरं पुनः द्विविधं द्रव्यं भावश्च स्वपरं द्विविधं ।
सचित्तादि द्रव्यं विद्यामंत्रादि भावश्च ॥ ४३५ ॥

अर्थ—क्रीततर दोषके दो भेद हैं द्रव्य और भाव । हरएकके दो भेद हैं स्व और पर । संयमीको भिक्षाकेलिये प्रवेश करनेपर गाय आदि देकर बदलेमें भोजन लेकर साधुको देना वह द्रव्य-क्रीत है । प्रज्ञप्ति आदि विद्या चेटकादिमंत्रोंके बदलेमें आहार लेके साधुको देना वह भावक्रीतदोष है ॥ ४३५ ॥

लहरिय रिणं तु भणियं पामिच्छे ओदणादि अण्णदरं ।
तं पुण दुविहं भणिदं सवड्डियमवड्डियं चावि ॥ ४३६ ॥

लघु ऋणं तु भणितं प्रामृष्यं ओदनादि अन्यतरं ।

तत् पुनः द्विविधं भणितं सवृद्धिकमवृद्धिकं चापि ॥४३६॥

अर्थ—साधुओंको आहार करानेके लिये दूसरेसे उधार भातआदि भोजनसामग्री लाकर आहार देना वह प्रामृष्यदोष है। उसके दो भेद हैं एक सवृद्धिक दूसरा अवृद्धिक। कर्जसे अधिक देना सवृद्धिक है जितना कर्जेलिया उतना ही देना अवृद्धिक है ॥ ४३६ ॥

वीहीकूरादीहिं य सालीकूरादियं तु जं गहिदं ।
दातुमिति संजदाणं परियट्टं होदि णायव्वं ॥ ४३७ ॥

व्रीहिक्रूरादिभिः शालिक्रूरादिकं तु यत् ग्रहीतं ।
दातुमिति संयतेभ्यः परिवर्तं भवति ज्ञातव्यम् ॥ ४३७ ॥

अर्थ—साधुओंको आहार देनेकेलिये अपने साठीके चावल आदि देकर दूसरेसे बढिया चावल आदि बदलके साधुको आहार दे वह परिवर्त दोष जानना ॥ ४३७ ॥

देसत्ति य सव्वत्ति य दुविहं पुण अभिहडं वियाणाहि।
आचिण्णमणाचिण्णं देसाविहडं हवे दुविहं ॥ ४३८॥

देश इति च सर्व इति च द्विविधं पुनः अभिघटं विजानीहि।
आचिन्नमनाचिन्नं देशाभिघटं भवेत् द्विविधं ॥ ४३८ ॥

अर्थ—अभिघट दोषके दो भेद हैं एकदेश सर्व। देशाभिघटके दो भेद हैं आचिन्न अनाचिन्न ॥ ४३८ ॥

उज्जु तिहिं सत्तहिं वा घरेहिं जदि आगदं दु आचिण्णं।
परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीदं अणाचिण्णं ॥ ४३९॥

ऋजु त्रिभ्यः सप्तभ्यो वा गृहेभ्यो यदि आगतं तु आचिन्नं ।
परतो वा तेभ्यो भवेत् तद्विपरीतं अनाचिन्नं ॥ ४३९ ॥

अर्थ—पंक्तिबंध सीधे तीन अथवा सात घरोंसे आया भात आदि अन्न आचिन्न अर्थात् ग्रहणकरने योग्य है । और इससे उलटे सीधे घर न हों ऐसे सातघरोंसे लाया हुआ भी अन्न अथवा आठवां आदि घरसे आया हुआ ओदनादि भोजन अनाचिन्न अर्थात् ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥ ४३९ ॥

सव्वाभिघडं चदुधा सयपरगामे सदेसपरदेसे ।
पुव्वपरपाडणयडं पढमं सेसंपि णादव्वं ॥ ४४० ॥

सर्वाभिघटं चतुर्धा स्वपरग्रामे स्वदेशपरदेशे ।
पूर्वपरपाटनयनं प्रथमं शेषमपि ज्ञातव्यं ॥ ४४० ॥

अर्थ—सर्वाभिघटदोषके चार भेद हैं—स्वग्राम परग्राम स्वदेश परदेश । पूर्वदिशाके मौहल्लेसे पश्चिमदिशाके मौहल्लेमें भोजन लेजाना वह स्वग्रामाभिघटदोष है । इसीतरह शेष तीन भी भेद जान लेना । इसमें ईर्यापथका दोष लगता है ॥ ४४० ॥

पिहिदं लंछिदयं वा ओसहघिदसक्करादि जं दव्वं ।
उब्भिण्णिऊण देयं उब्भिण्णं होदि णादव्वं ॥ ४४१ ॥

पिहितं लांछितं वा औषधघृतशर्करादि यत् द्रव्यं ।
उद्भिद्य देयं उद्भिन्नं भवति ज्ञातव्यम् ॥ ४४१ ॥

अर्थ—मट्टी लाख आदिसे ढका हुआ अथवा नामकी मौहर-कर चिह्नित जो औषध घी शक्कर आदि द्रव्य है उसे उघाड़कर देना वह उद्भिन्नदोष है ऐसा जानना । इसमें चींटी आदिका प्रवेश होनेसे दोष है ॥ ४४१ ॥

आगे मालारोहणदोषको कहते हैं;—

णिस्सेणीकट्ठादिहि णिहिदं पूवादियं तु घित्तूणं ।

मालारोहिं किच्चा देयं मालारोहणं णाम ॥ ४४२ ॥

निःश्रेणीकाष्ठादिभिः निहितं पूपादिकं तु गृहीत्वा ।
मालारोहं कृत्वा देयं मालारोहणं नाम ॥ ४४२ ॥

अर्थ—काष्ठ आदिकी बनी सीढी अथवा पैडी (जीना) से घरके ऊपरके खन (माले) पर चढके वहां रखे हुए पूआ लड्डू आदि अन्नको लाकर साधुको देना वह मालारोहण दोष है। यहां दाताको विघ्न होना दीखता है ॥ ४४२ ॥

रायाचोरादीहिं य संजदभिक्खासमं तु दट्ठूणं ।
बीहेदूण णिजुज्जं अच्छिज्जं होदि णादव्वं ॥ ४४३ ॥

राजचौरादिभिश्च संयतभिक्षाश्रमं तु दृष्ट्वा ।
भीषयित्वा नियुक्तं आछेद्यं भवति ज्ञातव्यम् ॥ ४४३ ॥

अर्थ—संयमी साधुओंके भिक्षाके परिश्रमको देख राजा चोर आदि गृहस्थियोंको ऐसा डर दिखाकर कहें कि जो तुम इन साधुओंको भिक्षा नहीं दोगे तो हम तुम्हारा द्रव्य छीन लेंगे गामसे निकालदेंगे ऐसा डर दिखाकर दिया गया जो दान वह आछेद्य-दोष है ऐसा जानना ॥ ४४३ ॥

आगे अनीशार्थ दोषको कहते हैं;—

अणिसट्ठं पुण दुविहं इस्सरमह णिस्सरं चदुवियप्पं ।
पढमिस्सर सारक्खं वत्तावत्तं च संघाडं ॥ ४४४ ॥

अनीशार्थः पुनर्द्विविधः ईश्वरोथानीश्वरः चतुर्विकल्पः ।
प्रथम ईश्वरः सारक्षः व्यक्तोऽव्यक्तश्च संघाटः ॥ ४४४ ॥

अर्थ—अनीशार्थदोषके दो भेद हैं ईश्वर अनीश्वर । इन दोनोंके भी मिलकर चार भेद हैं पहला भेद ईश्वर सारक्ष तथा

अनीश्वरके तीन भेद व्यक्त अव्यक्त संघाट। दानका स्वामी देनेकी इच्छा करे और मंत्री आदि मना करें तो दिया हुआ भी भोजन ईश्वर अनीशार्थ है। स्वामीसे अन्यजनोंकर निषेध किया अनी-श्वर कहलाता है वह व्यक्त (वृद्ध) अव्यक्त (बाल) संघाट (दोनों) के भेदसे तीन प्रकार है ॥ ४४४ ॥

आगे उत्पादन दोषोंको कहते हैं;—

धादीदूदणिमित्ते आजीवे वणिवगे य तेगिंछे।
कोधी माणी मायीलोभी य हवंति दस एदे ॥४४५॥
पुव्वी पच्छा संथुदि विज्जामंते य चुण्णजोगे य।
उप्पादणा य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य॥ ४४६ ॥

धात्रीदूतनिमित्तानि आजीवः वनीपकश्च चिकित्सा।
क्रोधी मानी मायी लोभी च भवंति दश एते॥ ४४५॥
पूर्वं पश्चात् संस्तुतिः विद्यामंत्रश्च चूर्णयोगश्च।
उत्पादनश्च दोषः षोडश मूलकर्म च॥ ४४६॥

अर्थ—धात्रीदोष, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, ये दस दोष। तथा पूर्वसंस्तुति, पश्चात् संस्तुति, विद्या, मंत्र, चूर्णयोग, मूलकर्मदोष—ये सब मिल-कर सोलह उत्पादनदोष हैं॥ ४४५।४४६॥

मज्जणमंडणधादी खेल्लावणखीरअंबधादी य।
पंचविधधादिकम्मेणुप्पादो धादिदोसो दु॥ ४४७॥

मार्जनमंडनधात्री क्रीडनक्षीरांबधात्री च।
पञ्चविधधात्रीकर्मणा उत्पादो धात्रीदोषस्तु॥ ४४७॥

अर्थ—पोषण करै वह धाय कहलाती है वह पांचप्रकारकी

है स्नानकरानेवालीधाय, आभूषणपहरानेवाली धाय, बच्चेको रमानेवाली धाय, दूधपिलानेवाली धाय, माताके समान अपने पास सुलानेवाली अंबधाय । इनका जो उपदेश करके साधु भोजन ले वहां धात्रीदोष होता है । इसमें स्वाध्यायका नाश साधुमार्गमें दूषण लगता है ॥ ४४७ ॥

जलथलआयासगदं सयपरगामे सदेसपरदेसे ।
संबंधिवयणणयणं दूदीदोसो हवदि एसो ॥ ४४८ ॥

जलस्थलाकाशगतं स्वपरग्रामे स्वदेशपरदेशे ।
संबंधिवचननयनं दूतदोषः भवति एषः ॥ ४४८ ॥

अर्थ—कोई साधु अपने गामसे व अपने देशसे दूसरे गाममें व दूसरे देशमें जलके मार्ग नावमें बैठकर व स्थलमार्ग व आकाशमार्ग होकर जाय वहां पहुंचकर किसीके संदेसेको उसके संबंधीसे कहदे फिर भोजन ले तो वहां दूतदोष होता है ॥४४८॥

वंजणमंगं च सरं छिण्णं भूमं च अंतरिक्खं च ।
लक्खण सुविणं च तहा अट्ठविहं होइ णेमित्तं॥४४९॥

व्यंजनमंगं च स्वरः छिन्नः भूमिश्च अंतरिक्षं च ।
लक्षणं स्वप्नः च तथा अष्टविधं भवति निमित्तं ॥ ४४९ ॥

अर्थ—निमित्तज्ञानके आठ भेद हैं—मसा तिल आदि व्यंजन, मस्तक आदि अंग, शब्दरूप स्वर, वस्त्रादिका छेद वा तलवार आदिका प्रहार, भूमिविभाग, सूर्यादिग्रहोंका उदय अस्त होना, पद्म चक्र आदि लक्षण, सोते समय हाथी विमान आदिका दीखना—इन अष्टांगनिमित्तोंसे शुभाशुभ कहकर भोजन ले वहां निमित्तदोष होता है ॥ ४४९ ॥

जादी कुलं च सिप्पं तवकम्मं ईसरत्त आजीवं।
तेहिं पुण उप्पादो आजीव दोसो हवदि एसो॥४५०॥

जातिः कुलं च शिल्पं तपःकर्म ईश्वरत्वं आजीवं।
तैः पुनः उत्पादः आजीवदोषो भवति एषः॥ ४५० ॥

अर्थ—जाति, कुल, चित्रआदि शिल्प, तपश्चरणकी क्रिया, अपनेको महान प्रगट करना इत्यादि आजीविका करनेके वचन गृहस्थोंको कह आहार लेना वह आजीवदोष होता है। इसमें बलहीनपना व दीनपना दोष होता है॥ ४५० ॥

साणकिविणातिधिमाहणपासंडियसवणकागदाणादी।
पुण्णं णवेत्ति पुट्ठे पुण्णेत्ति वणीवयं वयणं॥ ४५१ ॥

श्वाकृपणातिथिब्राह्मणपापंडिश्रमणकाकदानादिः।
पुण्यं नवा इति पृष्टे पुण्यमिति वनीपकं वचनं॥ ४५१ ॥

अर्थ—कोई दाता ऐसे पूछे कि कुत्ता कृपण भिखारी असदाचारी ब्राह्मण भेषी साधु तथा त्रिदंडी आदि साधु और कौआ–इनको आहारादि देनेमें पुण्य होता है या नहीं? ऐसा पूछनेपर उसकी रुचिके अनुकूल ऐसा कहे कि पुण्य ही होता है वहां भोजन लेनेमें वनीपक दोष जानना। इसमें दीनता दोष है॥४५१॥

कोमारतणुतिगिंछारसायणविसभूदखारतंतं च।
सालंकियं च सल्लं तिगिछदोसो दु अट्ठविहो॥४५२॥

कौमारतनुचिकित्सारसायनविषभूतक्षारतंत्रं च।
शालकिकं च शल्यं चिकित्सादोषस्तु अष्टविधः॥४५२॥

अर्थ—चिकित्सा शास्त्रके आठभेद हैं–बालचिकित्सा, शरीरचिकित्सा, रसायन, विषतंत्र, भूततंत्र, क्षारतंत्र, शलाकाक्रिया,

शल्यचिकित्सा । इनका उपदेश देकर आहार लेना वहां चिकित्सादोष होता है ॥ ४५२ ॥

कोधेण य माणेण य मायालोभेण चावि उप्पादो ।
उप्पादणा य दोसो चदुव्विहो होदि णायव्वो ॥४५३॥

क्रोधेन च मानेन च मायालोभेन चापि उत्पादः ।
उत्पादनश्च दोषः चतुर्विधो भवति ज्ञातव्यः ॥ ४५३ ॥

अर्थ—क्रोधसे भिक्षा लेना मानसे आहार लेना मायासे आहार लेना लोभसे आहार लेना–इसप्रकार क्रोध मान माया लोभरूप उत्पादनदोष होता है ऐसा जानना ॥ ४५३ ॥

कोधो य हत्थिकप्पे माणो वेणायडम्मि णयरम्मि ।
माया वाणारसिए लोभो रासीयणयरम्मि ॥ ४५४ ॥

क्रोधश्च हस्तिकल्पे मानो वेणातटे नगरे ।
माया वाराणस्यां लोभो रासीयनगरे ॥ ४५४ ॥

अर्थ—किसी साधुने हस्तिकल्पनगरमें क्रोध करके भिक्षा ग्रहण की, किसीने वेणातट नगरमें मान करके आहार लिया, किसी साधुने मायाचारीसे बनारसमें आहार लिया और किसीने लोभसे राशियाननगरमें भिक्षा ली ॥ ४५४ ॥

दायगपुरदो कित्ती तं दाणवदी जसोधरो वेति ।
पुव्वीसंथुदि दोसो विस्सरिदे बोधणं चावि ॥ ४५५ ॥

दायकपुरतः कीर्तिस्त्वं दानपतिः यशोधरो वा इति ।
पूर्वसंस्तुतिदोषो विस्मृते बोधनं चापि ॥ ४५५ ॥

अर्थ—दान देनेवालेके आगे यदि साधु उसकी प्रशंसा करे कि तुम दानपति हो यशोधर हो तुमारी कीर्ति लोकमें प्रसिद्ध है

इसप्रकार आहार लेनेके पहले प्रशंसा करना वह पूर्वसंस्तुति दोष है। तथा दानी यदि भूलजाय तो उसे याद दिलाना कि पहले तो तुम बड़े दानी थे अब कैसे देना भूल गये–ये भी पूर्वसंस्तु-तिदोष जानना ॥ ४५५ ॥

पच्छा संथुदिदोसो दाणं गहिदूण तं पुणो किंत्तिं ।
विक्खादो दाणवदी तुज्झ जसो विस्सुदो वेंति॥४५६॥

पश्चात् संस्तुतिदोषः दानं गृहीत्वा तत् पुनः कीर्तिं ।
विख्यातः दानपतिः तव यशः विश्रुतं ब्रूते ॥ ४५६ ॥

अर्थ—आहार लेकर पीछे जो साधु दाताकी प्रशंसा करे कि तुम प्रसिद्ध दानपति हो तुमारा यश प्रसिद्ध है ऐसा कहनेसे पश्चात् संस्तुति दोष होता है ॥ ४५६ ॥

विज्जा साधितसिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं ।
तस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दु उप्पादो ॥ ४५७ ॥

विद्या साधितसिद्धा तस्याः आशाप्रदानकरणैः ।
तस्या माहात्म्येन च विद्यादोषस्तु उत्पादः ॥ ४५७ ॥

अर्थ—जो साधनेसे सिद्ध हो वह विद्या है उस विद्याकी आशा देनेसे कि हम तुमको विद्या देंगे तथा उस विद्याकी महिमा वर्णन करनेसे जो आहार ले उस साधुके विद्यादोष होता है ॥ ४५७ ॥

सिद्धे पढिदे मंते तस्स य आसापदाणकरणेण ।
तस्स य माहप्पेण य उप्पादो मंतदोसो दु ॥ ४५८ ॥

सिद्धे पठिते मंत्रे तस्य च आशाप्रदानकरणेन ।
तस्य च माहात्म्येन च उत्पादो मंत्रदोषस्तु ॥ ४५८ ॥

अर्थ—पढनेमात्रसे जो मंत्र सिद्ध हो वह पठित सिद्ध मंत्र होता है उस मंत्रकी आशा (लोभ) देकर और उसकी महिमा कहकर जो साधु आहार ग्रहण करता है उसके मंत्रदोष होता है ॥ ४५८ ॥

आहारदायगाणं विज्ञामंतेहिं देवदाणं तु ।
आहूय साधिदव्वा विज्ञामंतो हवे दोसो ॥ ४५९ ॥

आहारदायकानां विद्यामंत्रैः देवतानां तु ।
आहूय साधितव्या विद्यामंत्रः भवेत् दोषः ॥ ४५९ ॥

अर्थ—आहारके देनेवाले व्यंतरादिदेवोंको विद्या तथा मंत्रसे बुलाकर साधन करे वह विद्यामंत्र दोष है। अथवा आहार देनेवाले गृहस्थोंके लिये देवताको बुलाकर साधना वह भी विद्यामंत्रदोष है ॥ ४५९ ॥

णेत्तस्संजणचुण्णं भूसणचुण्णं च गत्तसोभयरं ।
चुण्णं तेणुप्पादो चुण्णयदोसो हवदि एसो ॥ ४६० ॥

नेत्रयोरंजनचूर्णं भूषणचूर्णं च गात्रशोभाकरं ।
चूर्णं तेनोत्पादः चूर्णदोषो भवति एषः ॥ ४६० ॥

अर्थ—नेत्रोंका अंजन, भूषण साफ करनेका चूर्ण, शरीरकी शोभा बढाने वाला चूर्ण–इन चूर्णोंकी विधि बतलाकर आहार ले वहां चूर्णदोष होता है ॥ ४६० ॥

अवसाणं वसियरणं संजोजयणं च विप्पजुत्ताणं ।
भणिदं तु मूलकम्मं एदे उप्पादणा दोसा ॥ ४६१ ॥

अवशानां वशीकरणं संयोजनं च विप्रयुक्तानां ।
भणितं तु मूलकर्म एते उत्पादना दोषाः ॥ ४६१ ॥

अर्थ—जो वशमें नहीं हैं उनको वशमें करना, जो स्त्री पुरुष वियुक्त हैं उनका संयोग करना—ऐसे मंत्र तंत्रादि उपाय बताके गृहस्थोंसे आहार लेना वह मूलकर्म दोष है। इसतरह ये सोलह उत्पादना दोष हैं॥ ४६१॥

आगे अशनदोषको कहते हैं;—

संकिदमक्खिदणिक्खिदपिहिदसंववहरणदायगुम्मिस्से।
अपरिणदलित्तछोडिद एसणदोसाइं दस एदे॥४६२॥

शंकितमृक्षितनिक्षिप्तपिहितसंव्यवहरणदायकोन्मिश्राः।
अपरिणतलिप्तत्यक्ताः अशनदोषा दश एते॥ ४६२॥

अर्थ—शंकित, मृक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त, त्यक्त—ये दस अशनदोष हैं॥ ४६२॥

असणं च पाणयं वा खादियमध सादियं च अज्झप्पे।
कप्पियमकप्पियत्ति य संदिद्धं संकियं जाणे॥ ४६३॥

अशनं च पानकं वा खाद्यं अथ स्वाद्यं च अध्यात्मनि।
कल्पितमकल्पितमिति च संदिग्धं शंकितं जानीहि॥४६३॥

अर्थ—भात, दूध, लाडू, इलाइची लवंग आदि चार प्रकारका भोजन आगमके अनुसार मेरे लेने योग्य है या नहीं ऐसे संदेह सहित आहारको लेना वहां शंकित दोष होता है॥४६३॥

ससिणिद्धेण य देयं हत्थेण य भायणेण दव्वीए।
एसो मक्खिददोसो परिहरदव्वो सदा मुणिणा॥४६४॥

सस्निग्धेन च देयं हस्तेन च भाजनेन दर्व्या।
एषः मृक्षितदोषः परिहर्तव्यः सदा मुनिना॥ ४६४॥

अर्थ—चिकने हाथ व पात्र तथा कड़छीसे जो भात

आदि भोजन देना वहां मृक्षितदोष होता है उसे हमेशा त्याग करे ॥ ४६४ ॥

सचित्त पुढविआऊतेऊहरिदं च वीयतसजीवा।
जं तेसिमुवरि ठविदं णिक्खित्तं होदि छब्भेयं॥४६५॥

सचित्ताः पृथिव्यप्तेजोहरितानि च बीजत्रसजीवाः।
यत्तेषामुपरि स्थापितं निक्षिप्तं भवति षड्भेदं ॥ ४६५ ॥

अर्थ—अप्रासुक सचित्त पृथिवी जल तेज हरितकाय बीजकाय त्रसकाय जीवोंके ऊपर रखा हुआ आहार वह छहभेदवाला निक्षिप्त है ऐसे आहारको लेनेसे निक्षिप्तदोष होता है ॥ ४६५ ॥

सच्चित्तेण व पिहिदं अथवा अचित्तगुरुगपिहिदं च।
तं छंडिय जं देयं पिहिदं तं होदि बोधव्वं ॥ ४६६ ॥

सचित्तेन वा पिहितं अथवा अचित्तगुरुकपिहितं च।
तं त्यक्त्वा यद्देयं पिहितं तत् भवति बोद्धव्यं ॥ ४६६ ॥

अर्थ—जो आहार अप्रासुक वस्तुसे ढका हो अथवा प्रासुकभारीवस्तुसे ढका हो उसे उघाड़कर जो दे ऐसे आहारको ले उसके पिहितदोष होता है ऐसा जानना ॥ ४६६ ॥

संववहरणं किच्चा पदादुमिदि चेल भायणादीणं।
असमिक्खय जं देयं संववहरणो हवदि दोसो॥४६७॥

संव्यवहरणं कृत्वा प्रदातुमिति चेत् भाजनादीनां।
असमीक्ष्य यद्देयं संव्यवहरणो भवति दोषः ॥ ४६७ ॥

अर्थ—भाजन (वासन) आदिका देन लेन शीघ्रतासे कर विना देखे भोजन पान दे उसे जो साधु ले तो उसके संव्यवहरण दोष होता है ॥ ४६७ ॥

सूदी सुंडी रोगी मदयणपुंसय पिसायणग्गो य।
उच्चारपडिदवंतरुहिरवेसी समणी अंगमक्खीया॥४६८

सूतिः शौंडी रोगी मृतकनपुंसकपिशाचनग्नश्च।
उच्चारपतितवांतरुधिरवेश्या श्रमणिका अंगमृक्षिका॥४६८॥

अर्थ—जो स्त्री बालकको सजाती हो, मदिरा पीनेमें लंपट हो, जो रोगी हो, मुरदेको जलाकर आया हो, नपुंसक हो, वायु आदिसे पीडित हो, वस्त्रादि ओढे हुए न हो, मूत्र आदि करके आया हो, मूर्छासे गिरपडा हो, वमन कर आया हो, लोही सहित हो, दासी हो, अर्जिका रक्तपट्टिका आदि हो, अंगको मर्दन करनेवाली हो–इन सबोंके हाथसे मुनि आहार न ले ॥ ४६८ ॥

अतिबाला अतिवुड्ढा घासत्ती गब्भिणी य अंधलिया।
अंतरिदा व णिसण्णा उच्चत्था अहव णीचत्था॥४६९॥
पूयण पज्जलणं वा सारण पच्छादणं च विज्झवणं।
किचा तहग्गिकज्जं णिव्वादं घट्टणं चावि ॥ ४७० ॥
लेवणमज्जणकम्मं पियमाणं दारयं च णिक्खिविय।
एवंविहादिया पुण दाणं जदि दिंति दायगा दोसा॥४७१

अतिबाला अतिवृद्धा ग्रासयंती गर्भिणी च अंधलिका।
अंतरिता वा निषण्णा उच्चस्था अथवा नीचस्था ॥ ४६९ ॥
फूत्करणं प्रज्वालनं वा सारणं प्रच्छादनं च विध्यापनं।
कृत्वा तथाग्निकार्यं निर्वातं घट्टनं चापि ॥ ४७० ॥
लेपनमार्जनकर्म पिबंतं दारकं च निक्षिप्य।
एवंविधादिकाः पुनः दानं यदि ददति दायका दोषाः॥४७१

अर्थ—अति बालक (भोली) हो, अधिक वुड्ढी हो, भोजन

करती झूठे मुंह हो, पांच महीना आदि गर्भसे युक्त हो, अंधी हो, भीति आदिके आंतरेसे बैठी हो बैठी हुई हो ऊंची जगहपर बैठी हो, नीची जगहपर बैठी हो, मुंहसे फूक कर अग्नि जलाना काठ आदि डालकर आग जलाना, काठको जलनेके–लिये सरकाना, राखसे अग्निको ढकना, जलादिसे अग्निका बुझाना तथा अन्य भी अग्निके कार्यकर भोजन देना । गोवर आदि भींतिका लीपना स्नानादि क्रिया करना दूध पीते बालकको छोड़कर आहार देना–इत्यादि क्रियाओंसे आहार दे तो दायकदोष जानना॥४६९।४७१॥

पुढवी आऊ य तहा हरिदा बीया तसा य सज्जीवा ।
पंचेहिं तेहिं मिस्सं आहारं होदि उम्मिस्सं ॥ ४७२ ॥

पृथिव्यापश्च तथा हरिता बीजानि त्रसाश्च सजीवाः ।
पंचभिस्तैः मिश्र आहारः भवति उन्मिश्रः ॥ ४७२ ॥

अर्थ—मट्टी अप्रासुक जल पान फूल फल आदि हरी जौ गेंहू तथा द्वींद्रियादिक त्रसजीव–इन पांचोंसे मिला हुआ आहार ले तो उन्मिश्र दोष होता है ॥ ४७२ ॥

तिलतंडुलउसणोदय चणोदय तुसोदयं अविधुत्थं ।
अण्णं तहाविहं वा अपरिणदं णेव गेण्हिज्जो ॥४७३॥

तिलतंडुलोष्णोदकं चणोदकं तुषोदकं अविध्वस्तं ।
अन्यं तथाविधं वा अपरिणतं नैव गृह्णीयात् ॥ ४७३ ॥

अर्थ—तिलके धोनेका जल, चावलका जल, गरम होके ठंडा हुआ जल, चनाका जल, तुषका जल, हरड़का चूर्ण आदिकर भी परिणत न हुआ हो वह नहीं ग्रहण करना । ग्रहण करनेसे अपरिणतदोष लगता है ॥ ४७३ ॥

गेरुय हरिदालेण व सेडीय मणोसिलामपिट्ठेण ।
सपबालोदणलेवे ण व देयं करभायणे लित्तं ॥४७४॥

गेरिकया हरितालेन वा सेटिकया मनःशिलया आमपिष्टेन ।
सप्रवालोदनलेपे न वा देयं करभाजने लिप्तम् ॥ ४७४ ॥

अर्थ—गेरू, हरताल, खड़िया, मैनशिल, चावल आदिका चूर्ण कच्चा शाक-इनसे लिप्त हाथ तथा पात्र अथवा अप्रासुक जलसे भीगा हाथ तथा पात्र इन दोनोंसे भोजन दे तो लिप्त दोष होता है ॥ ४७४ ॥

बहु परिसाडणमुज्झिअ आहारो परिगलंत दिज्जंतं ।
छंडिय भुंजणमहवा छंडियदोसो हवे णेओ ॥ ४७५॥

बहु परिसातनमुज्झित्वा आहारं परिगलंतं दीयमानं ।
त्यक्त्वा भुंजनमथवा त्यक्तदोपो भवेत् ज्ञेयः ॥ ४७५ ॥

अर्थ—बहुत भोजनको थोड़ा भोजन करे, छाछ आदिसे झरते हुए हाथसे भोजन करे अथवा किसी एक आहारको छोड़-कर ग्रहण करे उसके त्यक्तदोप होता है ऐसा जानना ॥ ४७५ ॥

संजोयणा य दोसो जो संजोएदि भत्तपाणं तु ।
अदिमत्तो आहारो पमाणदोसो हवदि एसो ॥४७६॥

संयोजनं च दोपः यः संयोजयति भक्तपानं तु ।
अतिमात्र आहारः प्रमाणदोपो भवति एषः ॥ ४७६ ॥

अर्थ—जो ठंडा भोजन गरम जलसे मिलाना अथवा ठंडा जल गरम भोजनसे मिलावे उसके संयोजना दोष होता है। और जो मात्राको उलंघकर भोजन करे तो उसके प्रमाणदोष होता है ॥ ४७६ ॥

तं होदि सयंगालं जं आहारेदि मुच्छिदो संतो ।
तं पुण होदि सधूमं जं आहारेदि णिंदिंदो ॥ ४७७ ॥

तत् भवति सांगारं यत् आहरति मूर्छितः सन् ।
तत् पुनः भवति सधूमं यत् आहरति निंदितः ॥ ४७७ ॥

अर्थ—जो मूर्छित हुआ अति तृष्णासे आहार ग्रहण करता है उसके अंगार दोष होता है। और जो निंदा (ग्लानि) करता हुआ भोजन करता है उसके धूम दोष दोता है ॥ ४७७॥ यहांतक भोजन करनेके छयालीस दोष कहे ।

आगे भोजन लेनेके कारण आदिको बतलाते हैं;—

छहिं कारणेहिं असणं आहारंतो वि आयरदि धम्मं ।
छहिं चेव कारणेहिं दु णिज्जुहवंतो वि आचरदि॥४७८॥

षड्भिः कारणैः अशनं आहरन्नपि आचरति धर्मं ।
षड्भिः चैव कारणैः तु उज्झन्नपि आचरति ॥ ४७८ ॥

अर्थ—छह कारणोंसे आहार ग्रहण करता हुआ भी धर्मका पालन करता है। और छह कारणोंसे भोजन त्यागता हुआ भी धर्मका पालन करता है ॥ ४७८ ॥

वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संजमट्ठाए ।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ॥ ४७९ ॥

वेदनावैयावृत्त्ये क्रियार्थं च संयमार्थं ।
तथा प्राणधर्मचिंता कुर्यात् एतैः आहारं ॥ ४७९ ॥

अर्थ—क्षुधाकी वेदनाके उपशमार्थ, वैयावृत्त्यकरनेकेलिये, छह आवश्यकक्रियाके अर्थ, तेरहप्रकार चारित्रकेलिये, प्राण

रक्षाकेलिये, उत्तम क्षमादि धर्मके पालनेकेलिये भोजन करना चाहिये ॥ ४७९ ॥

आदंके उवसग्गे तिरक्खणे बंभचेरगुत्तीओ।
पाणिदयातवहेऊ सरीरपरिहार वेच्छेदो ॥ ४८० ॥

आतंके उपसर्गे तितिक्षायां ब्रह्मचर्यगुप्तेः।
प्राणिदयातपोहेतौ शरीरपरिहारे व्युच्छेदः ॥ ४८० ॥

अर्थ—व्याधिके अकस्मात् होजानेपर, देव मनुष्यादिकृत उपसर्ग होनेपर उत्तमक्षमा धारण करनेके समय, ब्रह्मचर्यरक्षण करनेके निमित्त, प्राणियोंकी दया पालनेके निमित्त, अनशन तपके निमित्त, शरीरसे ममता छोड़नेके निमित्त—इन छह कारणोंके होनेपर भोजनका त्याग करना योग्य है ॥ ४८० ॥

ण बलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं।
णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ॥ ४८१ ॥

न बलायुःस्वादार्थं न शरीरस्योपचयार्थं तेजोर्थं।
ज्ञानार्थं संयमार्थं ध्यानार्थं चैव भुंजीत ॥ ४८१ ॥

अर्थ—साधु बलके लिये, आयु बढानेके लिये, स्वादकेलिये, शरीरको पुष्ट होनेके लिये, शरीरके तेज बढनेकेलिये भोजन नहीं करते किंतु वे ज्ञान (स्वाध्याय) केलिये संयम पालनेके लिये ध्यान होनेके लिये भोजन करते हैं ॥ ४८१ ॥

णवकोडीपरिसुद्धं असणं बादालदोसपरिहीणं।
संजोजणाय हीणं पमाणसहियं विहिसु दिण्णं॥४८२॥
विगदिंगाल विधूमं छक्कारणसंजुदं कमविसुद्धं।
जत्तासाधणमत्तं चोद्दसमलवज्जिदं भुंजे ॥ ४८३ ॥

नवकोटिपरिशुद्धं अशनं द्वाचत्वारिंशद्दोषपरिहीनं ।
संयोजनया हीनं प्रमाणसहितं विधिसु दत्तं ॥ ४८२ ॥
विगतांगारं विधूमं षट्कारणसंयुतं क्रमविशुद्धं ।
यात्रासाधनमात्रं चतुर्दशमलवर्जितं भुंक्ते ॥ ४८३ ॥

अर्थ—ऐसे आहारको लेना चाहिये–जो नवकोटि अर्थात् मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे शुद्ध हो, व्यालीस दोषोंकर रहित हो, संयोजनादोषसे रहित हो, मात्रा प्रमाण हो, विधिसे अर्थात् नवधा भक्ति दाताके सातगुणसहित क्रियासे दिया गया हो। अंगारदोष धूमदोष इन दोनोंसे रहित हो, छह कारणों सहित हो, क्रमविशुद्ध हो, प्राणोंके धारणके लिये हो, अथवा मोक्षयात्राके साधनेके लिये हो, और चौदह मलोंसे रहित हो। ऐसा भोजन साधु ग्रहण करे ॥ ४८२–४८३ ॥

आगे चौदह मलोंके नाम कहते हैं;—

णहरोमजंतुअट्ठीकुणकुंडयपूयिचम्मरुहिरमंसाणि ।
बीयफलकंदमूलो छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति॥४८४

नखरोमजंत्वस्थिकणकुंडपूतिचर्मरुधिरमांसानि ।
बीजफलकंदमूलानि छिन्नानि मलानि चतुर्दश भवंति४८४

अर्थ—नख रोम (बाल) प्राणरहितशरीर, हाड, गेंहू आदिका कण, चावलका कण, खराब लोही (राधि), चाम, लोही, मांस, अंकुर होने योग्य गेंहू आदि, आम्र आदि फल, कंद मूल–ये चौदह मल हैं। इनको देखके आहार त्याग देना चाहिये ॥ ४८४ ॥

पगदा असओ जह्मा तह्मादो दव्वदोत्ति तं दव्वं ।

फासुगमिदि सिद्धेवि य अप्पट्ठकदं असुद्धं तु ॥४८५॥

प्रगता असवो यस्मात् तस्मात् द्रव्यत इति तत् द्रव्यं ।

प्रासुकमिति सिद्धेपि च आत्मार्थकृतं अशुद्धं तु ॥ ४८५ ॥

अर्थ—साधु द्रव्य और भाव दोनोंसे प्रासुक द्रव्यका भोजन करे। जिसमेंसे एकेंद्री जीव निकल गये वह द्रव्य प्रासुक (शुद्ध) है। और जो प्रासुक आहार होनेपर भी 'मेरेलिये किया है' ऐसा चिंतन करे वह भावसे अशुद्ध जानना। तथा चिंतन नहीं करना वह भावशुद्ध आहार है ॥ ४८५ ॥

जह मच्छयाण पयदे मदणुदये मच्छया हि मज्जंति ।
ण हि मंडूगा एवं परमट्ठकदे जदि विसुद्धो ॥ ४८६ ॥

यथा मत्स्यानां प्रकृते मदनोदके मत्स्या हि मज्जंति ।

न हि मंडूका एवं परमार्थकृते यतिः विशुद्धः ॥ ४८६ ॥

अर्थ—जैसे माछलाओंके निमित्त मदनकारण जल मांछलाओंको ही मतवाला करता है मेंडकोंको नहीं उसीतरह दूसरेके लिये बनाये गये भोजनमें साधु दोषयुक्त नहीं होता शुद्ध ही रहता है ॥ ४८६ ॥

आधाकम्मपरिणदो फासुगदव्वेवि बंधओ भणिओ ।
सुद्धं गयेसमाणो आधाकम्मेवि सो सुद्धो ॥ ४८७ ॥

अधःकर्मपरिणतः प्रासुकद्रव्येपि बंधको भणितः ।

शुद्धं गवेषयमाणः अधःकर्मण्यपि स शुद्धः ॥ ४८७ ॥

अर्थ—द्रव्य प्रासुक होनेपर भी जो साधु ऐसा कहे कि 'गौरवसे मेरेलिये ऐसा भोजन किया है' तो कर्मका बंध करने वाला होता है। और अपनी अनुमोदनादि रहित देखता हुआ

साधु आरंभरूप अधःकर्मसे उत्पन्न हुए भी आहारको ग्रहण करता है तौभी वह शुद्ध है कर्मबंध नहीं होता ॥ ४८७ ॥

सव्वोवि पिंडदोसो दव्वे भावे समासदो दुविहो।
दव्वगदो पुण दव्वे भावगदो अप्पपरिणामो ॥४८८॥

सर्वः अपि पिंडदोषः द्रव्ये भावे समासतो द्विविधः।
द्रव्यगतो पुनः द्रव्ये भावगतो आत्मपरिणामः ॥ ४८८ ॥

अर्थ—सभी पिंडदोषके संक्षपसे दो भेद हैं द्रव्यगत भावगत। द्रव्यमें जो रहता है वह द्रव्यगत है और अपने परिणामोंमें जो मलिनता है वह भावगत है ॥ ४८८ ॥

आगे द्रव्यका भेद कहते हैं;—

सव्वेसणं च विद्देसणं च सुद्धासणं च ते कमसो।
एसणसमिदिविसुद्धं णिव्वियडमवंजणं जाणे ॥४८९॥

सर्वैषणं च विद्धैषणं च शुद्धाशनं च ते क्रमशः।
एषणासमितिविशुद्धं निर्विकृतमव्यंजनं जानीहि ॥ ४८९ ॥

अर्थ—सर्वैषण विद्धैषण शुद्धासन स्वरूप तीन प्रकार द्रव्य है वह क्रमसे इन स्वरूप है कि जो एषणासमितिसे पवित्र हो, विकृतियोंसे रहित हो और व्यंजन रहित हो वह द्रव्य प्रासुक भोजन होता है ॥ ४८९ ॥

दव्वं खेत्तं कालं भावं बलवीरियं च णाऊण।
कुज्जा एषणसमिदिं जहोवदिट्ठं जिणमदम्मि ॥ ४९० ॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं बलवीर्यं च ज्ञात्वा।
कुर्यात् एषणासमितिं यथोपदिष्टां जिनमते ॥ ४९० ॥

अर्थ—आहारादि द्रव्य, अनूप आदि क्षेत्र, शीत आदि काल,

श्रद्धा आदि भाव, शरीरका बल, स्वयं सामर्थ्य,-इन सबको जानकर जैसी जिनमतमें उपदेश कीगई है वैसी एषणा समितिका पालन करे। जो उलटा करे तो वात पित्त कफकी उत्पत्ति हो सकती है ॥ ४९० ॥

आगे भोजनविभाग व योग्यकाल दिखलाते हैं;—

अद्धमसणस्स सव्विंजणस्स उदरस्स तदियमुदयेण।
वाऊ संचरणट्ठं चउत्थमवसेसये भिक्खू ॥ ४९१ ॥

अर्धं अशनेन सव्यंजनेन उदरस्य तृतीयं उदकेन।
वायोः संचारणार्थं चतुर्थमवशेषयेत् भिक्षुः ॥ ४९१ ॥

अर्थ—साधु उदरके चार भागोंमेंसे दो भाग तो व्यंजन सहित भोजनसे भरे, तीसरा भाग जलसे पूर्ण करे और चौथा भाग पवनके विचरनेके लिये खाली रखे ॥ ४९१ ॥

सूरुदयत्थमणादो णालीतियवज्जिदे असणकाले।
तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिम्ममुक्कस्से ॥ ४९२ ॥

सूर्योदयास्तमनयोर्नाडीत्रिकवर्जितयोः अशनकालः।
त्रिकद्विकैकमुहूर्ताः जघन्यमध्यमोत्कृष्टाः ॥ ४९२ ॥

अर्थ—सूर्यके उदयसे तीन घड़ी वादसे लेकर सूर्यके अस्त होनेके तीन घडी पहले तक वीचका भोजन करनेका समय है। इसकालमें भोजन करनेमें तीन मुहूर्तकाल लगना वह जघन्य आचरण है, दो मुहूर्तकाल लगना वह मध्यम आचरण है, एक-मुहूर्त लगना वह उत्कृष्ट है ॥ ४९२ ॥

भिक्खा चरियाए पुण गुत्तीगुणसीलसंजमादीणं।
रक्खंतो चरदि मुणी णिव्वेदतिगं च पेच्छंतो ॥४९३॥

भिक्षाचर्यायां पुनः गुप्तिगुणशीलसंयमादीनां ।
रक्षन् चरति मुनिर्निर्वेदत्रिकं च प्रेक्ष्यमाणः ॥ ४९३ ॥

अर्थ—भिक्षाचर्यामें प्रवेश करता हुआ मुनि गुप्ति मूलगुण शील संयम आदिको पालता संता तथा शरीर परिग्रह संसार इन तीनोंसे प्राप्त वैराग्यको अपेक्षा करता हुआ विहार करता है ॥ ४९३ ॥

आणा अणवत्थावि य मिच्छत्ताराहणादणासो य ।
संजमविराधणावि य चरियाए परिहरेदव्वा ॥ ४९४ ॥

आज्ञा अनवस्थापि च मिथ्यात्वाराधनात्मनाशश्च ।
संयमविराधनापि च चर्यायां परिहर्तव्याः ॥ ४९४ ॥

अर्थ—साधु वीतरागकी आज्ञाको पालन करता हुआ भोजन-चर्याके समय स्वेच्छा प्रवृत्ति मिथ्यात्वाचरण अपना प्रतिघात संयमकी विराधना—इन सबको त्याग दे ॥ ४९४ ॥

आगे भोजनके अंतरायोंको बतलाते हैं;—

कागा मेज्झा छद्दी रोहण रुहिरं च अस्सुवादं च ।
जण्हूहिट्ठामरिसं जण्हुवरि वदिक्कमो चेव ॥ ४९५ ॥
णाभिअधोणिग्गमणं पच्चक्खियसेवणा य जंतुवहो ।
कागादिपिंडहरणं पाणीदो पिंडपडणं च ॥ ४९६ ॥
पाणीए जंतुवहो मंसादीदंसणे य उवसग्गो ।
पादंतरम्मि जीवोसंपादो भायणाणं च ॥ ४९७ ॥
उच्चारं पस्सवणं अभोजगिहपवेसणं तहा पडणं ।
उववेसणं सदंसं भूमीसंफास णिट्ठुवणं ॥ ४९८ ॥
उदरक्किमिणिग्गमणं अदत्तगहणं पहारगामडाहो ।

पादेण किंचि गहणं करेण वा जं च भूमीए ॥ ४९९ ॥
एदे अण्णे बहुगा कारणभूदा अभोयणस्सेह ।
बीहणलोगदुगंछणसंजमणिव्वेदणट्ठं च ॥ ५०० ॥

काकोऽमेध्यं छर्दिः रोधनं रुधिरं चाश्रुपातश्च ।
जान्वधः आमर्शः जानूपरि व्यतिक्रमश्चैव ॥ ४९५ ॥
नाभ्यधोनिर्गमनं प्रत्याख्यातसेवना च जंतुवधः ।
काकादिपिंडहरणं पाणितः पिंडपतनं च ॥ ४९६ ॥
पाणौ जंतुवधः मांसादिदर्शनं च उपसर्गः ।
पादांतरे जीवसंपातो भाजनानां च ॥ ४९७ ॥
उच्चारः प्रस्रवणं अभोज्यगृहप्रवेशनं तथा पतनं ।
उपवेशनं सदंशः भूमिसंस्पर्शः निष्ठीवनं ॥ ४९८ ॥
उदरकृमिनिर्गमनं अदत्तग्रहणं प्रहारो ग्रामदाहश्च ।
पादेन किंचिद्ग्रहणं करेण वा यच्च भूमौ ॥ ४९९ ॥
एतेऽन्ये बहवः कारणभूता अभोजनस्येह ।
भयलोकजुगुप्सा संयमनिर्वेदनार्थं च ॥ ५०० ॥

अर्थ—साधुके चलते समय वा खड़े रहते समय ऊपर जो कौआ आदि बींट करें तो वह काक नामा भोजनका अंतराय है। अशुचि वस्तुसे चरण लिप्त होजाना वह अमेध्य अंतराय है। वमन होना छर्दि है। भोजनका निषेध करना रोध है। अपने या दूसरेके लोही निकलता देखना रुधिर है। दुःखसे आंसू निकलते देखना अश्रुपात है ६ रुदन होते गोड़के नीचे हाथसे स्पर्श करना जान्वधः परामर्श है ७ तथा गोड़के प्रमाण काठके ऊपर उलंघ जाना वह जानूपरि व्यतिक्रम अंतराय है ८ ॥ नाभिसे

नीचा मस्तककर निकलना वह नाभ्यधोनिर्गमन है ९ त्याग की गई वस्तुका भक्षण करना प्रत्याख्यातसेवना है १० जीववध होना जंतुवध है ११ कौआ आदि ग्रास ले जाय वह काकादिपिंडहरण है १२ पाणिपात्रसे पिंडका गिरजाना पाणितः पिंडपतन है १३ ॥ पाणिपात्रमें किसी जीवका मरजाना पाणिजंतुवध है १४ मांसका दीखना मांसादिदर्शन है १५ देवादिकृत उपद्रव होना उपसर्ग है १६ दोनों पैरोंके बीचमें कोई जीव गिरजाय वह जीवसंपात है १७ भोजन देनेवालेके हाथसे भोजन गिर जाना भाजनसंपात है १८ ॥ अपने उदरसे मल निकल जाय वह उच्चार है १९ मूत्रादि निकलना प्रस्रवण है २० चांडालादि अभोज्यके घरमें प्रवेश हो जाना अभोज्यगृहप्रवेश है २१ मूर्छादिसे आप गिर जाना पतन है २२ बैठ जाना उपवेशन है २३ कुत्ता आदिका काटना सदंश है २४ हाथसे भूमिको छूना भूमिसंस्पर्श है २५ कफ आदि मलका फैंकना निष्ठीवन है २६ ॥ पेटसे कृमि (कीडों) का निकलना उदरकृमिनिर्गमन है २७ विना दिया किंचित् ग्रहण करना अदत्तग्रहण है २८ अपने व अन्यके तलवार आदिसे प्रहार हो तो प्रहार है २९ गाम जले तो ग्रामदाह है ३० पांवसे भूमिसे उठाकर कुछ लेना वह पादेन किंचित् ग्रहण है ३१ हाथकर भूमिसे कुछ उठाना वह करेण किंचित् ग्रहण है ३२ ॥ ये काकादि बत्तीस अंतराय तथा दूसरे भी चांडालादिस्पर्श कलह इष्टमरण आदि बहुतसे भोजनत्यागके कारण जानना । तथा राजादिका भय होनेसे लोकनिंदा होनेसे संयमके लिये वैराग्यके लिये आहारका त्याग करना चाहिये ॥ ४९५ से ५०० तक ॥

आगे फलके इच्छुक सूत्रकार प्रार्थना करते हैं;—

जेणेह पिंडसुद्धी उवदिट्ठा जेहिं धारिदा सम्मं।
ते वीरसाधुवग्गा तिरदणसुद्धिं मम दिसंतु ॥ ५०१ ॥

यैरिह पिंडशुद्धिः उपदिष्टा यैः धारिता सम्यक्।
ते वीरसाधुवर्गाः त्रिरत्नशुद्धिं मम दिशंतु ॥ ५०१ ॥

अर्थ—जिन्होंने यह पिंडशुद्धि उपदेशी है और जिन्होंने यह अच्छीतरह धारण की है वे शूरवीर साधूसमूह मुझे तीन रत्नोंकी शुद्धि दें अर्थात् उनके प्रसादसे मेरे भी दर्शन ज्ञान चारित्रकी निर्मलता हो ॥ ५०१ ॥

इसप्रकार आचार्यश्रीवट्टकेरिविरचित मूलाचारकी
हिंदीभाषाटीकामें आहारशुद्धिको कहनेवाला
छठा पिंडशुद्धि–अधिकार
समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

षडावश्यकाधिकार ॥ ७ ॥

आगे षडावश्यक कहनेके प्रथम ही मंगलाचरण करते हैं;—

काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
आइरियउवज्झायाणं लोगम्मि सव्वसाहूणं ॥ ५०२ ॥

कृत्वा नमस्कारं अर्हतां तथैव सिद्धानां।
आचार्योपाध्यायानां लोके सर्वसाधूनाम् ॥ ५०२ ॥

अर्थ—लोकमें जो अरहंत हैं सिद्ध हैं आचार्य हैं उपाध्याय हैं और सब साधु हैं उन सबको नमस्कार करके ॥ ५०२ ॥

आवासयणिज्जुत्ती वोच्छामि जधाकमं समासेण ।
आयरियपरंपराए जहागदा आणुपुव्वीए ॥ ५०३ ॥

आवश्यकनिर्युक्तिं वक्ष्ये यथाक्रमं समासेन ।
आचार्यपरंपरया यथागतानुपूर्व्या ॥ ५०३ ॥

अर्थ—आवश्यकनिर्युक्तिको परिपाटीके क्रमसे आचार्योंकी परंपरासे आगमकी परिपाटीके अनुसार संक्षेपसे कहता हूं॥५०३॥

रागद्दोसकसाये य इंदियाणि य पंच य ।
परीसहे उवसग्गे णासयंतो णमोरिहा ॥ ५०४ ॥

रागद्वेषकषायांश्च इंद्रियाणि च पंच च ।
परीषहान् उपसर्गान् नाशयद्भ्यो नमः अर्हद्भ्यः ॥ ५०४ ॥

अर्थ—स्नेह अप्रीति क्रोधादि कषाय नेत्रादि पांच इंद्रिय क्षुधा आदि बाईस परीषह देवादिकृत संक्लेश—इन सबको नाश करनेवाले अरहंत देवोंको मेरा नमस्कार हो ॥ ५०४ ॥

आगे अरहंत आदिका शब्दार्थ कहते हैं;—

अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए ।
रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चंदे ॥ ५०५ ॥

अर्हंति नमस्कारं अर्हा पूजायाः सुरोत्तमा लोके ।
रजोहंतारः अरिहंतारश्च अर्हंतास्तेन उच्यंते ॥ ५०५ ॥

अर्थ—जो नमस्कार करने योग्य हैं, पूजाके योग्य हैं लोकमें देवोंमें उत्तम हैं, और अरिके अर्थात् मोहकर्म अंतरायकर्म इन दोनों के हननेवाले हैं तथा रजके अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण इन दोनोंके नाश करनेवाले हैं इसलिये अरिका आदि अक्षर अ और रजका आदि अक्षर र इन दोनोंको मिलाके अर हुआ उनके नाशक हैं इसलिये अर्हंत हैं ॥ ५०५ ॥

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण॥५०६॥

अर्हन्नमस्कारं भावेन च यः करोति प्रयतमतिः ।
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति अचिरेण कालेन ॥ ५०६ ॥

अर्थ—ऐसे अरहंतोंको जो सावधान होकर भावशुद्धिसे नमस्कार करता है वह थोड़े ही समयमें सब दुःखोंसे छूट जाता है ॥ ५०६ ॥

दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्ठकम्महि ।
सिदे धत्ते णिधत्ते य सिद्धत्तमुवगच्छइ ॥ ५०७ ॥

दीर्घकालमयं जंतुः उषितः अष्टकर्मसु ।
सिते ध्वस्ते निधत्ते च सिद्धत्वमुपगच्छति ॥ ५०७ ॥

अर्थ—यह जीव अनादिकालसे आठकर्मोंमें वस रहा है परंतु पर प्रकृतिरूप संक्रमण उदय उदीरणा उत्कर्षण अपकर्षण रहित कर्मबंधके नाश करनेपर सम्यग्ज्ञानादि गुणोंका आचरण करता हुआ सिद्धपनेको प्राप्त होता है ॥ ५०७ ॥

आवेसणी सरीरे इंदियभंडो मणो व आगरिओ ।
धमिदव्व जीवलोहे बावीसपरीसहग्गीहिं ॥ ५०८ ॥

आवेशनी शरीरं इंद्रियभांडानि मनो वा आकरी ।
ध्मातव्यं जीवलोहं द्वाविंशतिपरीषहाग्निभिः ॥ ५०८ ॥

अर्थ—चूल्हेरूप शरीर है, इंद्रियरूपी संडासी अहरण आदि उपकरण हैं, मन है वह केवल ज्ञानरूप ज्ञायक हैं, उपाध्याय लुहार है, जीव है वह सुवर्ण धातु है वह बाईस परीषहरूपी

अग्निकर कर्म बंधके नाश होनेपर तपाने योग्य होके शुद्ध धातुरूप सिद्धपनेको प्राप्त होता है ॥ ५०८ ॥

सदा आयारविद्दण्हू सदा आयरियं चरे।
आयारमायारवंतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥ ५०९ ॥

सदा आचारवित् सदा आचरितं चरः।
आचारमाचारयन् आचार्यः तेन उच्यते ॥ ५०९ ॥

अर्थ—जो सर्वकाल संबंधी आचारको जाने, हमेशा आचरण योग्यको आचरण करता हो और अन्य साधुओंको आचरण कराता हो इसलिये वह आचार्य कहा जाता है ॥ ५०९ ॥

जम्हा पंचविहाचारं आचरंतो पभासदि।
आयरियाणि देसंतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥ ५१० ॥

यस्मात् पंचविधाचारं आचरन् प्रभासते।
आचरितानि दर्शयन् आचार्यः तेन उच्यते ॥ ५१० ॥

अर्थ—जिसकारण पांच प्रकारके आचरणोंको पालता हुआ शोभता है और आपकर किये आचरण दूसरोंको भी दिखाता है उपदेश करता है इसलिये वह आचार्य कहा जाना है ॥ ५१० ॥

बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधं।
उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि ॥ ५११ ॥

द्वादशांगानि जिनाख्यातानि स्वाध्यायः कथितो बुधैः।
उपदिशति स्वाध्यायं तेनोपाध्याय उच्यते ॥ ५११ ॥

अर्थ—बारह अंग चौदहपूर्व जो जिनदेवने कहे हैं उनको पंडितजन स्वाध्याय कहते हैं। उस स्वाध्यायका जो उपदेश करता है इसलिये वह उपाध्याय कहलाता है ॥ ५११ ॥

णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो ।
समा सव्वेसु भूदेसु तह्मा ते सव्वसाधवो ॥ ५१२ ॥

निर्वाणसाधकान् योगान् सदा युंजंति साधवः ।
समाः सर्वेषु भूतेषु तस्मात् ते सर्वसाधवः ॥ ५१२ ॥

अर्थ—मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले मूलगुणादिक तपश्चरणोंको जो साधु सर्वकाल अपने आत्मासे जोड़ें और सब जीवोंमें समभावको प्राप्त हुए हों इसलिये वे सर्वसाधु कहलाते हैं ॥५१२॥

एवं गुणजुत्ताणं पंचगुरूणं विसुद्धकरणेहिं ।
जो कुणदि णमोक्कारं सो पावदि णिव्वुदिं सिग्धं॥५१३॥

एवं गुणयुक्तानां पंचगुरूणां विशुद्धकरणैः ।
यः करोति नमस्कारं स प्राप्नोति निर्वृतिं शीघ्रं ॥ ५१३ ॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्तगुणों सहित पंच परमेष्ठियोंको निर्मल मन वचन कायसे जो नमस्कार करता है वह शीघ्र ही मोक्षसुखको पाता है ॥ ५१३ ॥

एसो पंच णमोयारो सव्वपावपणासणो ।
मंगलेसु य सव्वेसु पढमं हवदि मंगलं ॥ ५१४ ॥

एषः पंचनमस्कारः सर्वपापप्रणाशकः ।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं भवति मंगलं ॥ ५१४ ॥

अर्थ—यह पंच नमस्कार मंत्र सब पापोंका नाश करनेवाला है और सब मंगलोंमें यह पंचनमस्कार मुख्य मंगल है । मं जो पाप उसको गालै नाश करै अथवा मंग जो सुख उसको दे वह मंगल कहा है ॥ ५१४ ॥

आगे आवश्यककी निर्युक्ति (शब्दार्थ) कहते हैं;—

ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासयंत्ति बोधव्वा।
जुत्तित्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती ॥५१५

न वशः अवशः अवशस्य कर्म आवश्यकमिति बोद्धव्यं ।
युक्तिरिति उपाय इति च निरवयवा भवति निर्युक्तिः॥५१५॥

अर्थ—जो कषाय रागद्वेष आदिके वशीभूत न हो वह अवश है उस अवशका जो आचरण वह आवश्यक है । तथा युक्ति उपायको कहते हैं जो अखंडित युक्ति वह निर्युक्ति है आवश्यककी जो निर्युक्ति (संपूर्ण उपाय) वह आवश्यक निर्युक्ति है ॥ ५१५ ॥

अब आवश्यकके छह भेद कहते हैं;—

सामाइय चउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं।
पच्चक्खाणं च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो ॥५१६॥

सामायिकं चतुर्विंशस्तवः वंदना प्रतिक्रमणं ।
प्रत्याख्यानं च तथा कायोत्सर्गो भवति षष्ठः ॥ ५१६ ॥

अर्थ—सामायिक चतुर्विंशतिस्तव वंदना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान कायोत्सर्ग ये छह आवश्यकनिर्युक्तिके भेद हैं ॥ ५१६ ॥

आगे सामायिकनिर्युक्तिको कहते हैं;—

सामाइयणिज्जुत्ती वोच्छामि जधाकम्मं समासेण ।
आयरियपरंपरए जहागदं आणुपुव्वीए ॥ ५१७ ॥

सामायिकनिर्युक्तिं वक्ष्ये यथाक्रमं समासेन ।
आचार्यपरंपरया यथागतं आनुपूर्व्या ॥ ५१७ ॥

अर्थ—मैं वट्टकेर नामा ग्रंथकर्ता सामायिकके संपूर्ण उपायोंको

क्रमके अनुसार आचार्योंकी परिपाटीसे आगमकी परिपाटीके अनुसार संक्षेपसे कहता हूं ॥ ५१७ ॥

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य।
सामाइयम्हि एसो णिक्खेओ छव्विओ णेओ॥५१८॥

नामस्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालस्तथैव भावश्च।
सामायिके एषः निक्षेपः षड्विधो ज्ञेयः ॥ ५१८ ॥

अर्थ—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव–इसतरह सामायिकमें छह प्रकारका निक्षेप जानना। शुभ अशुभ नामोंमें रागद्वेषका त्याग वह नामसामायिक है। इसीतरह अन्य भी जानना ॥

सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।
समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाणे ॥ ५१९ ॥

सम्यक्त्वज्ञानसंयमतपोभिः यत्तत् प्रशस्तसमागमनं।
समयस्तु स तु भणितस्तमेव सामायिकं जानीहि ॥ ५१९ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व ज्ञान संयम तप–इन करके जो जीवके भली प्राप्ति अथवा उनकर सहित जीवके एकता वह समय है उसीको तुम सामायिक जानो ॥ ५१९ ॥

जिदउवसग्गपरीसह उवजुत्तो भावणासु समिदीसु।
जमणियमउज्जदमदी सामाइयपरिणदो जीवो॥५२०॥

जितोपसर्गपरीषह उपयुक्तः भावनासु समितिषु।
यमनियमोद्यतमतिः सामायिकपरिणतो जीवः ॥ ५२० ॥

अर्थ—जिसनें उपसर्ग और परीषहोंको जीतलिया है जो बारह भावना तथा पांच समितियोंमें उपयोगयुक्त है और जो यम नियमोंमें उद्यमी है वह जीव सामायिकमें लगा हुआ जानना ५२०

जं च समो अप्पाणं परे य मादूय सव्वमहिलासु ।
अप्पियपियमाणादिसु तो समणो तो य सामइयं ॥५२१

यस्माच्च सम आत्मनि परे च मातरि सर्वमहिलासु ।
अप्रियप्रियमानादिषु तस्मात् श्रमणस्ततश्च सामायिकं ॥५२१॥

अर्थ—जिसलिये अपनेमें और परमें रागद्वेषरहित हैं, माता और सब स्त्रियोंमें शुद्ध भावकर सम हैं अर्थात् सब स्त्रियोंको माताके समान देखते हैं तथा शत्रुमित्र मान अपमान आदिमें सम हैं इसलिये वे श्रमण कहे जाते हैं इसकारण उन्हींको सामायिक जानना ॥ ५२१ ॥

जो जाणइ समवायं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च ।
सब्भावं तं सिद्धं सामाइयमुत्तमं जाणे ॥ ५२२ ॥

यः जानाति समवायं द्रव्याणां गुणानां पर्यायाणां च ।
सद्भावं तं सिद्धं सामायिकमुत्तमं जानीहि ॥ ५२२ ॥

अर्थ—जो द्रव्योंके गुणोंके पर्यायोंके सादृश्यको अथवा एक जगह स्वतःसिद्ध रहनेको जानता है वह उत्तम सामायिक है ऐसा जानना । गुणगुणीकी तादात्म संबंधसे एकता है समवायसे नहीं ॥

रागद्दोसो णिरोहित्ता समदा सव्वकम्मसु ।
सुत्तेसु अ परिणामो सामाइयमुत्तमं जाणे ॥ ५२३ ॥

रागद्वेषौ निरुध्य समता सर्वकर्मसु ।
सूत्रेषु च परिणामः सामायिकमुत्तमं जानीहि ॥ ५२३ ॥

अर्थ—सब कामोंमें राग द्वेषोंको छोड़कर समभाव होना और द्वादशांग सूत्रोंमें श्रद्धान होना उसे तुम उत्तम सामायिक जानो ॥ ५२३ ॥ यहां सम्यक्त्वचारित्रकी अपेक्षा है ।

विरदो सव्वसावज्जं तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
जीवो सामाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं ॥ ५२४ ॥

विरतः सर्वसावद्यं त्रिगुप्तः पिहितेंद्रियः।
जीवः सामायिकं नाम संयमस्थानमुत्तमं ॥ ५२४ ॥

अर्थ—जो सब पापोंसे विरत (रहित) है, तीन गुप्ति सहित है, इसलिये जिसने पांच इंद्रियोंके विषयव्यापारको रोक दिया है ऐसा जीव वह सामायिक है उसीको उत्तम संयमका स्थान जानना ॥ ५२४ ॥

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥ ५२५ ॥

यस्य संनिहितः आत्मा संयमे नियमे तपसि।
तस्य सामायिकं तिष्ठति इति केवलिशासने ॥ ५२५ ॥

अर्थ—जिसका आत्मा संयममें नियममें तपमें लीन है उसीके सामायिक तिष्ठता है ऐसा केवली भगवानके आगममें कहा है ॥ ५२५ ॥

जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य।
जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जणेंति दु ॥ ५२६ ॥

यः समः सर्वभूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च।
यस्य रागश्च दोषश्च विकृतिं न जनयतस्तु ॥ ५२६ ॥

अर्थ—जो त्रस स्थावर ऐसे सब प्राणियोंमें बाधारहित सम परिणाम करता है और जिसके राग द्वेष ये दोनों विकारको नहीं उत्पन्न करते उसीके सामायिक ठहरता है ॥ ५२६ ॥

जेण कोधो य माणो य माया लोभो य णिज्जिदा।

जस्स सण्णा य लेस्सा य वियडिं ण जणेंति दु ॥५२७

येन क्रोधश्च मानश्च माया लोभश्च निर्जिताः ।
यस्य संज्ञाश्च लेश्याश्च विकृतिं न जनयंति तु ॥ ५२७ ॥

अर्थ—जिसने क्रोध मान माया लोभरूप कषायोंको जीतलिया है और जिसके आहार आदि संज्ञा तथा कृष्ण आदि लेश्या विकारको नहीं उपजातीं उसीके सामायिक ठहरता है ॥ ५२७ ॥

जो रसेंदिय फासे य कामे वज्जदि णिच्चसा ।
जो रूवगंधसद्दे य भोगे वज्जदि णिच्चसा ॥ ५२८ ॥

यः रसेंद्रिये स्पर्शने च कामं वर्जयति नित्यशः ।
यः रूपगंधशब्दांश्च भोगं वर्जयति नित्यशः ॥ ५२८ ॥

अर्थ—जो रसना इंद्रिय स्पर्शन इंद्रिय इन कामेंद्रियोंके रस स्पर्श विषयको सदा छोड़ता है और जो चक्षु घ्राण श्रोत्ररूप भोगेंद्रियके रूप गंध शब्दरूप विषयको सदा छोड़ता है उसके ही सामायिक होता है ॥ ५२८ ॥

जो दु अट्टं रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसा ।
जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झायदि णिच्चसा ॥५२९॥

यस्तु आर्तं च रौद्रं च ध्यानं वर्जयति नित्यशः ।
यस्तु धर्मं च शुक्लं च ध्यानं ध्यायति नित्यशः ॥ ५२९ ॥

अर्थ—जो आर्तध्यान रौद्रध्यान इन दो ध्यानोंको हमेशा छोड देता है और जो धर्मध्यान शुक्लध्यान इन दोनोंको हर समय ध्याता है उसीके सामायिक होसकता है ॥ ५२९ ॥

सावज्जजोगपरिवज्जणट्ठं सामाइयं केवलिहिं पसत्थं ।
गिहत्थधम्मोऽपरमत्ति णच्चा कुज्जा बुधोअप्पहियंपसत्थं

सावद्ययोगपरिवर्जनार्थं सामायिकं केवलिभिः प्रशस्तं ।
गृहस्थधर्मोऽपरम इति ज्ञात्वा कुर्यात् बुधः आत्महितं प्रशस्तं५३०

अर्थ—केवली भगवानने पापास्रव रोकनकेलिये सामायिकको कहा है । गृहस्थधर्म आरंभसहित होनेसे जघन्य कहा है । ऐसा जानकर ज्ञानी आत्माका हित करनेवाले सामायिकको करें ॥५३०

सामाइयम्मि दु कदे समणो इर सावओ हवदि जम्हा ।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ ५३१ ॥

सामायिके तु कृते श्रमणः किल श्रावको भवति यस्मात् ।
एतेन कारणेन तु बहुशः सामायिकं कुर्यात् ॥ ५३१ ॥

अर्थ—सामायिक करता हुआ श्रावक भी संयमी मुनिके समान होजाता है इसलिये बहुत करके सामायिक करना चाहिये ॥ ५३१ ॥

सामाइए कदे सावएण विद्धो मओ अरण्णम्मि ।
सो य मओ उद्धादो ण य सो सामाइयं फिडिओ॥५३२

सामायिके कृते श्रावकेण विद्धो मृगः अरण्ये ।
स च मृगः उद्धृतः न च स सामायिकं स्फेटितवान् ॥५३२॥

अर्थ—किसी श्रावकने वनमें सामायिक करना आरंभ किया ऐसे अवसरपर किसी शिकारीने हिरण मारा वह उस श्रावकके चरणोंमें गिरकर मरगया ऐसे समयपर भी उस श्रावकने संसार दशा विचार सामायिकको नहीं छोडा ॥ ५३२ ॥

बावीसं तित्थयरा सामायियसंजमं उवदिसंति ।
छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥ ५३३ ॥

द्वाविंशतितीर्थकराः सामायिकसंयमं उपदिशंति ।

छेदोपस्थापनं पुनः भगवान् ऋषभश्च वीरश्च ॥ ५३३ ॥

अर्थ—अजितनाथको आदि ले पार्श्वनाथ पर्यंत बाईस तीर्थंकर सामायिक संयमका उपदेश करते हैं और भगवान् ऋषभदेव तथा महावीर स्वामी छेदोपस्थापना संयमका उपदेश करते हैं ॥५३३॥

आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता ॥ ५३४ ॥

आख्यातुं विभक्तुं विज्ञातुं चापि सुखतरं भवति।
एतेन कारणेन तु महाव्रतानि पंच प्रज्ञप्तानि ॥ ५३४ ॥

अर्थ—कहनेको विभाग करनेको जाननेको सामायिक सुगम होता है इसलिये पांच महाव्रतोंको कहा ॥ ५३४ ॥

आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाल्ले य।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति॥५३५॥

आदौ दुर्विशोधने निधने तथा सुष्ठु दुरनुपाले च।
पूर्वाश्च पश्चिमा अपि हि कल्पाकल्पं न जानंति ॥ ५३५ ॥

अर्थ—आदितीर्थमें शिष्य सरलस्वभावी होनेसे दुःखकर शुद्ध किये जासकते हैं इसीतरह अंतके तीर्थमें शिष्य कुटिलस्वभावी होनेसे दुःखकर पालन करसकते हैं। जिसकारण पूर्वकालके शिष्य पिछले कालके शिष्य प्रगटरीतिसे योग्य अयोग्य नहीं जानते इसी-कारण आदि अंत तीर्थमें छेदोपस्थापनाका उपदेश है ॥ ५३५ ॥

पडिलिहियअंजलिकरो उवजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो।
अव्वाखित्तो वुत्तो करेदि सामाइयं भिक्खू ॥ ५३६ ॥

प्रतिलेखितांजलिकरः उपयुक्तः उत्थाय एकमनाः।
अव्याक्षिप्तः उक्तः करोति सामायिकं भिक्षुः ॥ ५३६ ॥

अर्थ—जिसने अंजलि और हाथोंको शुद्धकर लिया है सावधानता सहित है जिसका एकाग्र चित्त है जो आकुलतारहित है ऐसा साधु उठ खडा होकर आगमकथित विधिसे सामायिकको करे ॥ ५३६ ॥

आगे चतुर्विंशतिस्तव कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

सामाइयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
चउवीसयणिज्जुत्ती एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥ ५३७ ॥

सामायिकनिर्युक्तिः एषा कथिता मया समासेन ।
चतुर्विंशतिनिर्युक्तिं इत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥ ५३७ ॥

अर्थ—मैंने यह सामायिकनिर्युक्ति संक्षेपसे कही । अब इससे आगे चतुर्विंशतिस्तव निर्युक्तिको कहता हूं ॥ ५३७ ॥

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो थवह्मि णेओ णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ५३८ ॥

नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालश्च भवति भावश्च ।
एष स्तवे ज्ञेयो निक्षेपः षड्विधो भवति ॥ ५३८ ॥

अर्थ—नामस्तव स्थापनास्तव द्रव्यस्तव क्षेत्रस्तव कालस्तव भावस्तव–इसप्रकार चौविसतीर्थंकरोंके स्तवनके छह भेद हैं ॥ नामोंकी स्तुति नामस्तव है इत्यादि अन्य भी इसीतरह जानना ॥ ५३८ ॥

अब स्तुति करनेकी रीति बतलाते हैं;—

लोगुज्जोरा धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते ।
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु ॥ ५३९ ॥

लोकोद्योतकरा धर्मतीर्थकरा जिनवराश्च अर्हंतः ।
कीर्तनीयाः केवलिन एवं च उत्तमबोधिं मह्यं दिशंतु॥५३९॥

अर्थ—जगतको प्रकाश करनेवाले उत्तमक्षमादि धर्मतीर्थके करनेवाले सर्वज्ञ प्रशंसाकरने योग्य प्रत्यक्षज्ञानी जिनेंद्रदेव उत्तम अर्हंत मुझे बोधि (सम्यक्त्वसहित ज्ञान) दें ॥ इसमें दश गुण कहे हैं उनसे स्तुति की गई है ॥ ५३९ ॥

अब प्रथम लोकका स्वरूप कहते हैं;—

लोयदि आलोयदि पल्लोयदि सल्लोयदित्ति एगत्थो ।
जह्मा जिणेहिं कसिणं तेणेसो वुच्चदे लोओ ॥ ५४० ॥

लोक्यते आलोक्यते प्रलोक्यते संलोक्यते इति एकार्थः ।
यस्माज्जिनैः कृत्स्नं तेन एष उच्यते लोकः ॥ ५४० ॥

अर्थ—जिसकारणसे जिनेंद्र भगवानकर मतिश्रुतज्ञानकी अपेक्षा साधारणरूप देखा गया है, अवधिज्ञानकी अपेक्षा कुछ विशेष देखागया है, मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा कुछ उससे भी विशेष और केवलज्ञानकी अपेक्षा संपूर्णरूपसे देखागया है इसलिये यह लोक कहा जाता है ॥ ५४० ॥

णाम ट्ठवणं द्व्वं खेत्तं चिण्हं कसायलोओ य ।
भवलोगो भावलोगो पज्जयलोगो य णादव्वो ॥५४१॥

नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं चिह्नं कषायलोकश्च ।
भवलोको भावलोकः पर्यायलोकश्च ज्ञातव्यः ॥ ५४१ ॥

अर्थ—नामलोक स्थापनालोक द्रव्यलोक क्षेत्रलोक चिह्नलोक कषायलोक भवलोक भावलोक पर्यायलोक—इस तरह लोकके नौ निक्षेप जानने ॥ ५४१ ॥

णामाणि जाणि काणिचि सुहासुहाणि लोगह्मि ।
णामलोगं वियाणाहि अणंत जिणदेसिदं ॥ ५४२ ॥

नामानि यानि कानिचित् शुभाशुभानि लोके।
नामलोकं विजानीहि अनंतजिनदर्शितं ॥ ५४२ ॥

अर्थ—इस लोकमें जितने कुछ शुभ अशुभ नाम हैं उनको नामलोक जानो ऐसा अविनाशी जिनभगवानने उपदेश किया है॥

ठविदं ठाविदं चावि जं किंचि अत्थि लोगह्मि।
ठवणालोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥ ५४३ ॥

स्थितं स्थापितं चापि यत् किंचिदस्ति लोके।
स्थापनालोकं विजानीहि अनंतजिनदेशितं ॥ ५४३ ॥

अर्थ—अकृत्रिम और कृत्रिम रूप जो कुछ इस लोकमें विद्यमान है वह स्थापना लोक है ऐसा अविनाशी जिनभगवानका उपदेश है ॥ ५४३ ॥

जीवाजीवं रूवारूवं सपदेसमपदेसं च।
दव्वलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥ ५४४ ॥

जीवाजीवं रूप्यरूपि सप्रदेशमप्रदेशं च।
द्रव्यलोकं विजानीहि अनंतजिनदेशितं ॥ ५४४ ॥

अर्थ—चेतन अचेतन रूपी अरूपी सप्रदेश अप्रदेश जितने द्रव्य हैं उसे द्रव्यलोक जानना ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है ॥५४४॥

परिणाम जीव मुत्तं सपदेसं एकखेत्त किरिआ य।
णिचं कारण कत्ता सव्वगदिदरह्मि अपवेसो ॥ ५४५॥

परिणामि जीवो मूर्तं सप्रदेशं एकक्षेत्रं क्रियावत् च।
नित्यः कारणं कर्ता सर्वगत इतरस्मिन् अप्रवेशः ॥५४५॥

अर्थ—इन द्रव्योंमें परिणामी चेतन मूर्त सप्रदेश एकक्षेत्र

क्रियावान् नित्य कारण कर्ता सर्वव्यापी दूसरेमें प्रवेश न होनेवाले कोई द्रव्य हैं और कोई इनसे उलटे अर्थात् अपरिणामी आदि हैं॥

आयासं सपदेसं उड्ढमहो तिरियलोगं च ।
खेत्तलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥ ५४६ ॥

आकाशं सप्रदेशं ऊर्ध्वमधः तिर्यग्लोकं च ।
क्षेत्रलोकं विजानीहि अनंतजिनदेशितं ॥ ५४६ ॥

अर्थ—प्रदेश सहित आकाश ऊर्ध्वलोक अधोलोक तिर्यग्लोकरूप तीनप्रकार है उसे क्षेत्रलोक जानना ॥ ५४६ ॥

जं दिट्ठं संठाणं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च ।
चिण्हलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥ ५४७ ॥

यत् दृष्टं संस्थानं द्रव्याणां गुणानां पर्यायाणां च ।
चिह्नलोकं विजानीहि अनंतजिनदेशितं ॥ ५४७ ॥

अर्थ—द्रव्योंका जो आकाररूप होना अर्थात् समचतुरस्र आकाररूप जीवद्रव्यका होना इत्यादि तथा गुणोंका आकार पर्यायोंका आकार वह चिह्नलोक है ऐसा जानो, ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है ॥ ५४७ ॥

कोधो माणो माया लोभो उदिण्णा जस्स जंतुणो ।
कसायलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥ ५४८ ॥

क्रोधो मानो माया लोभः उदीर्णाः यस्य जंतोः ।
कषायलोकं विजानीहि अनंतजिनदेशितं ॥ ५४८ ॥

अर्थ—जिस जीवके क्रोध मान माया लोभ—ये चारों कषायें उदयको प्राप्त हों वह कषायलोक है ऐसा जानना ॥ ५४८ ॥

णेरइयदेवमाणुसतिरिक्खजोणिं गदा य जे सत्ता ।

णिययभवे वट्टंता भवलोगं तं विजाणाहि ॥ ५४९ ॥

नारकदेवमनुष्यतिर्यग्योनिं गताश्च ये सत्त्वाः ।
निजभवे वर्तमाना भवलोकं तं विजानीहि ॥ ५४९ ॥

अर्थ—नारक देव मनुष्य तिर्यंच योनिमें प्राप्त हुए और अपने वर्तमान पर्यायमें प्राप्त जो जीव उनको भवलोक जानना ५४९

तिव्वो रागो य दोसो य उदिण्णा जस्स जंतुणो ।
भावलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥ ५५० ॥

तीव्रो रागश्च द्वेषश्च उदीर्णा यस्य जंतोः ।
भावलोकं विजानीहि अनंतजिनदेशितं ॥ ५५० ॥

अर्थ—जिस जीवके अत्यंत राग द्वेष उदयको प्राप्त हों. वह भावलोक है ऐसा जिनदेवने कहा है ॥ ५५० ॥

दव्वगुणखेत्तपज्जय भावाणुभावो य भावपरिणामो ।
जाण चउव्विहमेयं पज्जयलोगं समासेण ॥ ५५१ ॥

द्रव्यगुणक्षेत्रपर्यायाः भावानुभावश्च भावपरिणामः ।
जानीहि चतुर्विधमेवं पर्यायलोकं समासेन ॥ ५५१ ॥

अर्थ—द्रव्योंके ज्ञानादिगुण, क्षेत्रोंके स्वर्ग नरक भरत क्षेत्र आदि पर्याय, आयुके जघन्य आदि भेद, शुभाशुभ असंख्याते परिणाम–इसतरह द्रव्यगुण १ क्षेत्रपर्याय २ भावानुभाव ३ भाव-परिणाम ४ इन चारोंको संक्षेपसे पर्यायलोक जानना ॥ ५५१ ॥

आगे उद्योतका स्वरूप कहते हैं;—

उज्जोवो खलु दुविहो णादव्वो दव्वभावसंजुत्तो ।
दव्वुज्जोवो अग्गी चंदो सूरो मणी चेव ॥ ५५२ ॥

उद्योतः खलु द्विविधः ज्ञातव्यः द्रव्यभावसंयुक्तः ।

द्रव्योद्योतः अग्निः चंद्रः सूर्यो मणिश्चैव ॥ ५५२ ॥

अर्थ—प्रकाशके दो भेद हैं द्रव्य भाव । अग्नि चंद्रमा सूर्य रत्न ये सब द्रव्यउद्योत हैं ॥ ५५२ ॥

भावुज्जोवो णाणं जह भणियं सव्वभावदरिसीहिं ।
तस्स दुपयोगकरणे भावुज्जोवोत्ति णादव्वो ॥ ५५३ ॥

भावोद्योतो ज्ञानं यथा भणितं सर्वभावदर्शिभिः ।
तस्य तु उपयोगकरणे भावोद्योत इति ज्ञातव्यः ॥ ५५३ ॥

अर्थ—ज्ञान है वही भावउद्योत है ऐसा केवली भगवानने कहा है । उस ज्ञानके उपयोग करनेसे स्वपरप्रकाशपना है इसीलिये वह ज्ञान भावउद्योत है ऐसा जानना ॥ ५५३ ॥

पंचविहो खलु भणिओ भावुज्जोवो य जिणवरिंदेहिं ।
आभिणिओहियसुदओहिणाणमणकेवलं णेयं ॥५५४॥

पंचविधः खलु भणितः भावोद्योतश्च जिनवरेंद्रैः ।
आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानमनःकेवलं ज्ञेयं ॥ ५५४ ॥

अर्थ—जिनदेवने भावोद्योतके पांच भेद कहे हैं—मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवलज्ञान । ऐसा जानना ॥ ५५४ ॥

दव्वुज्जोवोज्जोवो पडिहण्णदि परिमिदह्मि खेत्तह्मि ।
भावुज्जोवोज्जोवो लोगालोगं पयासेदि ॥ ५५५ ॥

द्रव्योद्योतः उद्योतः प्रतिहन्यते परिमिते क्षेत्रे ।
भावोद्योत उद्योतः लोकालोकं प्रकाशयति ॥ ५५५ ॥

अर्थ—द्रव्योद्योतरूप उद्योत अन्य द्रव्यसे रुक जाता है और परिमित (मर्यादारूप) क्षेत्रमें रहता है तथा भावोद्योतरूपी उद्योत लोक अलोक सबको प्रकाशता है किसीसे रुकता नहीं ५५५

लोगस्सुज्जोवयरा दव्वुज्जोएण ण हु जिणा होंति।
भावुज्जोवयरा पुण होंति जिणवरा चउव्वीसा॥५५६॥

लोकस्योद्योतकरा द्रव्योद्योतेन न खलु जिना भवंति।
भावोद्योतकराः पुनः भवंति जिनवराः चतुर्विंशतिः॥५५६

अर्थ—जिन भगवान द्रव्योद्योतसे लोकके उद्योत करनेवाले नहीं हैं। तथा चौवीस तीर्थंकर जिनवर भावोद्योतके करनेवाले होते हैं इसकारण लोकके उद्योतक हैं॥ ५५६॥

तिविहो य होदि धम्मो सुदधम्मो अत्थिकायधम्मो य।
तदिओ चरित्तधम्मो सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं ५५७

त्रिविधश्च भवति धर्मः श्रुतधर्म अस्तिकायधर्मश्च।
तृतीयः चारित्रधर्मः श्रुतधर्मः अत्र पुनः तीर्थं॥ ५५७॥

अर्थ—धर्मके तीन भेद हैं श्रुतधर्म १ अस्तिकायधर्म २ चारित्रधर्म ३। इन तीनोंमेंसे श्रुतधर्म तीर्थ कहा जाता है॥५५७

दुविहं च होइ तित्थं णादव्वं दव्वभावसंजुत्तं।
एदेसिं दोण्हंपि य पत्तेय परूवणा होदि॥ ५५८॥

द्विविधं च भवति तीर्थं ज्ञातव्यं द्रव्यभावसंयुक्तं।
एतयोः द्वयोरपि प्रत्येकं प्ररूपणा भवति॥ ५५८॥

अर्थ—तीर्थके दो भेद हैं द्रव्य भाव। इन दोनोंकी प्ररूपणा भिन्न २ है ऐसा जानना॥ ५५८॥

दाहोपसमण तण्हा छेदो मलपंकपवहणं चेव।
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तह्मा तं दव्वदो तित्थं॥५५९॥

दाहोपशमनं तृष्णाछेदः मलपंकप्रवहणं चैव।
त्रिभिः कारणैः युक्तं तस्मात् तद्द्रव्यतः तीर्थम्॥ ५५९॥

अर्थ—संताप शांत होता है तृष्णाका नाश होता है मलपंककी शुद्धि होती है ये तीन कार्य होते हैं इसलिये यह द्रव्य तीर्थ है॥

दंसणणाणचरित्ते णिजुत्ता जिणवरा दु सव्वेपि।
तिहिं कारणेहिं जुत्ता तह्मा ते भावदो तित्थं॥५६०॥

दर्शनज्ञानचारित्रैः निर्युक्ता जिनवरास्तु सर्वेपि।
त्रिभिः कारणैः युक्ताः तस्मात् ते भावतस्तीर्थम्॥५६०॥

अर्थ—सभी जिनदेव दर्शन ज्ञान चारित्रकर संयुक्त हैं। इन तीन कारणोंसे युक्त हैं इसलिये वे जिनदेव भावतीर्थ हैं॥५६०॥

जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति।
हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेण वुच्चंति॥५६१॥

जितक्रोधमानमाया जितलोभाः तेन ते जिना भवंति।
हंतारः अरीणां च जन्मनः अर्हंतस्तेन उच्यंते॥५६१॥

अर्थ—क्रोध मान माया लोभ इन कषायोंको जीत लिया है इसलिये वे भगवान् जिन हैं। और कर्मशत्रुओंके तथा संसारके नाश करनेवाले हैं इसलिये अर्हंत कहे जाते हैं॥५६१॥

अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति॥५६२॥

अर्हंति वंदनानमस्कारयोः अर्हंति पूजासत्कारं।
अर्हंति सिद्धिगमनं अर्हंतः तेन उच्यंते॥५६२॥

अर्थ—वंदना और नमस्कारके योग्य हैं पूजा और सत्कारके योग्य हैं मोक्ष जानेके योग्य हैं इस कारण वे अर्हंत कहे जाते हैं॥

किह ते ण कित्तणिज्जा सदेवमणुयासुरेहिं लोगेहिं।
दंसणणाणचरित्ते तव विणओ जेहिं पण्णत्तो॥५६३॥

कथं ते न कीर्तनीयाः सदेवमनुजासुरैः लोकैः ।
दर्शनज्ञानचारित्राणां तपसः विनयो यैः प्रज्ञप्तः ॥ ५६३॥

अर्थ—जिन तीर्थकरोंने दर्शन ज्ञान चारित्र तपके विनयका उपदेश किया है वे भगवान् देव मनुष्य असुरोंकर क्यों नहीं गुणानुवाद योग्य होसकते सदा ही देवादिकोंसे पूजने योग्य हैं॥५६३॥

सव्वं केवलकप्पं लोगं जाणंति तह य पस्संति ।
केवलणाणचरित्ता तह्मा ते केवली होंति ॥ ५६४ ॥

सर्वं केवलकल्पं लोकं जानंति तथा च पश्यंति ।
केवलज्ञानचारित्राः तस्मात् ते केवलिनो भवंति ॥ ५६४ ॥

अर्थ—जिस कारण सब केवलज्ञानका विषय लोक अलोकको जानते हैं और उसीतरह देखते हैं। तथा जिनके केवलज्ञान ही आचरण है इसलिये वे भगवान केवली हैं ॥ ५६४ ॥

मिच्छत्तवेदणीयं णाणावरणं चरित्तमोहं च ।
तिविहा तमाहु मुक्का तह्मा ते उत्तमा होंति ॥५६५॥

मिथ्यात्ववेदनीयं ज्ञानावरणं चारित्रमोहं च ।
त्रिविधात् तमसो मुक्ता तस्मात् ते उत्तमा भवंति ॥५६५॥

अर्थ—अश्रद्धानरूप मिथ्यात्ववेदनीय, ज्ञानावरण, चारित्रमोह—इन तीन तरहके अंधकारोंसे रहित हैं इसलिये वे भगवान् उत्तम हैं ॥ ५६५ ॥

आरोग्ग बोहिलाहं देंतु समाहिं च मे जिणवरिंदा ।
किं ण हु णिदाणमेयं णवरि विभासेत्थ कायव्वा॥५६६

आरोग्यं बोधिलाभं ददतु समाधिं च मे जिनवरेंद्राः ।
किं न खलु निदानमेतत् केवलं विभाषात्र कर्तव्या॥५६६॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्त विशेषणों सहित जिनेंद्रदेव मुझे जन्ममरणरूप रोगसे रहित करें तथा भेद ज्ञानकी प्राप्ति और समाधिमरण दें। क्या यह निदान है यहां विकल्पसे समझना ॥ ५६६ ॥

वास्तवमें यह निदान नहीं है इसका खुलासा करते हैं;—

भासा असच्चमोसा णवरि हु भत्तीय भासिदा भासा।
ण हु खीणरागदोसा दिंति समाहिं च बोहिं च॥५६७

भाषा असत्यमृषा केवलं हि भक्त्या भाषिता भाषा।
न हि क्षीणरागद्वेषा ददति समाधिं च बोधिं च॥५६७॥

अर्थ—यह असत्यमृषा वचन है केवल भक्तिसे यह वचन कहा गया है। क्योंकि जिनके राग द्वेष क्षीण होगये हैं वे जिनदेव समाधि और बोधिको नहीं देसकते ॥ ५६७ ॥

जं तेहिं दु दादव्वं तं दिण्णं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
दंसणणाणचरित्तस्स एस तिविहस्स उवदेसो॥५६८॥

यत् तैस्तु दातव्यं तद्दत्तं जिनवरैः सर्वैः।
दर्शनज्ञानचारित्राणां एष त्रिविधानामुपदेशः ॥ ५६८ ॥

अर्थ—जो जिनवरोंकर देनेयोग्य था वह सब देदिया। वह देने योग्य वस्तु दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोंका उपदेश है। यही मोक्षका कारण है॥ ५६८ ॥

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति॥५६९॥

भक्त्या जिनवराणां क्षीयते यत् पूर्वसंचितं कर्म।
आचार्यप्रसादेन च विद्या मंत्राश्च सिद्ध्यंति ॥ ५६९ ॥

अर्थ—जिनेंद्र देवोंकी भक्ति करनेसे पूर्व इकट्ठे किये हुए

कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं और आचार्योंकी भक्तिके प्रसादसे विद्या और मंत्र सिद्ध होजाते हैं ॥ ५६९ ॥

अरहंतेसु य राओ ववगदरागेसु दोसरहिएसु ।
धम्मह्मि य जो राओ सुदे य जो बारसविधह्मि॥५७०
आयरियेसु य राओ समणेसु य बहुसुदे चरित्तड्ढे ।
एसो पसत्थराओ हवदि सरागेसु सव्वेसु ॥ ५७१ ॥

अर्हत्सु च रागः व्यपगतरागेषु दोषरहितेषु ।
धर्मे च यः रागः श्रुते च यो द्वादशविधे ॥ ५७० ॥
आचार्येषु च रागः श्रमणेषु च बहुश्रुते चरित्राढ्ये ।
एष प्रशस्तरागो भवति सरागेषु सर्वेषु ॥ ५७१ ॥

अर्थ—रागरहित अठारह दोषरहित ऐसे अरहंतोंमें राग (भक्ति), धर्ममें प्रीति, द्वादशांग श्रुतमें राग, आचार्योंमें राग, मुनियोंमें राग, उपाध्यायमें राग, उत्कृष्ट चारित्रधारीमें राग होना ये सब शुभ राग हैं ॥ ५७०।५७१ ॥

तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झंति तह य भत्तीए ।
तो भत्ति रागपुव्वं वुच्चइ एदं ण हु णिदाणं ॥ ५७२॥

तेषां अभिमुखतया अर्थाः सिद्ध्यंति तथा च भक्त्या ।
तस्मात् भक्तिः रागपूर्वमुच्यते एतन्न खलु निदानं ॥५७२॥

अर्थ—उन जिनवरोंके सन्मुख होनेसे तथा उनकी भक्तिसे वांछित कार्य सिद्ध होते हैं इसलिये यह भक्ति रागपूर्वक है निदान नहीं है क्योंकि संसारके कारणको निदान कहते हैं यहां संसारके कारणका अभाव है ॥ ५७२ ॥

चउरंगुलंतरपादो पडिलेहिय अंजलीकयपसत्थो ।

अव्वाखित्तो वुत्तो कुणदि य चउवीसथोत्तयं भिक्खू ५७
चतुरंगुलांतरपादः प्रतिलेख्यः अंजलीकृतप्रशस्तः ।
अव्याक्षिप्त उक्तः करोति च चतुर्विंशतिस्तोत्रं भिक्षुः॥५७३

अर्थ—जिसने पैरोंका अंतर चार अंगुल किया हो, शरीर भूमि चित्तको जिसने शुद्ध कर लिया हो, अंजलिको करनेसे सौम्य भाववाला हो, सब व्यापारोंसे रहित हो ऐसा संयमी मुनि चौवीसतीर्थकरोंकी स्तुति करै ॥ ५७३ ॥

चउवीसयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
वंदणणिज्जुत्ती पुण एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥ ५७४ ॥
चतुर्विंशतिनिर्युक्तिः एषा कथिता मया समासेन ।
वंदनानिर्युक्तिं पुनः इत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥ ५७४ ॥

अर्थ—मैंने यह चतुर्विंशतिस्तवनिर्युक्ति संक्षेपसे कही है अब इससे आगे वंदना निर्युक्तिको कहता हूं ॥ ५७४ ॥

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो खलु वंदणगे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥ ५७५ ॥
नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालश्च भवति भावश्च ।
एष खलु वंदनाया निक्षेपः षड्विधो ज्ञेयः ॥ ५७५ ॥

अर्थ—नामवंदना, स्थापना, द्रव्य क्षेत्र काल भाव—इसतरह वंदनाका निक्षेप छह प्रकारका है ऐसा जानना ॥ ५७५ ॥

किदियम्मं चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च ।
कादव्वं केण कस्स व कथं व कहिं व कदिखुत्तो॥५७६
कदि ओणदं कदि सिरं कदिए आवत्तगेहिं परिसुद्धं ।
कदिदोसविप्पमुक्कं किदियम्मं होदि कादव्वं ॥ ५७७॥

कृतिकर्म चितकर्म पूजाकर्म च विनयकर्म च ।
कर्तव्यं केन कस्य वा कथं वा कस्मिन् वा कृतिकृत्वः॥५७६
कियंत्यवनतानि कति शिरांसि कतिभिः आवर्तकैः परिशुद्धं ।
कतिदोषविप्रमुक्तं कृतिकर्म भवति कर्तव्यं ॥ ५७७ ॥

अर्थ—जिससे आठ प्रकारके कर्मोंका छेदन हो वह कृतिकर्म है, जिससे पुण्यकर्मका संचय हो वह चितकर्म है, जिससे पूजा करना वह माला चंदन आदि पूजाकर्म है, शुश्रूषाका करना विनयकर्म है । वह क्रिया कर्म कौन करे किसका करना किस विधिसे करना किस अवस्थामें करना कितनी वार करना । कितनी अवनतियोंसे करना कितनी वार मस्तकमें हाथ रखकर करना कितने आवर्तोंसे शुद्ध होता है कितने दोषों रहित कृतिकर्म करना । इसप्रकार प्रश्नोंपर विचार करना चाहिये ॥५७६।५७७॥

कृतिकर्म विनयका एकार्थ है इसलिये विनयकी निरुक्ति करते हैं;—

जह्मा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य ।
तह्मा वदंति विदुसो विणओत्ति विलीणसंसारा ५७८

यस्मात् विनयति कर्म अष्टविधं चातुरंगमोक्षश्च ।
तस्मात् वदंति विद्वांसो विनय इति विलीनसंसाराः ॥५७८

अर्थ—जिसकारण आठ प्रकारके कर्मोंका नाश करता है चतुर्गतिरूप संसारसे मोक्ष करता है इसकारणसे संसारसे पार हुए पंडित पुरुष उसको विनय कहते हैं ॥ ५७८ ॥

पुव्वं चेव य विणओ परूविदो जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
सव्वासु कम्मभूमिसु णिच्चं सो मोक्खमग्गम्मि ॥५७९॥

पूर्वस्मिन् चैव विनयः प्ररूपितो जिनवरैः सर्वैः ।
सर्वासु कर्मभूमिषु नित्यं स मोक्षमार्गे ॥ ५७९ ॥

अर्थ—सब जिनवरदेवोंने सब कर्मभूमियोंमें प्रथमकालमें मोक्षमार्गके निमित्त विनयका ही मुख्य उपदेश किया है वह हमेशा करना चाहिये ॥ ५७९ ॥

लोगाणुवित्तिविणओ अत्थणिमित्ते य कामतंते य ।
भयविणओ य चउत्थो पंचमओ मोक्खविणओ य५८०

लोकानुवृत्तिविनयः अर्थनिमित्तं च कामतंत्रं च ।
भयविनयश्च चतुर्थः पंचम. मोक्षविनयश्च ॥ ५८० ॥

अर्थ—लोकानुवृत्ति विनय, अर्थनिमित्त, कामतंत्र, भयविनय और पांचवां मोक्षविनय है ॥ ५८० ॥

अब्भुट्ठाणं अंजलियासणदाणं च अतिहिपूजा य ।
लोगाणुवित्तिविणओ देवदपूया सविभवेण ॥ ५८१ ॥

अभ्युत्थानं अंजलिः आसनदानं च अतिथिपूजा च ।
लोकानुवृत्तिविनयः देवतापूजा स्वविभवेन ॥ ५८१ ॥

अर्थ—आसनसे उठना, हाथ जोड़ना, आसन देना, पाहुणगति करना, देवताकी पूजा अपनी सामर्थ्यके अनुसार करना—ये सब लोकानुवृत्ति विनय है ॥ ५८१ ॥

भासाणुवित्ति छंदाणुवत्तणं देसकालदाणं च ।
लोकाणुवित्तिविणओ अंजलिकरणं च अत्थकदे॥५८२

भाषानुवृत्तिः छंदानुवर्तनं देशकालदानं च ।
लोकानुवृत्तिविनयः अंजलिकरणं च अर्थकृते ॥ ५८२ ॥

अर्थ—किसी पुरुषके वचनके अनुकूल बोलना, उसके अभि-

भायके अनुकूल बोलना, देश योग्य कालयोग्य अपना द्रव्य देना- ये सब लोकानुवृत्ति विनय है। अपने प्रयोजनकेलिये हाथ जोड़ना अर्थनिमित्त विनय है ॥ ५८२ ॥

एमेव कामतंते भयविणओ चेव आणुपुव्वीए।
पंचमओ खलु विणओ परूवणा तस्सिमा होदि॥५८३

एवमेव कामतंत्रे भयविनयः चैव आनुपूर्व्या।
पंचमः खलु विनयः प्ररूपणा तस्येयं भवति ॥ ५८३ ॥

अर्थ—इसीतरह काम पुरुषार्थके निमित्त विनय करना कामतंत्र विनय है भयके कारण विनय करना भयविनय है। पांचवां जो मोक्षविनय है उसका कथन अब करते हैं ॥ ५८३ ॥

दंसणणाणचरित्ते तवविणओ ओवचारिओ चेव।
मोक्खह्मि एस विणओ पंचविहो होदि णादव्वो५८४

दर्शनज्ञानचारित्रे तपसि विनयः औपचारिकश्चैव।
मोक्षे एष विनयः पंचविधो भवति ज्ञातव्यः ॥ ५८४ ॥

अर्थ—दर्शनविनय ज्ञानविनय चारित्रविनय तपोविनय औपचारिक विनय-इसतरह मोक्षविनयके पांच भेद हैं ऐसा जानना॥

जे दव्वपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे।
ते तह सद्दहदि णरो दंसणविणओत्ति णादव्वो॥५८५

ये द्रव्यपर्यायाः खलु उपदिष्टा जिनवरैः श्रुतज्ञाने।
तान् तथा श्रद्दधाति नरः दर्शनविनय इति ज्ञातव्यः ५८५

अर्थ—श्रुतज्ञानमें जिनवरदेवने जो द्रव्य पर्याय कहे हैं उनको उसीतरहसे जो मनुष्य श्रद्धान करता है उसे दर्शनविनय जानना ॥ ५८५ ॥

णाणी गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि ।
णाणेण कुणदि चरणं तह्मा णाणे हवे विणओ॥५८६॥

ज्ञानी गच्छति ज्ञानी वंचति ज्ञानी नवं च नाददाति ।
ज्ञानेन करोति चरणं तस्मात् ज्ञाने भवेत् विनयः ॥५८६॥

अर्थ—ज्ञानी मोक्षको जानता है ज्ञानी पापको छोड़ता है ज्ञानी नवीन कर्मोंको ग्रहण नहीं करता, ज्ञानी चारित्रको अंगीकार करता है इसलिये ज्ञानमें विनय अर्थात् ज्ञानविनय करना चाहिये॥

पोराणय कम्मरयं चरिया रित्तं करेदि जदमाणो ।
णवकम्मं ण य बंधदि चरित्तविणओत्ति णादव्वो५८७

पौराणं कर्मरजः चर्यया रिक्तं करोति यतमानः ।
नवकर्म न च बध्नाति चरित्रविनय इति ज्ञातव्यः ॥५८७॥

अर्थ—यत्नाचार सहित प्रवर्तता ज्ञानी चारित्रसे पुराने कर्मोंरूप धूलीका क्षय करता है और नवीनकर्मोंको बांधता नहीं है यही चारित्र–विनय है ऐसा जानना ॥ ५८७ ॥

अवणयदि तवेण तमं उवणयदि मोक्खमग्गमप्पाणं ।
तवविणयणियमिदमदी सो तवविणओत्ति णादव्वो ॥

अपनयति तपसा तमः उपनयति मोक्षमार्गमात्मानं ।
तपोविनयनियमितमतिः स तपोविनय इति ज्ञातव्यः ५८८

अर्थ—जिसकी तपविनयमें बुद्धि दृढ है ऐसा पुरुष तपसे पापरूपी अंधकारको हटाता है आत्माको मोक्षमार्गमें प्राप्त करता है यही तपविनय है ऐसा जानना ॥ ५८८ ॥

तह्मा सव्वपयत्ते विणयत्तं मा कदाइ छंडिज्जो ।
अप्पसुदो विय पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण५८९

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन विनयत्वं मा कदापि त्यजेत् ।
अल्पश्रुतोपि च पुरुषः क्षपयति कर्माणि विनयेन ॥५८९॥

अर्थ—इसलिये संयमी पुरुष सब प्रयत्नोंसे विनयभाव कभी न छोड़ै । थोड़ा श्रुत (आगम) जाननेवाला भी पुरुष इस विनयसे कर्मोंका नाश करदेता है ॥ ५८९ ॥

पंचमहव्वदगुत्तो संविग्गोऽणालसो अमाणी य।
किदियम्म णिज्जरट्ठी कुणइ सदा ऊणरादिणिओ ५९०

पंचमहाव्रतगुप्तः संविग्नः अनालसः अमानी च।
कृतिकर्म निर्जरार्थी करोति सदा ऊनरात्रिकः ॥ ५९० ॥

अर्थ—पांच महाव्रतोंके आचरणमें लीन, धर्ममें उत्साहवाला, उद्यमी, मानकषायरहित, निर्जराको चाहनेवाला, दीक्षासे लघु ऐसा संयमी कृतिकर्मको करता है ॥ ५९० ॥

आइरियउवज्झायाणं पवत्तयत्थेरगणधरादीणं ।
एदेसिं किदियम्मं कादव्वं णिज्जरट्ठाए ॥ ५९१ ॥

आचार्योपाध्यायानां प्रवर्तकस्थविरगणधरादीनां ।
एतेषां कृतिकर्म कर्तव्यं निर्जरार्थं ॥ ५९१ ॥

अर्थ—आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक स्थविर गणधर आदिका कृतिकर्म निर्जराकेलिये करना चाहिये । मंत्रकेलिये नहीं ॥५९१॥

णो वंदेज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंद अण्णतित्थं।
वा देसविरद देवं वा विरदो पासत्थपणगं वा॥५९२॥

नो वंदेत अविरतं मातरं पितरं गुरुं नरेंद्रं अन्यतीर्थं ।
वा देशविरतं देवं वा विरतः पार्श्वस्थपंचकं वा ॥ ५९२ ॥

अर्थ—संयमी मुनि असंयमीजनोंको वंदना नहीं करे । वे ये

हैं—माता पिता आचरणशिथिल दीक्षागुरु श्रुतगुरु राजा, पाखंडी, श्रावक, यक्षादि देव तथा ज्ञानादिमें शिथिल पांच तरहके साधु ॥

पासत्थो य कुसीलो संसत्तोसण्ण मिगचरित्तो य।
दंसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मंदसंवेगा ॥ ५९३ ॥

पार्श्वस्थश्च कुशीलः संसक्तोऽपसंज्ञो मृगचरित्रश्च ।
दर्शनज्ञानचारित्रे अनियुक्ता मंदसंवेगाः ॥ ५९३ ॥

अर्थ—संयमीके निकट रहनेवाला, क्रोधादिसे मलिन, लोभसे राजादिकी सेवा करनेवाला, जिनवचनको नहीं जाननेवाला, तप और शास्त्रज्ञानसे रहित जिनसूत्रमें दोष देनेवाला-ये पांच पार्श्वस्थ आदि साधु दर्शन ज्ञान चारित्रमें युक्त नहीं हैं और धर्मादिमें हर्षरहित हैं इसलिये वंदने योग्य नहीं हैं ॥ ५९३ ॥

दंसणणाणचरित्तेतवविणए णिच्चकाल पासत्था ।
एदे अवंदणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधराणाम् ॥ ५९४ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयेभ्यः नित्यकालं पार्श्वस्थाः ।
एते अवंदनीयाः छिद्रप्रेक्षिणो गुणधराणाम् ॥ ५९४ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र तपविनयोंसे सदाकाल दूर रहनेवाले और गुणी संयमियोंके सदा दोषोंके देखनेवाले पार्श्वस्थ आदि हैं इसलिये नमस्कार करने योग्य नहीं हैं ॥ ५९४ ॥

समणं वंदेज्ज मेधावी संजतं सुसमाहिदं ।
पंचमहव्वदकलिदं असंजमजुगंछयं धीरं ॥ ५९५ ॥

श्रमणं वंदेत मेधाविन् संयतं सुसमाहितं ।
पंचमहाव्रतकलितं असंयमजुगुप्सकं धीरं ॥ ५९५ ॥

अर्थ—हे बुद्धिमान् तू ऐसे संयमीकी वंदना कर जो कि

आचरणमें दृढ हो, ध्यान अध्ययनमें लीन हो, अहिंसादि पांच महाव्रतोंकर सहित हो, असंयमसे ग्लानि रखनेवाला हो और वीर्यवान् हो ॥ ५९५ ॥

दंसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकालमुवजुत्ता ।
एदे खु वंदणिज्जा जे गुणवादी गुणधराणं ॥ ५९६ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रे तपोविनयेषु नित्यकालमुपयुक्ताः ।
एते खलु वंदनीया ये गुणवादिनः गुणधराणाम् ॥ ५९६ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र तपविनयमें सदाकाल लीन हों और शीलादिगुणधारकोंके गुणोंको कहनेवाले हों वे निश्चयकर वंदने योग्य हैं ॥ ५९६ ॥

वाखित्तपराहुत्तं तु पमत्तं मा कदाइ वंदिज्जो ।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि ॥ ५९७ ॥

व्याक्षिप्तपरावृत्तं तु प्रमत्तं मा कदाचित् वंदेत ।
आहारं च कुर्वंतं नीहारं वा यदि करोति ॥ ५९७ ॥

अर्थ—व्याख्यानादिसे आकुल चित्तवाला दूर रहनेवाला निद्रा विकथादिमें लीन तथा भोजनादि कर रहा हो मलमूत्रादि शौच-क्रिया कर रहा हो ऐसी अवस्थावालेको वंदना नहीं करनी चाहिये ॥

आसणे आसणत्थं च उवसंतं च उवट्ठिदं ।
अणुविण्णय मेधावी किदियम्मं पउंजदे ॥ ५९८ ॥

आसने आसनस्थं च उपशांतं च उपस्थितं ।
अनुविज्ञप्य मेधावी कृतिकर्म प्रयुंक्ते ॥ ५९८ ॥

अर्थ—एकांत भूमिमें पद्मासनादिसे तिष्ठते हुए स्वस्थचित्त

निकट रहनेवाले ऐसे मुनीश्वरोंकी वंदना करे। मैं वंदना करता हूं ऐसा संबोधन कर, इसविधानसे बुद्धिमान् कृतिकर्म करे ॥५९८॥

आलोयणाय करणे पडिपुच्छा पूजणे य सज्झाए।
अवराधे य गुरूणं वंदणमेदेसु ठाणेसु ॥ ५९९ ॥

आलोचनायाः करणे प्रतिपृच्छायां पूजने च स्वाध्याये ।
अपराधे च गुरूणां वंदनमेतेषु स्थानेषु ॥ ५९९ ॥

अर्थ—आलोचनाके समय प्रश्नके समय पूजाके समय स्वाध्यायके समय क्रोधादिक अपराधके समय–इतने स्थानोंमें आचार्य उपाध्याय आदिको वंदना करनी चाहिये ॥ ५९९ ॥

चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए।
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति ॥ ६०० ॥

चत्वारि प्रतिक्रमणे कृतिकर्माणि त्रीणि भवंति स्वाध्याये ।
पूर्वाह्णे अपराह्णे कृतिकर्माणि चतुर्दश भवंति ॥ ६०० ॥

अर्थ—प्रतिक्रमणकालमें चार क्रियाकर्म (कायोत्सर्ग) होते हैं स्वाध्याय कालमें तीन क्रिया कर्म हैं इसतरह सात सवेरेके और सात सांझके सब चौदह क्रियाकर्म होते हैं ॥ ६०० ॥

दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेव य।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे ॥ ६०१ ॥

द्व्यवनतिस्तु यथाजातं द्वादशावर्तमेव च ।
चतुःशिरः त्रिशुद्धं च कृतिकर्म प्रयुंजते ॥ ६०१ ॥

अर्थ—ऐसे क्रियाकर्मको करे कि जिसमें दो अवनति (भूमिको छूकर नमस्कार) हैं, बारह आवर्त हैं मन वचन कायकी शुद्धतासे

चार शिरोनति हैं। इसप्रकार उत्पन्न हुए बालकके समान करना चाहिये ॥ ६०१ ॥

तिविहं तियरणसुद्धं मयरहियं दुविहठाण पुणरुत्तं ।
विणएण कमविसुद्धं किदियम्मं होदि कायव्वं॥६०२॥

त्रिविधं त्रिकरणशुद्धं मदरहितं द्विविधस्थानं पुनरुक्तं ।
विनयेन क्रमविशुद्धं कृतिकर्म भवति कर्तव्यं ॥ ६०२ ॥

अर्थ—अवनति आवर्त शिरोनति इसतरह तीनप्रकार, मन-वचनकायसे शुद्ध मद रहित, दो आसनोंसे प्रत्येक क्रियामें, विनयसे, आगमके अनुसार कृतिकर्म करना चाहिये ॥ ६०२ ॥

अणादिट्ठं च थद्धं च पविट्ठं परिपीडिदं ।
दोलाइयमंकुसियं तहा कच्छभरिंगियं ॥ ६०३ ॥
मच्छुव्वत्तं मणोदुट्ठं वेदिआबद्धमेव य ।
भयदोसो बभयत्तं इड्ढिगारव गारवं ॥ ६०४ ॥
तेणिदं पडिणिदं चावि पदुट्ठं तज्जिदं तधा।
सद्दं च हीलिदं चावि तह तिवलिद कुंचिदं ॥ ६०५॥
दिट्ठमदिट्ठं चावि य संगस्स करमोयणं ।
आलद्धमणालद्धं च हीणमुत्तरचूलियं ॥ ६०६ ॥
मूगं च दद्दुरं चावि चुलुलिदमपच्छिमं ।
बत्तीसदोसविसुद्धं किदियम्मं पउंजदे ॥ ६०७ ॥

अनादृतं च स्तब्धश्च प्रविष्टः परिपीडितं ।
दोलायितमंकुशितस्तथा कच्छपरिंगितं ॥ ६०३ ॥
मत्स्योद्वर्तो मनोदुष्टो वेदिकाबद्ध एव च ।
भयेन च विभ्यत्त्वं ऋद्धिगौरवं गौरवं ॥ ६०४ ॥

स्तेनितं प्रतिनीतं चापि प्रदुष्टस्तर्जितं तथा ।
शब्दश्च हीलितं चापि तथा त्रिवलितं कुंचितं ॥ ६०५ ॥
दृष्टः अदृष्टश्चापि च संघस्य करमोचनं ।
आलब्धः अनालब्धश्च हीनमुत्तरचूलिका ॥ ६०६ ॥
मूकश्च दर्दुरं चापि चुलुलितमपश्चिमं ।
द्वात्रिंशद्दोषविशुद्धं कृतिकर्म प्रयुंक्ते ॥ ६०७ ॥

अर्थ—आदर विना क्रियाकर्म करना अनादृत दोष है, विद्यादिके गर्वसे करना स्तब्ध दोष है, पंचपरमेष्ठीके अतिसमीप होके करना प्रविष्ट है, हस्त आदिको पीड़ा देके करना परिपीडित है, हिंडोलेकी तरह आत्माको संशय युक्तकर करना दोलायित है, अंकुशकी तरह हाथका अंगूठा ललाटके प्रदेशमें कर वंदना करे उसके अंकुशित दोष है, कछवाकी तरह कमरसे चेष्टाकर वंदना करे उसके कच्छपरिंगित दोष है ॥ मत्स्योद्वर्तदोष, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भयदोष, विभ्यदोष, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तेनित, प्रतिनीत, प्रदुष्ट, तर्जित, शब्ददोष, हीलित, त्रिवलित, कुंचित, दृष्ट, अदृष्ट, संघकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तरचूलिका, मूक, दर्दुर, चुलुलित,—इन बत्तीस दोषोंसे रहित विशुद्ध कृतिकर्म जो साधु करता है उसके बहुत निर्जरा होती है॥६०३से६०७तक

किदियम्मंपि करंतो ण होदि किदियम्मणिज्जराभागी।
बत्तीसाणण्णदरं साहू ठाणं विराधंतो ॥ ६०८ ॥

कृतिकर्मापि कुर्वन् न भवति कृतिकर्मनिर्जराभागी ।
द्वात्रिंशतामन्यतरं साधुः स्थानं विराधयन् ॥ ६०८ ॥

अर्थ—बत्तीसदोषोंमेंसे किसी एक दोषको आचरण करता हुआ

साधु कृतिकर्मको करता हुआ भी कृतिकर्मकी निर्जराका पात्र नहीं होसकता ॥ ६०८ ॥

हत्थंतरेणबाधे संफासपमज्जणं पउज्जंतो ।
जाएंतो वंदणयं इच्छाकारं कुणइ भिक्खू ॥ ६०९ ॥

हस्तांतरे अनाबाधे संस्पर्शप्रमार्जनं प्रयुंजानः ।
याचमानो वंदनां इच्छाकारं करोति भिक्षुः ॥ ६०९ ॥

अर्थ—एक हाथके अंतरसे बाधारहित आसन कटि आदिकी शुद्धि करता साधु वंदनाको याचता हुआ इच्छाकार अर्थात् प्रणाम करे ॥ ६०९ ॥

तेण च पडिच्छिदव्वं गारवरहिएण सुद्धभावेण ।
किदियम्मकारकस्सवि संवेगं संजणंतेण ॥ ६१० ॥

तेन च प्रत्येशितव्यं गर्वरहितेन शुद्धभावेन ।
कृतिकर्मकारकस्यापि संवेगं संजनयता ॥ ६१० ॥

अर्थ—ऋद्धि आदि के अभिमान रहित, वंदना करनेवालेको धर्ममें हर्ष उत्पन्न करता हुआ, शुद्ध भावों युक्त आचार्यको वंदना अंगीकार करनी चाहिये ॥ ६१० ॥

वंदणणिज्जुत्ती पुण एसा कहिया मए समासेण ।
पडिकमणणिजुत्ती पुण एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥ ६११ ॥

वंदनानिर्युक्तिः पुनः एषा कथिता मया समासेन ।
प्रतिक्रमणनिर्युक्तिः पुन इत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥ ६११ ॥

अर्थ—मैंने यह वंदनानिर्युक्ति संक्षेपसे कही है अब इससे आगे प्रतिक्रमण निर्युक्तिको कहता हूं ॥ ६११ ॥

आगे प्रतिक्रमणनिर्युक्तिका स्वरूप कहते हैं;—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तधेव भावे य ।
एसो पडिक्कमणगे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥ ६१२॥

नामस्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालस्तथैव भावश्च ।
एष प्रतिक्रमणके निक्षेपः षड्विधो ज्ञेयः ॥ ६१२ ॥

अर्थ—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव–ये छह प्रतिक्रमणके निक्षेप जानना ॥ जैसे दोषोंके नामकी निवृत्ति करना नामप्रतिक्रमण है । इसीतरह अन्य भी समझ लेना ॥ ६१२ ॥

पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापधं च बोधव्वं ।
पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥ ६१३ ॥

प्रतिक्रमणं दैवसिकं रात्रिकं ऐर्यापथिकं च बोद्धव्यं ।
पाक्षिकं चातुर्मासिकं सांवत्सरमुत्तमार्थम् ॥ ६१३ ॥

अर्थ—अतीचारोंसे निवृत्ति होना वह प्रतिक्रमण है वह दिवसमें हो तो दैवसिक कहलाता है, रात्रिमें किया गया रात्रिक है, ईर्यापथ गमनमें हुआ ऐर्यापथिक है, तथा पाक्षिक चतुर्मासिक संवत्सरिक, जीवनपर्यंत किया गया उत्तमार्थ–ऐसे सातप्रकार है ॥

पडिकमओ पडिकमणं पडिकमिदव्वं च होदि णादव्वं ।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि तिण्हंपि ॥ ६१४ ॥

प्रतिक्रामकः प्रतिक्रमणं प्रतिक्रमितव्यं च भवति ज्ञातव्यं ।
एतेषां प्रत्येकं प्ररूपणा भवति त्रयाणामपि ॥ ६१४ ॥

अर्थ—जिसने दोष दूर किया ऐसा प्रतिक्रामक, दोषोंसे निवृत्ति होनारूप प्रतिक्रमण और त्यागने योग्य दोषरूप प्रतिक्रमितव्य–ये तीन जानने योग्य हैं । इन तीनोंका जुदा २ स्वरूप कहते हैं ॥

जीवो दु पडिक्कमओ दव्वे खेत्ते य काल भावे य ।
पडिगच्छदि जेण जह्मि तं तस्स भवे पडिक्कमणं॥६१५॥

जीवस्तु प्रतिक्रामकः द्रव्ये क्षेत्रे च काले भावे च ।
प्रतिगच्छति येन यस्मिन् तत्तस्य भवेत् प्रतिक्रमणं ॥६१५॥

अर्थ—जीव है वह द्रव्य क्षेत्र काल भावमें प्रतिक्रामक है। जिस परिणामसे चारित्रके अतीचारको धोकर जिस चारित्रशुद्धिमें प्राप्त हो वह परिणाम उस जीवका प्रतिक्रमण है ॥ ६१५ ॥

पडिकमिदव्वं दव्वं सचित्ताचित्तमिस्सियं तिविहं ।
खेत्तं च गिहादीयं कालो दिवसादिकालह्मि ॥ ६१६ ॥

प्रतिक्रमितव्यं द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रकं त्रिविधं ।
क्षेत्रं च गृहादिकं कालः दिवसादिकाले ॥ ६१६ ॥

अर्थ—सचित्त अचित्त मिश्ररूप जो त्यागने योग्य द्रव्य है वह प्रतिक्रमितव्य है, घर आदि क्षेत्र हैं, दिवस मुहूर्त आदि काल हैं। जिस द्रव्य आदिसे पापास्रव हो वह त्यागने योग्य है ॥ ६१६ ॥

मिच्छत्तपडिक्कमणं तह चेव असंजमे पडिक्कमणं ।
कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्थेसु ॥ ६१७ ॥

मिथ्यात्वप्रतिक्रमणं तथा चैव असंयमे प्रतिक्रमणं ।
कषायेषु प्रतिक्रमणं योगेषु च अप्रशस्तेषु ॥ ६१७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वका प्रतिक्रमण, उसीतरह असंयमका प्रतिक्रमण, क्रोधादि कषायोंका प्रतिक्रमण, और अशुभ योगोंका प्रतिक्रमण (त्याग) करना चाहिये ॥ ६१७ ॥

काऊण य किदियम्मं पडिलेहिय अंजलीकरणसुद्धो ।
आलोचिज्ज सुविहिदो गारव माणं च मोत्तूण ॥६१८॥

कृत्वा च कृतिकर्म प्रतिलेख्य अंजलीकरणशुद्धः ।
आलोचयेत् सुविहितः गौरवं मानं च मुक्त्वा ॥ ६१८ ॥

अर्थ—विनयकर्म करके, शरीर आसनको पीछी व नेत्रसे शुद्ध करके, अंजलिक्रियामें शुद्ध हुआ निर्मल प्रवृत्तिवाला साधु ऋद्धि आदि गौरव और जाति आदिके मानको छोड़कर गुरुसे अपने अपराधोंका निवेदन करे ॥ ६१८ ॥

आलोचणं दिवसियं रादिअ इरियावधं च बोधव्वं ।
पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥ ६१९ ॥

आलोचनं दैवसिकं रात्रिकं ईर्यापथं च बोद्धव्यं ।
पाक्षिकं चातुर्मासिकं सांवत्सरिकमुत्तमार्थं च ॥ ६१९ ॥

अर्थ—गुरुके समीप अपराधका कहना वह आलोचना है। वह दैवसिक रात्रिक ईर्यापथिक पाक्षिक चतुर्मासिक संवत्सरिक उत्तमार्थ—इसतरह सातप्रकारका जानना चाहिये ॥ ६१९ ॥

अणाभोगकिदं कम्मं जं किंवि मणसा कदं ।
तं सव्वं आलोचेज्जहु अव्वाखित्तेण चेदसा ॥ ६२० ॥

अनाभोगकृतं कर्म यत् किमपि मनसा कृतं ।
तत् सर्वं आलोचयेत् अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥ ६२० ॥

अर्थ—अन्यको नहीं मालूम ऐसा अनाभोगरूप किया गया अतीचार, जो कुछ मनसे किया गया कर्म उस सबको निराकुलचित्तसे गुरुके सामने आलोचन (निवेदन) करे ॥ ६२० ॥

आलोचणमालुंचण विगडीकरणं च भावसुद्धी दु ।
आलोचिदह्मि आराधणा अणालोचणे भज्जा ॥६२१॥

आलोचनमालुंचनं विकृतिकरणं च भावशुद्धिस्तु ।

आलोचिते आराधना अनालोचने भाज्या ॥ ६२१ ॥

अर्थ—आलोचन आलुंचन विकृतिकरण और भावशुद्धि ये एकार्थ हैं। गुरुके सामने निवेदन करनेसे सम्यग्दर्शनादिकी शुद्धि होती है और दोषोंके नहीं कहनेपर शुद्धि होती भी है अथवा नहीं भी होती ॥ ६२१ ॥

उप्पण्णो उप्पण्णा माया अणुपुव्वसो णिहंतव्वा।
आलोचणणिंदणगरहणाहिं ण पुणो तिअं बिदिअं॥६२२

उत्पन्न उत्पन्ना माया अनुपूर्वशो निहंतव्या।
आलोचननिंदनगर्हणे न पुनः तृतीयं द्वितीयं ॥ ६२२ ॥

अर्थ—जैसे जैसे क्रमसे अतीचार लगे उसी क्रमसे कुटिलता छोड़ अतीचार शुद्ध करना चाहिये। और उन दोषोंको गुरुके सामने कहे अन्यके सामने प्रकट करे अथवा स्वयं निंदा करे परंतु उसीदिन करे दूसरे तीसरे दिन न करे ॥ ६२२ ॥

आलोचणणिंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अ करणाय।
तं भावपडिक्कमणं सेसं पुण दव्वदो भणिअं॥६२३॥

आलोचननिंदनगर्हणैः अभ्युत्थितश्च करणे।
तत् भावप्रतिक्रमणं शेषं पुनः द्रव्यतो भणितं ॥ ६२३ ॥

अर्थ—आलोचन निंदन गर्हण इन तीनोंकर प्रतिक्रमणक्रियामें उद्यमी हुआ साधु वह भावप्रतिक्रमण है और इससे अन्य द्रव्यप्रतिक्रमण है ॥ ६२३ ॥

भावेण अणुवजुत्तो दव्वीभूदो पडिक्कमदि जो दु।
जस्सट्ठं पडिकमदे तं पुण अट्ठं ण साधेदि ॥ ६२४ ॥

भावेन अनुपयुक्तः द्रव्यीभूतः प्रतिक्रमते यस्तु।

यस्यार्थं प्रतिक्रमते तं पुनः अर्थं न साधयति ॥ ६२४ ॥

अर्थ—शुद्ध परिणामोंसे रहित हुआ दोषोंसे घृणा नहीं करता साधु जिस दोषके दूर करनेके लिये प्रतिक्रमण करता है उस प्रयोजनको फिर वह नहीं साधसकता ॥ ६२४ ॥

भावेण संपजुत्तो जदत्थजोगो य जंपदे सुत्तं।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे साधू ॥ ६२५ ॥

भावेन संप्रयुक्तः यदर्थयोगश्च जल्पति सूत्रं।
स कर्मनिर्जरायां विपुलायां वर्तते साधुः ॥ ६२५ ॥

अर्थ—भावकर संयुक्त साधु जिस निमित्त शुभ आचरण करता हुआ प्रतिक्रमणपदको उच्चारण करता है वह साधु बहुत कर्मोंकी निर्जरा करनेमें प्रवर्तता है ॥ ६२५ ॥

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स
अपराधे पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥६२६॥

सप्रतिक्रमणो धर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य।
अपराधे प्रतिक्रमणं मध्यमानां जिनवराणां ॥ ६२६ ॥

अर्थ—पहले ऋषभदेव तीर्थंकरके समयमें तथा पिछले महावीर तीर्थंकरके समयमें प्रतिक्रमण सहित धर्म प्रवर्तता है और बीचके अजितनाथ आदि तीर्थंकरोंके समयमें अपराध हो तो प्रतिक्रमण होता है क्योंकि बहुत अपराध नहीं होता ॥ ६२६ ॥

जावेदु अप्पणो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो।
तावेदु पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ ६२७ ॥

यस्मिन् आत्मनो वा अन्यतरस्य वा भवेदतीचारः।
तस्मिन् प्रतिक्रमणं मध्यमानां जिनवराणां ॥ ६२७ ॥

अर्थ—जिस व्रतमें अपने अथवा अन्यके अतीचार लगता हो उस व्रतके अतीचारमें बीचके तीर्थंकरोंके समयमें प्रतिक्रमण है ॥

इरियागोयरसुमिणादिसव्वमाचरदु मा व आचरदु।
पुरिम चरिमादु सव्वे सव्वं णियमा पडिकमंदि॥६२८॥

ईर्यागोचरस्वप्नादिसर्वं आचरतु मा वा आचरतु ।
पूर्वे चरमे तु सर्वे सर्वान् नियमान् प्रतिक्रमंते ॥ ६२८ ॥

अर्थ—ऋषभदेव व महावीर प्रभुके शिष्य इन सब ईर्यागोचरी स्वप्नादिसे उत्पन्न हुए अतीचारोंको प्राप्त हो अथवा मत प्राप्त हो तौभी प्रतिक्रमणके सब दंडकोंको उच्चारण करते हैं ॥ ६२८ ॥

मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य।
तह्मा हु जमाचरंति तं गरहंता वि सुज्झंति॥६२९॥

मध्यमा दृढबुद्धय एकाग्रमनसः अमोहलक्षाश्च ।
तस्मात् हि यमाचरंति तं गर्हंतोपि शुध्यंति ॥ ६२९ ॥

अर्थ—मध्यम तीर्थंकरोंके शिष्य स्मरण शक्तिवाले हैं स्थिर चित्तवाले होते हैं परीक्षापूर्वक कार्य करनेवाले होते हैं इसकारण जिस दोषको प्रगट आचरण करते हैं उस दोषसे अपनी निंदा करते हुए शुद्ध चारित्रके धारण करनेवाले होते हैं ॥ ६२९ ॥

पुरिमचरिमादु जह्मा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।
तो सव्वपडिक्कमणं अंधलघोडय दिट्ठंतो ॥ ६३० ॥

पूर्वचरमास्तु यस्मात् चलचित्ताश्चैव मोहलक्षाश्च ।
तस्मात् सर्वप्रतिक्रमणं अंधलघोटकः दृष्टांतः ॥ ६३० ॥

अर्थ—आदि अंतके तीर्थंकरोंके शिष्य चलायमानचित्तवाले होते हैं मूढबुद्धि होते हैं इसलिये उनके सब प्रतिक्रमण दंडकका

उच्चारण है । इसमें अंधे घोड़ेका दृष्टांत है कि सब तरहकी औषधियोंके करनेसे वह सूझता हुआ ॥ ६३० ॥

पडिकमणणिजुत्ती पुण एसा कहिया मए समासेण ।
पच्चक्खाणणिजुत्ती एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥ ६३१ ॥

प्रतिक्रमणनिर्युक्तिः पुन एषा कथिता मया समासेन ।
प्रत्याख्याननिर्युक्तिः इत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥ ६३१ ॥

अर्थ—यह प्रतिक्रमण निर्युक्ति मैंने संक्षेपसे कही है अब इसके वाद प्रत्याख्यान निर्युक्तिको कहता हूं ॥ ६३१ ॥

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो पच्चक्खाणे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥ ६३२ ॥

नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालश्च भवति भावश्च ।
एषः प्रत्याख्याने निक्षेपः षड्विधो ज्ञेयः ॥ ६३२ ॥

अर्थ—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव—इसतरह छह प्रकारका प्रत्याख्यानमें निक्षेप जानना चाहिये ॥ ६३२ ॥

पच्चक्खाओ पच्चक्खाणं पच्चक्खियव्वमेवं तु ।
तीदे पच्चुप्पण्णे अणागदे चेव कालह्मि ॥ ६३३ ॥

प्रत्याख्यापकः प्रत्याख्यानं प्रत्याख्यातव्यमेवं तु ।
अतीते प्रत्युत्पन्ने अनागते चैव काले ॥ ६३३ ॥

अर्थ—प्रत्याख्यायक प्रत्याख्यान प्रत्याख्यातव्य—यह तीनप्रकारका प्रत्याख्यानका स्वरूप अतीतकालमें वर्तमानकालमें भविष्यत् कालमें जानने योग्य है ॥ ६३३ ॥

आणाए जाणणाविय उवजुत्तो मूलमज्झणिद्देसे ।
सागारमणागारं अणुपालेंतो दढधिदीओ ॥ ६३४ ॥

आज्ञया ज्ञापकेनापि च उपयुक्तो मूलमध्यनिर्देशे ।
सागारमनागारं अनुपालयन् दृढधृतिकः ॥ ६३४ ॥

अर्थ—गुरुके उपदेशसे, दोषोंका स्वरूप जाननेसे प्रत्याख्यान सहित ग्रहणकाल मध्यकाल समाप्तिकालमें गृहस्थधर्म वा मुनिधर्मको पालनेवाला अत्यंत धीरजवाला ॥ ६३४ ॥

एसो पच्चक्खाओ पच्चक्खाणेत्ति वुच्चदे चाओ ।
पच्चक्खिदव्वमुवधि आहारो चेव बोधव्वो ॥ ६३५ ॥

एष प्रत्याख्यायकः प्रत्याख्यानमिति उच्यते त्यागः ।
प्रत्याख्यातव्यमुपधिराहारश्चैव बोद्धव्यः ॥ ६३५ ॥

अर्थ—ऐसा जीव प्रत्याख्यायक कहा गया है । त्यागको प्रत्याख्यान कहते हैं और सचित्त आदि परिग्रह तथा आहार त्यागने योग्यको प्रत्याख्यातव्य कहते हैं ऐसा जानना ॥ ६३५ ॥

पच्चक्खाणं उत्तरगुणेसु खमणादि होदि णेयविहं ।
तेणवि अ एत्थ पयदं तंपि य इणमो दसविहं तु॥६३६

प्रत्याख्यानं उत्तरगुणेषु क्षमणादि भवति अनेकविधं ।
तेनापि च अत्र प्रयतं तदपि च इदं दशविधं तु ॥ ६३६ ॥

अर्थ—प्रत्याख्यान मूलगुण उत्तरगुणोंमें अनशनादिके भेदसे अनेकप्रकार है अथवा उस प्रत्याख्यानके करनेवालेको यहां यत्न करना चाहिये । इस जगह अनशनादि दशप्रकारका है ॥ ६३६ ॥

अब दश भेदोंको कहते हैं;—

अणागदमदिकंतं कोडीसहिदं णिखंडिदं चेव ।
सागारमणागारं परिमाणगदं अपरिसेसं ॥ ६३७ ॥
अद्धाणगदं णवमं दसमं तु सहेदुगं वियाणाहि ।

पच्चक्खाणवियप्पा णिरुत्तिजुत्ता जिणमदह्मि ॥६३८॥

अनागतमतिक्रांतं कोटीसहितं निखंडितं चैव ।
साकारमनाकारं परिमाणगदं अपरिशेषं ॥ ६३७ ॥
अध्वानगतं नवमं दशमं तु सहेतुकं विजानीहि ।
प्रत्याख्यानविकल्पा निरुक्तियुक्ता जिनमते ॥ ६३८ ॥

अर्थ—भविष्यत् कालमें उपवास आदि करना जैसे चौदसका उपवास तेरसको, वह अनागत प्रत्याख्यान है। अतिक्रांत कोटीसहित, निखंडित, साकार, अनाकार, परिमाणगत, अपरिशेष प्रत्याख्यान, नौमा अध्वगत, दसवां सहेतुक प्रत्याख्यान है। इस प्रकार सार्थक प्रत्याख्यानके दस भेद जिनमतमें जानना चाहिये ॥ ६३७–६३८ ॥

विणए तहाणुभासा हवदि य अणुपालणाय परिणामें ।
एदं पच्चक्खाणं चदुव्विधं होदि णादव्वं ॥ ६३९ ॥

विनयेन तथानुभाषया भवति च अनुपालनेन परिणामेन।
एतत् प्रत्याख्यानं चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यं ॥ ६३९ ॥

अर्थ—विनयकर अनुभाषाकर अनुपालनकर परिणामकर शुद्ध यह प्रत्याख्यान चारप्रकार भी है ऐसा जानना ॥ ६३९ ॥

किदियम्मं उवचारिय विणओ तह णाणदंसणचरित्ते।
पंचविधविणयजुत्तं विणयसुद्धं हवदि तं तु ॥ ६४० ॥

कृतिकर्म औपचारिकः विनयः तथा ज्ञानदर्शनचारित्रे ।
पंचविधविनययुक्तं विनयशुद्धं भवति तत्तु ॥ ६४० ॥

अर्थ—सिद्धभक्ति आदि सहित कायोत्सर्ग तपरूप विनय, व्यवहारविनय, ज्ञानविनय दर्शनविनय चारित्रविनय–इसतरह

पांचप्रकारके विनय सहित प्रत्याख्यान वह विनयकर शुद्ध होता है ॥ ६४० ॥

अणुभासदि गुरुवयणं अक्खरपदवंजणं कमविसुद्धं ।
घोसविसुद्धी सुद्धं एदं अणुभासणासुद्धं ॥ ६४१ ॥

अनुभाषते गुरुवचनं अक्षरपदव्यंजनं क्रमविशुद्धं ।
घोषविशुद्ध्या शुद्धमेतत् अनुभाषणाशुद्धं ॥ ६४१ ॥

अर्थ—गुरु जैसा कहे उसीतरह प्रत्याख्यानके अक्षर पद व्यंजनोंका उच्चारण करे वह अक्षरादि क्रमसे पढना, शुद्ध गुरु लघु आदि उच्चारण शुद्ध होना वह अनुभाषणाशुद्ध है ॥ ६४१ ॥

आदंके उवसग्गे समे य दुब्भिक्खवुत्ति कंतारे ।
जं पालिदं ण भग्गं एदं अणुपालणासुद्धं ॥ ६४२ ॥

आतंके उपसर्गे श्रमे च दुर्भिक्षवृत्तौ कांतारे ।
यत् पालितं न भग्नं एतत् अनुपालनाशुद्धं ॥ ६४२ ॥

अर्थ—रोगमें, उपसर्गमें भिक्षाकी प्राप्तिके अभावमें वनमें जो प्रत्याख्यान पालन किया भग्न (नाश) न हो वह अनुपालना शुद्ध है ॥ ६४२ ॥

रागेण व दोसेण व मणपरिणामें ण दूसिदं जं तु ।
तं पुण पच्चक्खाणं भावविसुद्धं तु णादव्वं ॥ ६४३ ॥

रागेण वा द्वेषेण वा मनःपरिणामेण न दूषितं यत्तु ।
तत् पुनः प्रत्याख्यानं भावविशुद्धं तु ज्ञातव्यम् ॥ ६४३ ॥

अर्थ—राग परिणामसे अथवा द्वेष परिणामसे मनके विकारकर जो प्रत्याख्यान दूषित न हो वह प्रत्याख्यान भावविशुद्ध जानना ॥ ६४३ ॥

आगे चारप्रकारके आहारका स्वरूप कहते हैं;—

असणं खुहप्पसमणं पाणाणमणुग्गहं तहा पाणं ।
खादंति खादियं पुण सादंति सादियं भणियं॥६४४॥

अशनं क्षुधाप्रशमनं प्राणानामनुग्रहं तथा पानं ।
खाद्यते खाद्यं पुनः स्वाद्यते स्वाद्यं भणितं ॥ ६४४ ॥

अर्थ—जिससे भूख मिट जाय वह अशन है, जिससे दस प्राणोंका उपकार हो वह पान है, जो खाया जाय वह लाडू आदि खाद्य है, और जिससे मुखका स्वाद किया जाय इलाइची आदि स्वाद्य कहा है ॥ ६४४ ॥

सव्वोपि य आहारो असणं सव्वोवि वुच्चदे पाणं ।
सव्वोवि खादियं पुण सव्वोवि य सादियं भणियं॥६४५

सर्वोपि च आहारः अशनं सर्वोपि उच्यते पानं ।
सर्वोपि खाद्यं पुनः सर्वोपि च स्वाद्यं भणितं ॥ ६४५ ॥

अर्थ—सभी आहार अशन है सभी पान कहा जाता है सभी खाद्य है और सभी स्वाद्य कहा गया है यह द्रव्यार्थिककी अपेक्षा कहा है ॥ ६४५ ॥

असणं पाणं तह खादियं चउत्थं च सादियं भणियं।
एवं परूविदं दु सद्दहिदुंजे सुही होदि ॥ ६४६ ॥

अशनं पानं तथा खाद्यं चतुर्थं च स्वाद्यं भणितं ।
एवं प्ररूपितं तु श्रद्धाय सुखी भवति ॥ ६४६ ॥

अर्थ—इसप्रकार अशन पान खाद्य और चौथा स्वाद्य भेदकर आहार कहा उसको श्रद्धानकर जीव सुखी होता है ॥ ६४६ ॥

पच्चक्खाणणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।

काओसग्गणिजुत्ती एतो उड्ढं पवक्खामि ॥ ६४७॥

प्रत्याख्याननिर्युक्तिः एषा कथिता मया समासेन ।
कायोत्सर्गनिर्युक्तिः इत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥ ६४७ ॥

अर्थ—यह प्रत्याख्यान निर्युक्ति मैंने संक्षेपसे कही अब इसके बाद कायोत्सर्ग निर्युक्तिको कहता हूं ॥ ६४७ ॥

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो काउसग्गे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥ ६४८ ॥

नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालः च भवति भावश्च ।
एषः कायोत्सर्गे निक्षेपः षड्विधो ज्ञेयः ॥ ६४८ ॥

अर्थ—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव–ये छहप्रकारका निक्षेप कायोत्सर्गमें जानना ॥ ६४८ ॥

काउस्सग्गो काउस्सग्गी काउस्सग्गस्स कारणं चेव ।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि तिण्हंपि ॥ ६४९ ॥

कायोत्सर्गः कायोत्सर्गी कायोत्सर्गस्य कारणं चैव ।
एतेषां प्रत्येकं प्ररूपणा भवति त्रयाणामपि ॥ ६४९ ॥

अर्थ—शरीरका त्याग अर्थात् चपलता रहित शरीर होना वह कायोत्सर्ग है, कायोत्सर्गवाला कायोत्सर्गी है और कायोत्सर्गका कारण–इन तीनोंका जुदा २ कथन करते हैं ॥ ६४९ ॥

वोसरिदबाहुजुगलो चदुरंगुलअंतरेण समपादो ।
सव्वंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ॥६५०॥

व्युत्सृष्टबाहुयुगलश्चतुरंगुलांतरं समपादः ।
सर्वांगचलनरहितः कायोत्सर्गो विशुद्धस्तु ॥ ६५० ॥

अर्थ—जिसमें दोनों बाहू लंबी की हैं, चार अंगुलका जिनमें

अंतर है ऐसे समपाद, सब हाथ आदि अंगोंका चलना जिसमें नहीं है वह शुद्ध कायोत्सर्ग है ॥ ६५० ॥

मुक्खट्ठी जिदणिद्दो सुत्तत्थविसारदो करणसुद्धो ।
आदबलविरियजुत्तो काउस्सग्गी विसुद्धप्पा ॥६५१॥

मोक्षार्थी जितनिद्रः सूत्रार्थविशारदः करणशुद्धः ।
आत्मबलवीर्ययुक्तः कायोत्सर्गी विशुद्धात्मा ॥ ६५१ ॥

अर्थ—मोक्षार्थी, जिसने निद्राको जीत लिया है, सूत्र और अर्थ इनमें निपुण, परिणामोंकर शुद्ध, अपना शारीरिक बल तथा आत्मबलकर सहित विशुद्ध आत्मावाला ऐसा कायोत्सर्गी जानना चाहिये ॥ ६५१ ॥

काउस्सग्गं मोक्खपहदेसयं घादिकम्म अदिचारं ।
इच्छामि अहिट्ठादुं जिणसेविद देसिदत्तादो ॥ ६५२॥

कायोत्सर्गं मोक्षपथदेशकं घातिकर्म अतिचारं ।
इच्छामि अधिष्ठातुं जिनसेवितं देशितस्तस्मात् ॥ ६५२ ॥

अर्थ—यह कायोत्सर्ग सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्गका उपकारी है घातियाकर्मोंका नाशक है उसको स्वीकार करना चाहता हूं क्योंकि यह जिनेंद्रदेवने सेवन किया है और उपदेशा है ॥ ६५२ ॥

एगपदमस्सिदस्सवि जो अदिचारो दु रागदोसेहिं ।
गुत्तीहिं वदिकमो वा चदुहिं कसाएहिं व वदेहिं॥६५३
छज्जीवणिकाएहिं भयमयठाणेहिं बंभधम्मेहिं ।
काउस्सग्गं ठामिय तं कम्मणिघादणट्ठाए ॥ ६५४ ॥

एकपदमाश्रितस्यापि यः अतीचारस्तु रागद्वेषाभ्यां ।
गुप्तीनां व्यतिक्रमो वा चतुर्भिः कषायैः वा व्रतेषु ॥६५३॥

षड्जीवनिकायैः भयमदस्थानैः ब्रह्मधर्मे ।
कायोत्सर्गं अधितिष्ठामि तत्कर्मनिघातनार्थं ॥ ६५४ ॥

अर्थ—एक पादसे जो खड़ा है उसके रागद्वेषकर जो अतीचार हो उसीतरह चार कषायोंकर तीन गुप्तियोंका जो उलंघन हो, व्रतोंमें जो अतीचार हो, पृथिवी आदि छह काय जीवोंकी विराधनासे जो अतीचार हुआ हो, सात भय आठ भेदोंके द्वारा जो अतीचार हुआ हो, ब्रह्मचर्य धर्ममें जो अतीचार हुआ हो—इन सबसे आया जो कर्म उसके नाशके लिये मैं कायोत्सर्गका आश्रय लेता हूं अर्थात् कायोत्सर्गसे तिष्ठता हूं ॥ ६५३-६५४ ॥

जे केई उवसग्गा देवामाणुसतिरिक्खचेदणिया ।
ते सव्वे अधिआसे काओसग्गे ठिदो संतो ॥ ६५५ ॥

ये केचन उपसर्गा देवमानुषतिर्यगचेतनिकाः ।
तान् सर्वान् अध्यासे कायोत्सर्गे स्थितः सन् ॥ ६५५ ॥

अर्थ—जो कुछ देव मनुष्य तिर्यंच अचेतनकृत उपसर्ग हैं उन सबको कायोत्सर्गमें स्थित हुआ मैं अच्छीतरह सहन करता हूं ॥ ६५५ ॥

संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि ।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु ॥ ६५६ ॥

संवत्सरमुत्कृष्टं भिन्नमुहूर्तं जघन्यं भवति ।
शेषाः कायोत्सर्गा भवंति अनेकेषु स्थानेषु ॥ ६५६ ॥

अर्थ—कायोत्सर्ग एकवर्षका उत्कृष्ट और अंतर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य होता है । शेष कायोत्सर्ग दिनरात्रि आदिके भेदसे बहुत हैं ॥

अट्ठसदं देवसियं कल्लद्धं पक्खियं च तिण्णिसया ।

उस्सासा कायव्वा णियमंते अप्पमत्तेण ॥ ६५७ ॥

अष्टशतं दैवसिकं कल्येर्धं पाक्षिके च त्रीणि शतानि ।
उच्छ्वासाः कर्तव्या नियमांते अप्रमत्तेन ॥ ६५७ ॥

अर्थ—दैवसिक प्रतिक्रमणके कायोत्सर्गमें एकसौ आठ उच्छ्वास, रात्रिके कायोत्सर्गमें उससे आधे ५४, पाक्षिकमें तीनसौ उच्छ्वास, वीरभक्तिके समय अप्रमादी मुनिको करने चाहिये ॥ ६५७ ॥

चादुम्मासे चउरो सदाइं संवत्थरे य पंचसदा ।
काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा ॥ ६५८ ॥

चातुर्मासिके चत्वारि शतानि संवत्सरे च पंचशतानि ।
कायोत्सर्गोच्छ्वासाः पंचसु स्थानेषु ज्ञातव्याः ॥ ६५८ ॥

अर्थ—चातुर्मासिक प्रतिक्रमणमें चारसौ, वार्षिकमें पांचसौ–इसतरह कायोत्सर्गके उच्छ्वास पांच स्थानोंमें जानने चाहिये ६५८

पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव ।
अट्ठसदं उस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा ॥ ६५९ ॥

प्राणिवधे मृषावादे अदत्ते मैथुने परिग्रहे चैव ।
अष्टशतं उच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्तव्याः ॥ ६५९ ॥

अर्थ—हिंसा झूठ चोरी मैथुन परिग्रहके अतीचारमें जो कायोत्सर्ग उसके एकसौ आठ उच्छ्वास करने योग्य हैं ॥ ६५९ ॥

भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंतसमणसेज्जासु ।
उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होंति उस्सासा ॥ ६६० ॥

भक्ते पाने ग्रामांतरे च अर्हत्श्रमणशय्यायाम् ।
उच्चारे प्रस्रवणे पंचविंशतिः भवंति उच्छ्वासाः ॥ ६६० ॥

अर्थ—भक्तपान जो गोचरी उससे आनेके बाद दूसरे गाममें

जानेकेबाद, जिननिर्वाणभूमि आदि अर्हंतशय्या निषद्यकाका स्थान श्रमण शय्या इनमें, दीर्घशंका लघुशंका करनेके बाद–इन सबके कायोत्सर्गमें पच्चीस पच्चीस उच्छ्वास होते हैं ॥ ६६० ॥

उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणेय परिधाणे ।
सत्तावीसुस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा ॥ ६६१ ॥

उद्देशे निर्देशे स्वाध्याये वंदनायां प्रणिधाने ।
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्तव्याः ॥ ६६१ ॥

अर्थ—ग्रंथादिके आरंभमें, पूर्णताकालमें, स्वाध्यायमें, वंदनामें, अशुभ परिणाम होनेमें जो कायोत्सर्ग उसमें सत्ताईस उच्छ्वास करने योग्य हैं ॥ ६६१ ॥

काओसग्गं इरियावहादिचारस्स मोक्खमग्गम्मि ।
वोसट्ठचत्तदेहा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ॥ ६६२ ॥

कायोत्सर्गं ईर्यापथातिचारस्य मोक्षमार्गे ।
व्युत्सृष्टत्यक्तदेहाः कुर्वंति दुःखक्षयार्थं ॥ ६६२ ॥

अर्थ—ईर्यापथके अतीचारको सोधनेकेलिये मोक्षमार्गमें स्थित शरीरमें ममत्वको छोड़नेवाले मुनि दुःखके नाश करनेकेलिये कायोत्सर्ग करते हैं ॥ ६६२ ॥

भत्ते पाणे गामंतरे य चदुमासिवरिसचरिमेसु ।
णाऊण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए ॥ ६६३ ॥

भक्तं पानं ग्रामांतरं च चातुर्मासिकवार्षिकचरमान् ।
ज्ञात्वा तिष्ठंति धीरा अत्यर्थं दुःखक्षयार्थम् ॥ ६६३ ॥

अर्थ—भक्त पान ग्रामांतर चतुर्मासिक वार्षिक उत्तमार्थ–इनको

जानकर धीरपुरुष अतिशयकर दुःखके क्षयनिमित्त कायोत्सर्गमें तिष्ठते हैं ॥ ६६३ ॥

काओसग्गह्मि ठिदो चिंतिदु इरियावधस्स अतिचारं।
तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च चिंतेज्जो ॥ ६६४ ॥

कायोत्सर्गे स्थितः चिंतयन् ईर्यापथस्य अतीचारं ।
तं सर्वं समानीय धर्मं शुक्लं च चिंतयतु ॥ ६६४ ॥

अर्थ—कायोत्सर्गमें तिष्ठा, ईर्यापथके अतीचारके नाशको चिंतवन करता मुनि उन सब नियमोंको समाप्तकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानका चिंतवन करो ॥ ६६४ ॥

तह दिवसियरादियपक्खियचदुमासिवरिसचरिमेसु ।
तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च झायेज्जो ॥ ६६५ ॥

तथा दैवसिकरात्रिकपाक्षिकचतुर्मासवर्षचरमान् ।
तं सर्वं समाप्य धर्मं शुक्लं च ध्यायेत् ॥ ६६५ ॥

अर्थ—इसीप्रकार दैवसिक रात्रिक पाक्षिक चतुमासिक वार्षिक उत्तमार्थ–इन सब नियमोंको पूर्णकर धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यानको ध्यावे ॥ ६६५ ॥

काओसग्गह्मि कदे जह भिज्जदि अंगुवंगसंधीओ ।
तह भिज्जदि कम्मरयं काउस्सग्गस्स करणेण ॥६६६॥

कायोत्सर्गे कृते यथा भिद्यंते अंगोपांगसंधयः ।
तथा भिद्यते कर्मरजः कायोत्सर्गस्य करणेन ॥ ६६६ ॥

अर्थ—कायोत्सर्ग करनेपर जैसे अंग उपांगोंकी संधियांभिद जाती हैं उसीतरह कायोत्सर्गके करनेसे कर्मरूपी धूलि अलग होजाती है ॥ ६६६ ॥

बलवीरियमासेज्ज य खेत्ते काले सरीरसंहडणं ।
काओसग्गं कुज्जा इमे दु दोसे परिहरंतो ॥ ६६७ ॥

बलवीर्यमासाद्य च क्षेत्रं कालं शरीरसंहननं ।
कायोत्सर्गं कुर्यात् इमांस्तु दोषान् परिहरन् ॥ ६६७ ॥

अर्थ—बल और आत्मशक्तिका आश्रयकर क्षेत्र काल शरीरके संहनन–इनके बलकी अपेक्षाकर कायोत्सर्गके कहे जानेवाले दोषोंका त्याग करता हुआ कायोत्सर्ग करे ॥ ६६७ ॥

अब कायोत्सर्गके दोषोंको कहते हैं;—

घोडय लदा य खंभे कुड्डे माले सवरबधू णिगले ।
लंबुत्तरथणदिट्ठी वायस खलिणे जुग कविट्ठे ॥ ६६८ ॥
सीसपकंपिय मुइयं अंगुलि भूविकार वारुणीपेयी ।
काओसग्गेण ठिदो एदे दोसे परिहरेज्जो ॥ ६६९ ॥

घोटको लता च स्तंभः कुड्यं माला शवरबधू निगडः ।
लंबोत्तरः स्तनदृष्टिः वायसः खलिनं युगं कपित्थं ॥६६८॥
शिरःप्रकंपितं मूकत्वं अंगुलिः भ्रूविकारः वारुणीपायी ।
कायोत्सर्गेण स्थित एतान् दोषान् परिहरेत् ॥ ६६९ ॥

अर्थ—घोटक लता स्तंभ भीति माला भीलिनी वेडी लंबोत्तर स्तनदृष्टि काग खलिन युग कपित्थ शिरःप्रकंपित मूकत्व अंगुलि भ्रूविकार मदिरापायी–इन दोषोंको कायोत्सर्गमें स्थित हुआ जीव त्याग करे ॥ ६६८–६६९ ॥

आलोगणं दिसाणं गीवाउण्णामणं पणवणं च ।
णिट्ठीवणंगमरिसो काउस्सग्गम्हि वज्जिज्जो ॥ ६७० ॥

आलोकनं दिशानां ग्रीवोन्नामनं प्रणमनं च ।

निष्ठीवनमंगामर्शे कायोत्सर्गे वर्जयेत् ॥ ६७० ॥

अर्थ—दिशाओंकी तरफ देखना, गर्दनि (नारि) का ऊंचा करना, नारिका नमाना, थूकना, शरीरका मसलना—इतने दोषोंको भी कायोत्सर्ग—अवस्थामें त्यागे ॥ ६७० ॥

णिक्कूडं सविसेसं बलाणुरूवं वयाणुरूवं च ।
काओसग्गं धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ॥ ६७१ ॥

निःकूटं सविशेषं बलानुरूपं वयोनुरूपं च ।
कायोत्सर्गं धीराः कुर्वंति दुःखक्षयार्थम् ॥ ६७१ ॥

अर्थ—मायाचारीसे रहित, विशेषकर सहित, अपनी शक्तिके अनुसार, बाल आदि अवस्थाके अनुकूल धीरपुरुष दुःखके क्षयके लिये कायोत्सर्ग करते हैं ॥ ६७१ ॥

जो पुण तीसदिवरिसो सत्तरिवरिसेण पारणाय समो ।
विसमो य कूडवादी णिव्विण्णाणी य सो य जडो॥६७२

यः पुनः त्रिंशद्वर्षः सप्ततिवर्षेण पारणेन समः ।
विषमश्च कूटवादी निर्विज्ञानी च स च जडः ॥ ६७२ ॥

अर्थ—जो तीसवर्षप्रमाण यौवन अवस्थावाला समर्थ सत्तरि वर्षवाले शक्ति—रहित वृद्धके साथ कायोत्सर्गकी पूर्णताकरके समान रहता है वृद्धकी बराबरी करता है वह साधु शांतरूप नहीं है मायाचारी है विज्ञानरहित है । चारित्ररहित है और मूर्ख है ॥

उट्ठिदउट्ठिद उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठउट्ठिदो चेव ।
उवविट्ठणिविट्ठोवि य काओसग्गो चदुट्ठाणो ॥ ६७३ ॥

उत्थितोत्थित उत्थितनिविष्ट उपविष्टोत्थितश्चैव ।
उपविष्टनिविष्टोपि च कायोत्सर्गः चतुःस्थानः ॥ ६७३ ॥

अर्थ—उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित, उपविष्ट-निविष्ट—इसतरह कायोत्सर्गके चार भेद हैं ॥ ६७३ ॥

धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो संतो।
एसो काओसग्गो इह उट्ठिदउट्ठिदो णाम ॥ ६७४ ॥

धर्मं शुक्लं च द्वे ध्यायति ध्याने यः स्थितः सन् ।
एषः कायोत्सर्ग इह उत्थितोत्थितो नाम ॥ ६७४ ॥

अर्थ—जो कायोत्सर्गकर खड़ा हुआ धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानोंको चिंतवन करता है वह उत्थितोत्थित है। शरीरसे व परिणामसे दोनोंसे खड़ा जानना ॥ ६७४ ॥

अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो संतो।
एसो काओसग्गो उट्ठिदणिविट्ठिदो णाम ॥ ६७५ ॥

आर्तं रौद्रं च द्वे ध्यायति ध्याने यः स्थितः सन् ।
एषः कायोत्सर्गः उत्थितनिविष्टो नाम ॥ ६७५ ॥

अर्थ—जो कायोत्सर्गसे खड़ा हुआ आर्त रौद्र इन दो ध्यानोंका चिंतवन करता है उसके उत्थितनिविष्ट कायोत्सर्ग होता है॥६७५

धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु।
एसो काओसग्गो उवविट्ठउट्ठिदो णाम ॥ ६७६ ॥

धर्मं शुक्लं च द्वे ध्यायति ध्याने यः निषण्णस्तु ।
एष कायोत्सर्गः उपविष्टोत्थितो नाम ॥ ६७६ ॥

अर्थ—जो बैठा हुआ धर्मध्यान शुक्लध्यान इन दो ध्यानोंका चिंतवन करता है यह कायोत्सर्ग उपविष्टोत्थित नामवाला है६७६

अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु ।
एसो काओसग्गो णिसण्णिदणिसण्णिदो णाम॥६७७

आर्तं रौद्रं च द्वे ध्यायति ध्याने यः निषण्णस्तु ।
एष कायोत्सर्गः निषण्णितनिषण्णितो नाम ॥ ६७७ ॥

अर्थ—जो पल्यंकासनसे बैठा हुआ आर्त रौद्र इन दो ध्यानोंका चिंतवन करता है वह उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग है ॥ ६७७ ॥

दंसणणाणचरित्ते उवओगे संजमे विउस्सग्गे ।
पच्चक्खाणे करणे पणिधाणे तह य समिदीसु ॥६७८॥
विज्जाचरणमहव्वदसमाधिगुणबंभचेरछक्काए ।
खमणिग्गहअज्जवमद्दवमुत्तीविणए च सद्दहणे॥६७९॥
एवंगुणो महत्थो मणसंकप्पो पसत्थ वीसत्थो ।
संकप्पोत्ति वियाणह जिणसासणसम्मदं सव्वं॥६८०॥

दर्शनज्ञानचारित्रे उपयोगे संयमे व्युत्सर्गे ।
प्रत्याख्याने करणेषु प्रणिधाने तथा च समितिषु ॥६७८॥
विद्याचरणमहाव्रतसमाधिगुणब्रह्मचर्यषट्कायेषु ।
क्षमानिग्रहार्जवमार्दवमुक्तिविनयेषु च श्रद्धाने ॥ ६७९ ॥
एवंगुणो महार्थः मनःसंकल्पः प्रशस्तो विश्वस्तः ।
संकल्प इति विजानीहि जिनशासनसंमतं सर्वं ॥ ६८० ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्रमें, उपयोगमें, संयममें, कायोत्सर्गमें, शुभ योगमें, धर्मध्यानमें, समितिमें, द्वादशांगमें, भिक्षाशुद्धिमें, महाव्रतोंमें, संन्यासमें, गुणमें, ब्रह्मचर्यमें, पृथिवी आदि जीवरक्षामें, क्षमामें, इंद्रिय निग्रहमें, आर्जवमें, मार्दवमें, सब परिग्रहत्यागमें, विनयमें, श्रद्धानमें–इन सबमें जो मनका परिणाम है वह कर्म क्षयका कारण है शोभायमान है सबके विश्वास योग्य है । इस

प्रकार जिनशासनमें मानागया सब संकल्प है उसको शुभध्यान तुम जानो ॥ ६७८–६८० तक ॥

परिवारइड्ढिसक्कारपूयणं असणपाणहेऊ वा ।
लयणसयणासणं भत्तपाणकामट्ठहेऊ वा ॥ ६८१ ॥
आज्ञाणिद्देसमाणकित्तीवण्णणपहावणगुणट्ठं ।
झाणमिणमप्पसत्थं मणसंकप्पो दु वीसत्थो ॥ ६८२ ॥

परिवारर्द्धिसत्कारपूजनं अशनपानहेतोर्वा ।
लयनशयनासनभक्तपानकामार्थहेतोर्वा ॥ ६८१ ॥
आज्ञानिर्देशप्रमाणकीर्तिवर्णनप्रभावनगुणार्थं ।
ध्यानमिदमप्रशस्तं मनःसंकल्पस्तु विश्वस्तः ॥ ६८२ ॥

अर्थ—पुत्रशिष्यादिके लिये, हाथी आदिकेलिये, आदरके-लिये, पूजनकेलिये, भोजनपानकेलिये, खुदी हुई पर्वतकी जगह, शयन, आसन, भक्ति, दशप्रकारके प्राण, मैथुनकी इच्छा अर्थ इनकेलिये, आज्ञा, निर्देश, प्रमाणीकता, कीर्तिका वर्णन, प्रभावना गुणविस्तार–इनके लिये कायोत्सर्ग करे तो ऐसा मनका संकल्प अशुभ ध्यान है ॥ ६८१–६८२ ॥

काउस्सग्गणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
संजमतवड्ढियाणं णिग्गंथाणं महरिसीणं ॥ ६८३ ॥

कायोत्सर्गनिर्युक्तिः एषा कथिता मया समासेन ।
संयमतपऋद्धिकानां निग्रंथानां महर्षीणां ॥ ६८३ ॥

अर्थ—संयम और तपकी वृद्धिको चांहनेवाले निर्ग्रंथ महामु-नियोंको मैंने यह कायोत्सर्गनिर्युक्ति संक्षेपसे कही है ॥ ६८३ ॥

आगे षडावश्यक चूलिकाको कहते हैं;—

सव्वावासणिजुत्तो णियमा सिद्धोत्ति होइ णायव्वो।
अह णिस्सेसं कुणदि ण णियमा आवासया होंति६८४

सर्वावश्यकनिर्युक्तः नियमात् सिद्ध इति भवति ज्ञातव्यः।
अथ निश्शेषाणि करोति न नियमात् आवासका भवंति६८४

अर्थ—सब आवश्यकोंकर उद्यमी साधु नियमसे सिद्ध होता है ऐसा जानना और जो सब आवश्यकोंको नहीं करे तो उसके नियमसे स्वर्गादिमें आवास होता है ॥ ६८४ ॥

आवासयं तु आवासयेसु सव्वेसु अपरिहीणेसु।
मणवयणकायगुत्तिंदियस्स आवासया होंति ॥ ६८५॥

आवासनं तु आवश्यकेषु सर्वेषु अपरिहीनेषु।
मनोवचनकायगुप्तेंद्रियस्य आवश्यका भवंति ॥ ६८५ ॥

अर्थ—मन वचन कायकर गुप्त (रक्षित) हैं इंद्रिय जिसकीं ऐसे मुनिके संपूर्ण सब आवश्यकोंमें जो यत्नकर स्थिति वह परमार्थसे आवश्यक होते हैं। अन्य आवश्यक कर्मागमके कारण हैं॥६८५॥

तियरण सव्वविसुद्धो दव्वे खेत्ते जधुत्तकालम्मि।
मोणेणव्वाखित्तो कुज्जा आवासया णिच्चं ॥ ६८६ ॥

त्रिकरणैः सर्वविशुद्धः द्रव्ये क्षेत्रे यथोक्तकाले।
मौनेनाव्याक्षिप्तः कुर्यादावश्यकानि नित्यं ॥ ६८६ ॥

अर्थ—मन वचन कायकरके सर्वथा शुद्ध, द्रव्य क्षेत्र यथोक्तकालमें नित्य ही मौनकर निराकुल हुआ साधु आवश्यकोंको करे॥

जो होदि णिसीदप्पा णिसीहिया तस्स भावदो होदि।
अणिसिद्धस्स णिसीहियसद्दो हवदि केवलं तस्स६८७

यो भवति निसितात्मा निषद्यका तस्य भावतो भवति ।
अनिसितस्य निषद्यकाशब्दो भवति केवलं तस्य ॥ ६८७ ॥

अर्थ—जो निसितात्मा है अर्थात् जिसने इंद्रिय कषाय चित्तादिपरिणामोंको रोकलिया है और जिसकी बुद्धि सर्वथा निश्चित है उसके भावसे निषद्यका होती है। और जो स्वेच्छा प्रवर्तता चलायमान चित्त कषायोंके वश है उसके निषद्यका केवल शब्दमात्र जानना ॥ ६८७ ॥

आसाए विप्पमुक्कस्स आसिया होदि भावदो ।
आसाए अविप्पमुक्कस्स सद्दो हवदि केवलं ॥ ६८८ ॥

आशया विप्रमुक्तस्य आसिका भवति भावतः ।
आशया अविप्रमुक्तस्य शब्दो भवति केवलं ॥ ६८८ ॥

अर्थ—जो आकांक्षाओंसे रहित है उसके आसिका परमार्थसे जानना। और जो आशाकर सहित है उस पुरुषके आसिका करना केवल नाममात्र है ॥ ६८८ ॥

णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण ।
अह वित्थारपसंगोऽणियोगदो होदि णादव्वो॥६८९॥

निर्युक्तेर्निर्युक्तिः एषा कथिता मया समासेन ।
अथ विस्तारप्रसंगो अनियोगात् भवति ज्ञातव्यः ॥६८९॥

अर्थ—आवश्यकनिर्युक्ति अधिकारमें सबकी निर्युक्ति संक्षेपसे मैंने कही। जो इसका विस्तार जानना हो तो आचारांगसे जानलेना ॥ ६८९ ॥

अब इस आवश्यकाधिकारको संकोचते हैं;—

आवासयणिज्जुत्ती एवं कधिदा समासओ विहिणा ।

जो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धिं जादि विसुद्धप्पा॥६९०

आवश्यकनिर्युक्तिः एवं कथिता समासतो विधिना ।

यः उपयुंक्ते नित्यं सः सिद्धिं याति विशुद्धात्मा ॥ ६९० ॥

अर्थ—इसप्रकार मैंने आवश्यकनिर्युक्ति विधिकर संक्षेपसे कही जो इसको सबकाल आचरण करता है वह पुरुष कर्मोंसे रहित शुद्ध आत्मा हुआ मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ६९० ॥

इसप्रकार आचार्यश्रीवट्टकेरिविरचित **मूलाचार**की हिंदी-
भाषाटीकामें छह आवश्यकोंको कहनेवाला
सातवां **षडावश्यकाधिकार**
समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

द्वादशानुप्रेक्षाधिकार ॥ ८ ॥

आगे मंगलाचरणपूर्वक अनुप्रेक्षा कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

सिद्धे णमंसिदूणय झाणुत्तमखवियदीहसंसारे ।
दह दह दोदो य जिणे दहदो अणुपेहणा वुच्छं॥६९१॥

सिद्धान् नमस्कृत्य ध्यानोत्तमक्षपितदीर्घसंसारान् ।
दश दश द्वौ द्वौ च जिनान् दशद्वे अनुप्रेक्षा वक्ष्ये॥६९१॥

अर्थ—उत्तम ध्यानसे क्षय किया है दीर्घ संसार जिन्होंने ऐसे सिद्धोंको नमस्कारकर तथा चौवीस तीर्थंकर जिनेंद्र देवोंको नमस्कारकर मैं बारह अनुप्रेक्षाओंको कहता हूं ॥ ६९१ ॥

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं ।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोधिं च चिंतेज्जो ॥ ६९२ ॥

अध्रुवमशरणमेकत्वं अन्यत्संसारलोकं अशुचित्वं ।
आस्रवसंवरनिर्जराधर्मं बोधिं च चिंतयेत् ॥ ६९२ ॥

अर्थ—अनित्य अशरण एकत्व अन्यत्व संसार लोक अशुचित्व आस्रव संवर निर्जरा धर्म बोधि–इन बारह अनुप्रेक्षाओंका (भावनाओंका) चिंतवन करे ॥ ६९२ ॥

ठाणाणि आसणाणि य देवासुरमणुयइड्ढिसोक्खाइं ।
मादुपिदुसयणसंवासदाय पीदीवि य अणिच्चा॥६९३॥

स्थानानि आसनानि च देवासुरमनुजऋद्धिसौख्यानि ।
मातृपितृस्वजनसंवासता प्रीत्यपि च अनित्या ॥ ६९३ ॥

अर्थ—ग्रामादि स्थान सिंहासनादि आसन देव असुर मनुष्य इनकी हाथी घोड़ा आदि विभूति इंद्रियसुख, माता पिता बांधव सहित एक जगह रहना और इनके साथ प्रीति—ये सब अनित्य हैं ॥ ६९३ ॥

सामग्गिंदियरूवं मदिजोवणजीवियं बलं तेजं ।
गिहसयणासणभंडादिया अणिच्चेति चिंतिज्जो॥६९४॥

सामग्रींद्रियरूपं मतियौवनजीवितं बलं तेजः ।
गृहशयनासनभांडादीनि अनित्यानीति चिंतयेत् ॥ ६९४॥

अर्थ—राज्य हाथी घोड़े, नेत्रादि इंद्रिय, गोरा काला वर्ण, बुद्धि, जवान अवस्था, जीवन, बल, कांति व प्रताप, घर स्त्री शय्या सिंहासन वस्त्र वर्तन आदि सभी अनित्य हैं ऐसा चिंतवन करे ॥ ६९४ ॥

आगे अशरणभावनाको कहते हैं;—

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ ।

मचुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य ६९५

हयगजरथनरबलवाहनानि मंत्रौषधानि विद्याः ।

मृत्युभयात् न शरणं निकृतिः नीतिः च निजाश्च ॥६९५॥

अर्थ—घोड़ा हाथी रथ मनुष्य बल सवारी मंत्र औषधि प्रज्ञप्ति आदि विद्या ठगना चाणिक्यनीति आदि साम आदिरूप नीति और अपने भाई आदि कुटुंबीजन—ये सब मरणभयके निकट आनेपर कोई सहाई नहीं होसकते ॥ ६९५ ॥

जम्मजरामरणसमाहिदह्मि सरणं ण विज्जदे लोए ।
जरमरणमहारिउवारणं तु जिणसासणं मुच्चा ॥ ६९६ ॥

जन्मजरामरणसमाहिते शरणं न विद्यते लोके ।
जरामरणमहारिपुवारणं तु जिनशासनं मुक्त्वा ॥ ६९६ ॥

अर्थ—जन्म बुढापा मृत्यु इनकर सहित ऐसे जगतमें जरा मरणरूपी बड़े शत्रुओंके हटानेवाले ऐसे जिनमतके सिवाय और कोई भी शरण नहीं है । एक जिनधर्म ही सहायक है ॥ ६९६ ॥

मरणभयह्मि उवगदे देवावि सइंदया ण तारेंति ।
धम्मो त्ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणत्तं ॥ ६९७ ॥

मरणभये उपगते देवा अपि सेंद्रा न तारयंति ।
धर्मस्त्राणं शरणं गतिरिति चिंतय शरणत्वं ॥ ६९७ ॥

अर्थ—मरणभय निकट आनेपर इंद्रसहित सुर असुरदेव भी रक्षा नहींकर सकते एक जिनधर्म ही रक्षक आश्रय व श्रेष्ठ गतिका देनेवाला है ऐसा शरणका चिंतवन करो ॥ ६९७ ॥

अब एकत्वभावनाको कहते हैं;—

सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुजंतओ दुहिदो ।

वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणं कोई समं एदि ॥ ६९८ ॥

स्वजनस्य परिजनस्य च मध्ये एकः रुजार्तः दुःखितः ।
व्रजति मृत्युवशगतः न जनः कश्चिदपि समं एति॥६९८॥

अर्थ—भाई भतीजा आदि स्वजन, दासीदास आदि परिजन इनके मध्यमें अकेला ही रोगी दुःखी हुआ मृत्युके वशमें पड़ा परलोकको गमन करता है। इसके साथ कोई भी मनुष्य नहीं जाता ॥ ६९८ ॥

एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे ।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं ॥ ६९९ ॥

एकः करोति कर्म एकः हिंडति च दीर्घसंसारे ।
एकः जायते म्रियते च एवं चिंतय एकत्वं ॥ ६९९ ॥

अर्थ—यह जीव अकेला ही शुभअशुभ कर्म करता है, अकेला ही दीर्घसंसारमें भटकता है, अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इसतरह एकत्वभावनाका तुम चिंतवन करो ॥ ६९९ ॥

आगे अन्यत्वभावनाका स्वरूप कहते हैं;—

मादुपिदुसयणसंबंधिणो य सव्वेवि अत्तणो अण्णे ।
इहलोगबंधवा ते ण य परलोगं समा णेंति ॥ ७०० ॥

मातृपितृस्वजनसंबंधिनश्च सर्वेपि आत्मनः अन्ये ।
इहलोकबांधवास्ते न च परलोकं समं गच्छंति ॥ ७०० ॥

अर्थ—माता पिता कुटुंबीजन और संबंधी ये सभी अपने आत्मासे न्यारे हैं वे इसलोकके लिये ही भाई (सहायक) हैं परंतु परलोकमें साथ नहीं जासकते ॥ ७०० ॥

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहओत्ति मण्णंतो
अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे वुड्डं ॥ ७०१ ॥

अन्यः अन्यं शोचति मृत इति मम नाथ इति मन्यमानः ।
आत्मानं न तु शोचति संसारमहार्णवे ब्रुडितं ॥ ७०१ ॥

अर्थ—मेरा स्वामी मरगया ऐसा मानता हुआ अन्यकोई दूसरे जीवका तो सोच करता है परंतु संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए अपने आत्माका सोच (चिंता) कुछ भी नहीं करता ॥ ७०१

अण्णं इमं सरीरादिगंपि जं होज्ज बाहिरं दव्वं ।
णाणं दंसणमादा त्ति एवं चिंतेहि अण्णत्तं ॥ ७०२ ॥

अन्यत् इदं शरीरादिकमपि यत् भवेत् बहिर्द्रव्यं ।
ज्ञानं दर्शनमात्मा इति एवं चिंतय अन्यत्वं ॥ ७०२ ॥

अर्थ—यह शरीर आदि भी अन्य है तो बाह्यद्रव्य अन्य है ही । इसलिये ज्ञानदर्शन ही अपने आत्माके हैं इसतरह अन्यत्व-भावनाका तुम चिंतवन करो ॥ ७०२ ॥

अब संसारभावनाको कहते हैं;—

मिच्छत्तेणोछण्णो मग्गं जिणदेसिदं अपेक्खंतो ।
भमिहदि भीमकुडिल्ले जीवो संसारकंतारे ॥ ७०३ ॥

मिथ्यात्वेन आछन्नो मार्गं जिनदेशितं अपश्यन् ।
भ्रमिष्यति भीमकुटिले जीवः संसारकांतारे ॥ ७०३ ॥

अर्थ—अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व अंधकारसे सबजगह घिरा हुआ यह जीव जिनदेवकर उपदेश कियेगये मोक्षमार्गको नहीं देखता संता भयानक अत्यंत गहन संसाररूपवनमें ही भ्रमण करेगा ॥ ७०३ ॥

दव्वे खेत्ते काले भावे य चदुव्विहो य संसारो ।
चदुगदिगमणणिबद्धो बहुप्पयारेहिं णादव्वो ॥७०४॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालः भावश्च चतुर्विधश्च संसारः ।
चतुर्गतिगमननिबद्धः बहुप्रकारैः ज्ञातव्यः ॥ ७०४ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भाव इस तरह चार परिवर्तनरूप संसार जानना । वह नरकादि गतियोंमें भ्रमणके लिये कारण है और बहुत प्रकारका है ॥ ७०४ ॥

किं केण कस्स कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो य।
छहिं अणिओगद्दारें सव्वे भावाणुगंतव्वा ॥ ७०५ ॥

कः केन कस्य कुत्र वा कियच्चिरं कतिविधः च भावश्च ।
षड्भिरनियोगद्वारैः सर्वे भावा अनुगंतव्या ॥ ७०५ ॥

अर्थ—कौन संसार है, किसभावसे संसार है, किसके संसार है, कहां संसार है, कितने बहुतकालतक संसार है, कितने प्रकारका संसार है–इस तरह छह प्रश्नोतरोंद्वारा संसारको तथा सभी पदार्थोंको जानना चाहिये ॥ ७०५ ॥

तत्थ जरामरणभयं दुक्खं पियविप्पओग बीहणयं ।
अप्पियसंजोगंवि य रोगमहावेदणाओ य ॥ ७०६ ॥

तत्र जरामरणभयं दुःखं प्रियविप्रयोगं भीषणं ।
अप्रियसंयोगमपि च रोगमहावेदनाश्च ॥ ७०६ ॥

अर्थ—इस संसारमें जराका भय मरणका भय मनवचनकायका दुःख, प्रियवस्तुके वियोगसे उत्पन्न हुआ दुःख, भयंकर अनिष्टसंयोगसे उत्पन्न दुःख, खांसी आदि रोगसे उपजी पीड़ा–इनको प्राप्त होता है ॥ ७०६ ॥

जायंतो य मरंतो जलथलखयरेसु तिरियणिरियेसु ।
माणुस्से देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ॥ ७०७ ॥

जायमानश्च म्रियमाणः जलस्थलखचरेषु तिर्यग्निरयेषु ।
मानुष्ये देवत्वे दुःखसहस्राणि प्राप्नोति ॥ ७०७ ॥

अर्थ—उस संसारमें जन्म मरण करता यह जीव जलचर स्थलचर आकाशचर तिर्यंचयोनिमें, नरकमें, मनुष्यगतिमें और देवगतिमें हजारों तरहके दुःख पाता है ॥ ७०७ ॥

जे भोगा खलु केई देवा माणुस्सिया य अणुभूदा ।
दुक्खं च णंतखुत्तो णिरए तिरिएसु जोणीसु ॥७०८॥
संजोगविप्पओगा लाहालाहं सुहं च दुक्खं च ।
संसारे अणुभूदा माणं च तहावमाणं च ॥ ७०९ ॥
एवं बहुप्पयारं संसारं विविहदुक्खथिरसारं ।
णाऊण विचिंतिज्जो तहेव लहुमेव णिस्सारं ॥ ७१० ॥

ये भोगाः खलु केचित् दैवा मानुषाश्च अनुभूताः ।
दुःखं चानंतकृत्वः नरके तिर्यक्षु योनिषु ॥ ७०८ ॥
संयोगविप्रयोगा लाभोऽलाभः सुखं च दुःखं च ।
संसारे अनुभूता मानं च तथापमानं च ॥ ७०९ ॥
एवं बहुप्रकारं संसारं विविधदुःखस्थिरसारं ।
ज्ञात्वा विचिंतयेत् तथैव लघुमेव निस्सारं ॥ ७१० ॥

अर्थ—संसारमें जो कुछ देवगतिके तथा मनुष्यगतिके भोग निश्चयकर सेवन किये उनसे नरक तिर्यंचयोनिमें अनंतवार दुःख पाया ॥ फिर इस जीवने इष्टसंयोग इष्टवियोग वांछितका लाभ अलाभ सुख दुःख पूजा तिरस्कार इन सबको भोगा ॥ ऐसे बहुत

प्रकार अनेक दुःख ही जिसमें सार हैं ऐसे संसारको जानकर शीघ्र ही इसको निस्सार चिंतवन करना चाहिये ॥७०८-७१०॥

अब लोकानुप्रेक्षाको कहते हैं;—

एगविहो खलु लोओ दुविहो तिविहो तहा बहुविहो वा
दव्वेहिं पज्जएहिं य चिंतेज्ज लोगसब्भावं ॥ ७११ ॥

एकविधः खलु लोकः द्विविधः त्रिविधः तथा बहुविधो वा।
द्रव्यैः पर्यायैः च चिंतयेत् लोकसद्भावं ॥ ७११ ॥

अर्थ—यह लोक सामान्यकर एक है ऊर्ध्वअधोलोकसे दो प्रकार है तिर्यग्लोक मिलानेसे तीन भेदवाला है, गति अस्तिकाय द्रव्य पदार्थ कर्म इनकी अपेक्षा चार पांच छह सात आठ भेद-वाला है-इसप्रकार द्रव्य तथा पर्यायभेदकर लोकके अस्तित्वका चिंतवन करे ॥ ७११ ॥

लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो
जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो ॥७१२॥

लोकः अकृत्रिमः खलु अनादिनिधनः स्वभावनिष्पन्नः ।
जीवाजीवैः भृतः नित्यः तालवृक्षसंस्थानः ॥ ७१२ ॥

अर्थ—यह लोक अकृत्रिम है अनादिनिधन है अपने स्वभा-वसे स्थित है किसीकर बनाया हुआ नहीं है जीव अजीव द्रव्योंसे भरा हुआ है नित्य (सर्वकाल रहनेवाला) है और ताड़वृक्षके आकार है ॥ ७१२ ॥

धम्माधम्मागासा गदिरागदि जीवपुग्गलाणं च ।
जावत्तावल्लोगो आगासमदो परमणंतं ॥ ७१३ ॥

धर्माधर्माकाशानि गतिरागतिः जीवपुद्गलानां च।
यावत्तावल्लोकः आकाशमतः परमनंतम् ॥ ७१३ ॥

अर्थ—धर्म अधर्म लोकाकाश और जितनेमें जीव पुद्गलोंका गमन आगमन है उतना ही लोक है। इसके आगे अंतरहित (अनंत) द्रव्योंके विश्रामरहित केवल आकाश है उसको अलोकाकाश कहते हैं ॥ ७१३ ॥

हिट्ठा मज्झे उवरि वेत्तासणझल्लरीमुदिंगणिओ।
मज्झिमवित्थारेण दु चोद्दसगुणमायदो लोओ ॥७१४

अधो मध्ये उपरि वेत्रासनझल्लरीमृदंगनिभः।
मध्यमविस्तारेण तु चतुर्दशगुण आयतो लोकः ॥ ७१४ ॥

अर्थ—यह लोक अधोदेशमें मध्यदेशमें ऊपरले प्रदेशमें क्रमसे वेत्रासन (मूंढा), झालर, मृदंग इनके आकार है। मध्यके एक राजूविस्तारसे चौदहगुणा लंबा सब लोक है ॥७१४॥

तत्थणुहवंति जीवा सकम्मणिव्वत्तियं सुहं दुक्खं।
जम्मणमरणपुणब्भवमणंतभवसायरे भीमे ॥ ७१५ ॥

तत्रानुभवंति जीवाः स्वकर्मनिर्वर्तितं सुखं दुःखं।
जन्ममरणपुनर्भवं अनंतभवसागरे भीमे ॥ ७१५ ॥

अर्थ—उस लोकमें ये जीव अपने कर्मोंसे उपार्जन किये सुख दुःखको भोगते हैं और भयंकर इस अनंतभवसागरमें जन्ममरणको वारंवार अनुभवते हैं ॥ ७१५ ॥

मादा य होदि धूदा धूदा मादुत्तणं पुण उवेदि।
पुरिसोवि तत्थ इत्थी पुमं च अपुमं च होइ जगे ॥

माता च भवति दुहिता दुहिता मातृत्वं पुनरुपैति।

पुरुषोपि तत्र स्त्री पुमांश्च अपुमांश्च भवति जगति ॥७१६॥

अर्थ—इस संसारमें माता है वह पुत्री हो जाती है और पुत्री माता होजाती है । पुरुष स्त्री होजाता है और स्त्री पुरुष और नपुंसक होजाती है ॥ ७१६ ॥

होऊण तेयसत्ताधिओ दु बलविरियरूवसंपण्णो ।
जादो वच्चघरे किमि धिगत्थु संसारवासस्स ॥७१७॥

भूत्वा तेजःसत्त्वाधिकस्तु बलवीर्यरूपसंपन्नः ।
जातः वर्चोगृहे कृमिः धिगस्तु संसारवासम् ॥ ७१७ ॥

अर्थ—प्रताप सुंदरतासे अधिक बलवीर्यरूप इनसे परिपूर्ण ऐसा राजा भी कर्मवश अशुचि (मैले) स्थानमें लट जीव होजाता है। इसलिये ऐसे संसारमें रहनेको धिक्कार हो ॥ ७१७ ॥

धिग्भवदु लोगधम्मं देवावि य सुरवदीय महधीया ।
भोत्तूण य सुहमतुलं पुणरवि दुक्खावहा होंति ॥७१८

धिग्भवतु लोकधर्मं देवा अपि च सुरपतयो महर्धिकाः ।
भुक्त्वा च सुखमतुलं पुनरपि दुःखावहा भवंति ॥ ७१८ ॥

अर्थ—लोकके स्वभावको धिक्कार हो जिससे कि देव और महान् ऋद्धिवाले इन्द्र अनुपमसुखको भोगकर पश्चात् दुःखके भोगनेवाले होते हैं ॥ ७१८ ॥

णाऊण लोगसारं णिस्सारं दीहगमणसंसारं ।
लोगग्गसिहरवासं झाहि पयत्तेण सुहवासं ॥ ७१९ ॥

ज्ञात्वा लोकसारं निस्सारं दीर्घगमनसंसारं ।
लोकाग्रशिखरवासं ध्याय प्रयत्नेन सुखवासं ॥ ७१९ ॥

अर्थ—इसप्रकार लोकको निस्सार (तुच्छ) जानकर तथा

उस संसारको अनंत जानकर अनंतसुखका स्थान ऐसे मोक्षस्थानका यत्नसे ध्यानकर ॥ ७१९ ॥

आगे अशुचिभावनाको कहते हैं;—

णिरिएसु असुहमेयंतमेव तिरियेसु बंधरोहादी।
मणुयेसु रोगसोगादियं तु दिवि माणसं असुहं॥७२०

नरकेषु अशुभमेकांतमेव तिर्यक्षु बंधरोधादयः।
मनुजेषु रोगशोकादयस्तु दिवि मानसं अशुभं ॥ ७२० ॥

अर्थ—नरकमें सदाकाल दुःख ही हैं, घोड़ा हाथी आदि तिर्यंचगतिमें बंधन ताडन आहारादिका रोकना ये दुःख हैं, मनुष्यगतिमें रोग शोक आदिका दुःख है, देवगतिमें दूसरेकी आज्ञामें रहना आदि मानसिक दुःख है ॥ ७२० ॥

आयासदुक्खवेरभयसोगकलिरागदोसमोहाणं।
असुहाणमावहोवि य अत्थो मूलं अणत्थाणं ॥ ७२१

आयासदुःखवैरभयशोककलिरागद्वेषमोहानाम्।
अशुभानामावहोपि च अर्थो मूलमनर्थानाम् ॥ ७२१ ॥

अर्थ—धनके पैदा करनेमें दुःख, वैर, भय शोक कलह राग द्वेष, मिथ्यात्व असंयमरूप मोह—इन अशुभोंकी प्राप्ति होना ये संसारमें महान् दुःख है। अथवा जितने अनर्थ (अशुभ) हैं उनका मूलकारण धन है ॥ ७२१ ॥

दुग्गमदुल्लहलाभा भयपउरा अप्पकालिया लहुया।
कामा दुक्खविवागा असुहा सेविज्जमाणावि ॥७२२॥

दुर्गमदुर्लभलाभा भयप्रचुरा अल्पकालिका लघुकाः।
कामा दुःखविपाका अशुभाः सेव्यमाना अपि ॥ ७२२ ॥

अर्थ—इस संसारमें कष्टसे मिलनेवाले अपनेको इष्ट पदार्थ मिलने कठिन हैं, मारण बंधन आदि भयसहित हैं, थोड़े काल रहनेवाले हैं साररहित हैं । और सेवन कियेगये कामभोग भी दुःखके ही देनेवाले हैं इसलिये अशुभ हैं ॥ ७२२ ॥

असुइविलिआविले गब्भे वसमाणो वत्थिपडलपच्छण्णो।
मादूइसेभलालाइयं तु तिव्वासुहं पिबदि ॥ ७२३ ॥

अशुच्याविले गर्भे वसन् वस्तिपटलप्रच्छन्नः ।
मातृश्लेष्मलालापितं तु तीव्राशुभं पिबति ॥ ७२३ ॥

अर्थ—यह जीव मूत्रमलयुक्त गर्भमें वसता जरायु (जेर) कर लिपटा हुआ माताके भक्षणसे उत्पन्न श्लेष्मा लारकर सहित तीव्र दुर्गंध रसको पीता है ॥ ७२३ ॥

मंसट्ठिसेभवसरुहिरचम्मपित्तंतमुत्तकुणिपकुडिं ।
बहुदुक्खरोगभायण सरीरमसुभं वियाणाहि ॥ ७२४

मांसास्थिश्लेष्मवसारुधिरचर्मपित्तांत्रमूत्रकुणिपकुटीं ।
बहुदुःखरोगभाजनं शरीरमशुभं विजानीहि ॥ ७२४ ॥

अर्थ—मांस हाड कफ मेद लोही चाम पित्त आंत मूत्र मल इनका घर, बहुत दुःख और रोगोंका पात्र ऐसे शरीरको तुम अशुचि जानो ॥ ७२४ ॥

अत्थं कामसरीरादिगंपि सव्वमसुभत्ति णाऊण ।
णिव्विज्जंतो झायसु जह जहसि कलेवरं असुइं॥७२५

अर्थ कामशरीरादिकमपि सर्वमशुभमिति ज्ञात्वा ।
निर्वेद्यमानः ध्याय यथा जहासि कलेवरं अशुचि ॥७२५॥

अर्थ—स्त्री वस्त्र धनादि मैथुन शरीरादि ये सभी अशुभ हैं

ऐसा जानकर वैराग्यको प्राप्त हुआ तू वैराग्यका इसतरह ध्यान-कर जिस तरह अशुचि (अपवित्र) इस शरीरको छोड़ दे ७२५

मोत्तूण जिणक्खादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो ॥७२६

मुक्त्वा जिनाख्यातं धर्मं शुभमिह तु नास्ति लोके।
ससुरासुरेषु तिर्यक्षु नरकमनुजेषु चिंतयेत् ॥ ७२६ ॥

अर्थ—सुर असुरों सहित तिर्यंच नरक मनुष्य इन गतियोंमें जिनभगवानकर उपदेशित धर्मको छोड़कर लोकमें अन्य कोई भी कल्याणकारी नहीं है। इस जगतमें आत्माका हितकारी जिनधर्म ही है ऐसा चिंतवन करे ॥ ७२६ ॥

अब आस्रवानुप्रेक्षाको कहते हैं;—

दुक्खभयमीणपउरे संसारमहण्णवे परमघोरे।
जंतू जं तु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं ॥ ७२७ ॥

दुःखभयमीनप्रचुरे संसारमहार्णवे परमघोरे।
जंतुः यत्तु निमज्जति कर्मास्रवहेतुकं सर्वं ॥ ७२७ ॥

अर्थ—दुःख भयरूपी मत्स्य जिसमें बहुत हैं ऐसे अत्यंत भयंकर संसार समुद्रमें यह प्राणी जिसकारणसे डूबता है वही सब कर्मास्रवका कारण है ॥ ७२७ ॥

रागो दोसो मोहो इंदियसण्णा य गारवकसाया।
मणवयणकायसहिदा दु आसवा होंति कम्मस्स ॥

रागः द्वेषः मोहः इन्द्रियसंज्ञाश्च गौरवकषायाः।
मनोवचनकायसहितास्तु आस्रवा भवंति कर्मणः ॥ ७२८॥

अर्थ—राग द्वेष मोह पांच इन्द्रिय आहारादि संज्ञा ऋद्धि

आदि गौरव क्रोधादि कषाय मन वचन कायकी क्रिया सहित ये सब आस्रव हैं इनसे कर्म आते हैं ॥ ७२८ ॥

रंजेदि असुहकुणपे रागो दोसोवि दूसदी णिच्चं।
मोहोवि महारिवु जं णियदं मोहेदि सब्भावं ॥७२९॥

रंजयति अशुभकुणपे रागो द्वेषोपि द्वेष्टि नित्यं।
मोहोपि महारिपुः यन्नियतं मोहयति सद्भावं ॥ ७२९ ॥

अर्थ—राग इस जीवको अशुभ मलिन घिनावनी वस्तुमें अनुराग (प्रीति) उपजाता है, द्वेष भी सम्यग्दर्शनादिकोंमें द्वेष (अप्रीति) उपजाता है और मोह भी महान् वैरी है जो कि हमेशा इस जीवके असली स्वरूपको भुलादेता है विनाश करता है ॥ ७२९ ॥

धिद्धी मोहस्स सदा जेण हिदत्थेण मोहिदो संतो।
णवि बुज्झदि जिणवयणं हिदसिवसुहकारणं मग्गं ॥

धिक् धिक् मोहं सदा येन हृदयस्थेन मोहितः सन्।
नापि बुध्यते जिनवचनं हितशिवसुखकारणं मार्गम् ॥७३०

अर्थ—मोहको सदाकाल धिक्कार हो धिक्कार हो क्योंकि हृदयमें रहनेवाले जिसमोहसे मोहित हुआ यह जीव हितकारी मोक्षसुखका कारण ऐसे जिनवचनको नहीं पहचानता ॥ ७३० ॥

जिणवयण सद्दहाणोवि तिव्वमसुहगदिपावयं कुणइ।
अभिभूदो जेहिं सदा धित्तेसिं रागदोसाणं ॥७३१॥

जिनवचनं श्रद्दधानोपि तीव्रमशुभगतिपापं करोति।
अभिभूतो याभ्यां सदा धिक् तौ रागद्वेषौ ॥ ७३१ ॥

अर्थ—यह जीव जिन रागद्वेषोंकर पीड़ित हुआ जिनवचनका

श्रद्धान करता भी सदा अशुभगतिका कारण तीव्र पापको करता है इसलिये उन रागद्वेषोंको धिक्कार हो ॥ ७३१ ॥

अणिहुदमणसा एदे इंदियविसया णिगेण्हिदुं दुक्खं।
मंतोसहिहीणेण व दुट्ठा आसीविसा सप्पा ॥ ७३२ ॥

अनिभृतमनसा एतान् इन्द्रियविषयान् निगृहीतुं दुःखं।
मंत्रौषधहीनेन इव दुष्टा आशीविषाः सर्पाः ॥ ७३२ ॥

अर्थ—एकाग्रमनके विना इन रूप रस आदि इन्द्रियविषयोंके रोकनेको समर्थ नहीं होसकते । जैसे मंत्र औषधिकर हीन पुरुष दुष्ट आशीविष सर्पोंको वश नहीं कर सकता ॥ ७३२ ॥

धित्तेसिमिंदियाणं जेसिं वसदो दु पावमज्जणिय।
पावदि पावविवागं दुक्खमणंतं चउग्गदिसु ॥ ७३३ ॥

धिक् तानि इन्द्रियाणि येषां वशतस्तु पापमर्जयित्वा।
प्राप्नोति पापविपाकं दुःखमनंतं चतुर्गतिषु ॥ ७३३ ॥

अर्थ—उन इन्द्रियोंको धिक्कार हो जिन इन्द्रियोंके वश हुआ यह जीव पापका उपार्जन करके उस पापका फल जो चारों गतियोंमें अनंत दुःख उसे पाता है ॥ ७३३ ॥

सण्णाहिं गारवेहिं अ गुरुओ गुरुगं तु पावमज्जणिय।
तो कम्मभारगुरुओ गुरुगं दुक्खं समणुभवदि ॥ ७३४

संज्ञाभिः गौरवैश्च गुरुर्गुरुकं तु पापमर्जयित्वा।
ततः कर्मभारगुरुः गुरुकं दुःखं समनुभवति ॥ ७३४ ॥

अर्थ—आहारादि संज्ञा और तीन गौरवोंकर अति भारा हुआ यह जीव महा पापको उपार्जन करके पश्चात् कर्मरूपी भारसे भारा हुआ यह महान् दुःखको भोगता है ॥ ७३४ ॥

कोधो माणो माया लोभो य दुरासया कसायरिऊ।
दोससहस्सावासा दुक्खसहस्साणि पावंति ॥ ७३५ ॥

क्रोधः मानः माया लोभश्च दुराश्रयाः कषायरिपवः ।
दोषसहस्रावासाः दुःखसहस्राणि प्रापयंति ॥ ७३५ ॥

अर्थ—दुष्ट हैं आलंबन जिनको, हजारों दोषोंके निवास ऐसे क्रोध मान माया लोभ ये चार कषायरूपी शत्रु जीवोंको हजारों दुःख प्राप्त करते हैं ॥ ७३५ ॥

हिंसादिएहिं पंचहिं आसवदारेहिं आसवदि पावं।
तेहिंतो धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे ॥७३६॥

हिंसादिभिः पंचभिः आस्रवद्वारैः आस्रवति पापं ।
तेभ्यो ध्रुवं विनाशः सास्रवनौः यथा समुद्रे ॥ ७३६ ॥

अर्थ—हिंसा असत्य आदि पांच आस्रवोंके द्वारकर पापकर्म आता है और उन आस्रवोंसे निश्चयकर जीवोंका नाश होता है, जैसे छिद्रसहित नाव समुद्रमें डूब जाती है । इसीतरह कर्मास्रवोंसे जीवभी संसारसमुद्रमें डूबता है ॥ ७३६ ॥

एवं बहुप्पयारं कम्मं आसवदि दुट्ठमट्ठविहं।
णाणावरणादीयं दुक्खविवागंति चिंतेज्जो ॥ ७३७ ॥

एवं बहुप्रकारं कर्म आस्रवति दुष्टमष्टविधं ।
ज्ञानावरणादिकं दुःखविपाकमिति चिंतयेत् ॥ ७३७ ॥

अर्थ—इस तरह ज्ञानावरणादि आठ भेदरूप तथा उत्तरभेदोंसे बहुत प्रकार दुष्ट कर्म आते हैं इसलिये उस कर्मास्रवको दुःख-फल देनेवाला चिंतवन करना चाहिये ॥ ७३७ ॥

आगे संवरभावनाको कहते हैं;—

तम्हा कम्मासवकारणाणि सव्वाणि ताणि रुभिंज्जो।
इंदियकसायसण्णागारवरागादिआदीनि ॥ ७३८ ॥

तस्मात् कर्मास्रवकारणानि सर्वाणि तानि रोधयेत्।
इन्द्रियकषायसंज्ञागौरवरागादिकादीनि ॥ ७३८ ॥

अर्थ—इसलिये जो कर्मास्रवके कारण इन्द्रिय कषाय संज्ञा गौरव रागादिक हैं उन सबको रोके ॥ ७३८ ॥

रुद्धेसु कसायेसु अ मूलादो होंति आसवा रुद्धा।
दुब्भत्तम्हि णिरुद्धे वणम्मि णावा जह ण एदि॥७३९

रुद्धेषु कषायेषु च मूलात् भवंति आस्रवा रुद्धाः।
दुर्वहति निरुद्धे वने नौः यथा न एति ॥ ७३९ ॥

अर्थ—कषायोंके रोकनेसे मूलसे लेकर सभी आस्रव रुक जाते हैं। जैसे छिद्रको रोकनेसे नाव पानीमें नहीं डूबसकती ॥

इंदियकसायदोसा णिग्घिप्पंति तवणाणविणएहिं।
रज्जूहिं णिधिप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया ॥ ७४०

इन्द्रियकषायदोषा निगृह्यंते तपोज्ञानविनयैः।
रज्जुभिः निगृह्यंते खलु उत्पथगामिनो यथा तुरगाः ७४०

अर्थ—इन्द्रिय कषाय और द्वेष ये तप ज्ञान और विनयसे रोके जाते हैं, जैसे कुमार्गमें जाते हुए घोड़े लगामसे रोक दिये जाते हैं ॥ ७४० ॥

मणवयणकायगुत्तिंदियस्स समिदीसु अप्पमत्तस्स।
आसवदारणिरोहे णवकम्मरयासवो ण हवे ॥७४१॥

मनोवचनकायगुप्तेंद्रियस्य समितिषु अप्रमत्तस्य।

आस्रवद्वारनिरोधे नवकर्मरजास्रवो न भवेत् ॥ ७४१ ॥

अर्थ—मन वचन कायकर जिसने इन्द्रियोंको रोक लिया है और जो ईर्या आदि समितियोंके पालनमें प्रमादरहित है ऐसे चारित्रयुक्त मुनिके आस्रवद्वारके रुक जानेपर नवीनकर्मोंका आस्रव नहीं होता ॥ ७४१ ॥

मिच्छत्ताविरदीहिं य कसायजोगेहिं जं च आसवदि ।
दंसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहिं तु णासवदि ॥७४२

मिथ्यात्वाविरतिभिः च कषाययोगैः यच्च आस्रवति ।
दर्शनविरमणनिग्रहनिरोधनैस्तु न आस्रवति ॥ ७४२ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व अविरति कषाय योग इनसे जो कर्म आते हैं वे सम्यग्दर्शन विरति कषायनिग्रह योगनिरोध इनसे यथाक्रमकर नहीं आते ॥ ७४२ ॥

संवरफलं तु णिव्वाणमिति संवरसमाधिसंजुत्तो ।
णिच्चुज्जुत्तो भावय संवर इणमो विसुद्धप्पा ॥ ७४३ ॥

संवरफलं तु निर्वाणमिति संवरसमाधिसंयुक्तः ।
नित्योद्युक्तो भावयसंवरमिमं विशुद्धात्मा ॥ ७४३ ॥

अर्थ—संवरका फल मोक्ष है इसकारण संवरके ध्यानकर सहित हुआ, सबकाल यत्नमें लगा ऐसा निर्मल आत्मा होके इस संवरका चिंतवन कर ॥ ७४३ ॥

आगे निर्जरानुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं;—

रुद्धासवस्स एवं तवसा जुत्तस्स णिज्जरा होदि ।
दुविहा य सावि भणिया देसादो सव्वदो चेय ७४४

रुद्धास्रवस्य एवं तपसा युक्तस्य निर्जरा भवति ।
द्विविधा च सापि भणिता देशतः सर्वतश्चैव ॥ ७४४ ॥

अर्थ—इसप्रकार जिसने आस्रवको रोकलिया है और जो तपकर सहित है ऐसे मुनिके कर्मोंकी निर्जरा होती है वह निर्जरा एकदेश सर्वदेश ऐसे दो प्रकारकी है ॥ ७४४ ॥

संसारे संसरंतस्स खओवसमगदस्स कम्मस्स ।
सव्वस्सवि होदि जगे तवसा पुण णिज्जरा विउला ७४५

संसारे संसरतः क्षयोपशमगतस्य कर्मणः ।
सर्वस्यापि भवति जगति तपसा पुनः निर्जरा विपुला ७४५

अर्थ—इस जगतमें चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करते सभी जीवोंके क्षयोपशमको प्राप्त कर्मोंकी निर्जरा होती है यह एकदेश निर्जरा है । और जो तपसे निर्जरा होती है वह सकलनिर्जरा है ॥

जह धादू धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो ।
तवसा तधा विसुज्झदि जीवो कम्मेंहि कणयं व ७४६

यथा धातुः धम्यमानः शुध्यति सः अग्निना तु संतप्तः ।
तपसा तथा विशुध्यति जीवः कर्मभ्यः कनकमिव ॥ ७४६

अर्थ—जैसे सुवर्णपाषाण धमाया हुआ अग्निसे तपाया गया कीटादिमलरहित होके शुद्ध होजाता है उसीतरह यह जीव भी तपरूपी अग्निसे तपाया गया कर्मोंसे रहित होके शुद्ध होजाता है ॥ ७४६ ॥

णाणवरमारुदजुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो ।
दहइ तवो भववीयं तणकट्ठादी जहा अग्गी ॥ ७४७॥

ज्ञानवरमारुतयुतं शीलवरसमाधिसंयमोज्ज्वलितं ।

दहति तपो भवबीजं तृणकाष्ठादिं यथा अग्निः ॥ ७४७ ॥

अर्थ—ज्ञानरूपी प्रचंडपवनकर सहित, शील उत्तमसमाधि संयम इनकर प्रज्वलित जो तप वह संसारके कारण कर्मोंको भस्म करदेता है। जैसे अग्नि, तृण काठ आदिको भस्म करडालती है ॥ ७४७ ॥

चिरकालमज्जिदंपि य विहुणदि तवसा रयत्ति णाऊण।
दुविहे तवम्मि णिच्चं भावेदव्वो हवदि अप्पा ॥७४८॥

चिरकालमार्जितमपि च विधुनोति तपसा रज इति ज्ञात्वा।
द्विविधे तपसि नित्यं भावयितव्यो भवति आत्मा ॥७४८॥

अर्थ—बहुतकालका संचय किया हुआ भी कर्म तपसे नष्ट होजाता है ऐसा जानकर दोप्रकारके तपमें आत्मा निरंतर भावने योग्य है ॥ ७४८ ॥

णिज्जरियसव्वकम्मो जादिजरामरणबंधणविमुक्को।
पावदि सुक्खमणंतं णिज्जरणं तं मणसि कुज्जा॥७४९॥

निर्जीर्णसर्वकर्मा जातिजरामरणबंधनविमुक्तः।
प्राप्नोति सुखमनंतं निर्जरणं तन्मनसि कुर्यात् ॥ ७४९ ॥

अर्थ—उसके बाद सब कर्मोंकर रहित, जन्म जरा मरणरूपी बंधनोंकर रहित हुआ अतुलसुखको पाता है इसलिये मनमें निर्जरा भावना चिंतवन करना चाहिये ॥ ७४९ ॥

आगे धर्मानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं;—

सव्वजगस्स हिदकरो धम्मो तित्थंकरेहिं अक्खादो।
धण्णा तं पडिवण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया ॥७५०

सर्वजगतो हितकरो धर्मः तीर्थंकरैः आख्यातः।

धन्यास्तं प्रतिपन्ना विशुद्धमनसा जगति मनुजाः ॥७५०॥

अर्थ—सब भव्यजीवोंका हितकारी उत्तमक्षमादि धर्म तीर्थंकर भगवानने उपदेशित किया है, उस धर्मको जो मनुष्य शुद्धचित्तसे प्राप्त हुए हैं वे जगतमें पुण्यवान् हैं ॥ ७५० ॥

जेणेह पाविदव्वं कल्लाणपरंपरं परमसोक्खं ।
सो जिणदेसिदधम्मं भावेणुववज्जदे पुरिसो ॥ ७५१ ॥

येनेह प्राप्तव्यं कल्याणपरंपरां परमसौख्यं ।
स जिनदेशितं धर्मं भावेन उपपद्यते पुरुषः ॥ ७५१ ॥

अर्थ—इस संसारमें जिस जीवको कल्याणकी परंपरावाला परम सुख प्राप्त होना है वही जीव तीर्थंकर उपदेशे हुए धर्मको भावसे सेवन करता है श्रद्धान करता है ॥ ७५१ ॥

खंतीमद्दवअज्जवलाघवतवसंजमो अकिंचणदा ।
तह होइ बह्मचेरं सच्चं चागो य दसधम्मा ॥ ७५२ ॥

क्षांतिमार्दवार्जवलाघवतपःसंयमाः अकिंचनता ।
तथा भवति ब्रह्मचर्यं सत्यं त्यागश्च दशधर्माः ॥ ७५२ ॥

अर्थ—उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच तप संयम आकिंचन्य ब्रह्मचर्य सत्य त्याग ये दश मुनिधर्मके भेद हैं ॥ ७५२ ॥

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जह सो।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ७५३

उपशमो दया च क्षांतिः वर्धते वैराग्यता च यथा यथाशः।
तथा तथा च मोक्षसौख्यं अक्षीणं भावितं भवति ॥७५३॥

अर्थ—शांति दया क्षमा वैराग्यभाव ये सब जैसे जैसे बढते

जाते हैं वैसे वैसे इस जीवके अविनाशी मोक्षसुख अनुभव गोचर होता जाता है ॥ ७५३ ॥

संसारविसमदुग्गे भवगहणे कहवि मे भमंतेण ।
दिट्ठो जिणवरदिट्ठो जेट्ठो धम्मोत्ति चिंतेज्जो ॥ ७५४ ॥

संसारविषमदुर्गे भवगहने कथमपि मया भ्रमता ।
दृष्टो जिनवरदिष्टो ज्येष्ठो धर्म इति चिंतयेत् ॥ ७५४ ॥

अर्थ—पंचपरावर्तनरूप संसारकर जिसका मार्ग विषम है ऐसे भववनमें भ्रमण करते हुए मैंने बडे कष्टसे जिनदेवकर उपदेशा महान् धर्म पाया ऐसा चिंतवन करना चाहिये ॥ ७५४ ॥

आगे बोधिदुर्लभानुप्रेक्षाको कहते हैं;—

संसारह्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं ।
जुगसमिलासंजोगो लवणसमुद्दे जहा चेव ॥ ७५५ ॥

संसारे अनंते जीवानां दुर्लभं मनुष्यत्वं ।
युगसमिलासंयोगो लवणसमुद्रे यथा एव ॥ ७५५ ॥

अर्थ—इस अनंत संसारमें जीवोंके मनुष्यजन्मका मिलना ऐसा दुर्लभ है जैसा लवणसमुद्रमें युग और समिलाका संबंध। अर्थात् समुद्रके पूर्वभागमें तो जूड़ा डाला और पश्चिम भागमें समिला डाली अब उस समिलाका जूड़ेके छेदमें प्रवेश होना महान दुर्लभ है इसीतरह दार्ष्टांतमें जानना ॥ ७५५ ॥

देसकुलजम्मरूवं आऊ आरोग्ग वीरियं विणओ ।
सवणं गहणं मदि धारणा य एदेवि दुल्लहा लोए ७५६

देशकुलजन्मरूपं आयुः आरोग्यं वीर्यं विनयः ।
श्रमणं ग्रहणं मतिः धारणा च एतेपि दुर्लभा लोके ॥ ७५६ ॥

अर्थ—किसी तरह मनुष्य जन्म भी मिल गया तौभी आर्य-देश, शुद्ध कुलमें जन्म, सर्वांगपूर्णता, नीरोगता, सामर्थ्य, विनय, आचार्योंका उपदेश, उसका ग्रहण करना, चिंतवन करना, धारणा रखना—ये सब आगे आगेके क्रमसे लोकमें मिलने अतिकठिन हैं॥

लद्धेसुवि एदेसु अ बोधी जिणसासणम्हि ण हु सुलहा।
कुपहाणमाकुलत्ता जं बलिया रागदोसा य ॥ ७५७ ॥

लब्धेष्वपि एतेषु च बोधिः जिनशासने न हि सुलभा।
कुपथानामाकुलत्वात् यत् बलिष्ठौ रागद्वेषौ च ॥ ७५७ ॥

अर्थ—पूर्वकथित मनुष्यजन्म आदिके मिलनेपर भी जिनमतमें कही गई सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिका पाना सुलभ नहीं है अति दुर्लभ है क्योंकि कुमार्गोंकी आकुलतासे यह जगत् आकुल होरहा है। उसमें राग द्वेष ये दोनों बलवान हैं ॥ ७५७ ॥

सेयं भवभयमहणी बोधी गुणवित्थडा मए लद्धा।
जदि पडिदा ण हु सुलहा तह्मा ण खमं पमादो मे७५८

सेयं भवभयमथनी बोधिः गुणविस्तृता मया लब्धा।
यदि पतिता न खलु सुलभा तस्मात् न क्षमः प्रमादो मम७५८

अर्थ—संसारके भयको नाश करनेवाली सब गुणोंकी आधार-भूत सो यह बोधि अब मैंने पाई है जो कदाचित् संसारसमुद्रमें हाथसे छूटगई तो फिर निश्चयकर उसका मिलना सुलभ नहीं है इसलिये मुझे बोधिमें प्रमाद करना ठीक नहीं है ॥ ७५८ ॥

दुल्लहलाहं लद्धूण बोधिं जो णरो पमादेज्जो।
सो पुरिसो कापुरिसो सोयदि कुगदिं गदो संतो७५९

दुर्लभलाभां लब्ध्वा बोधिं यो नरः प्रमाद्येत्।

स पुरुषः कापुरुषः शोचति कुगतिं गतः सन् ॥ ७५९ ॥

अर्थ—जिसका मिलना कठिन है ऐसी बोधिको पाकर जो मनुष्य प्रमाद करता है वह पुरुष निंदनीक पुरुष है और वह नरकादि गतिमें प्राप्त हुआ दुःखी होता है ॥ ७५९ ॥

उवसमखयमिस्सं वा बोधिं लद्धूण भवियपुंडरिओ ।
तवसंजमसंजुत्तो अक्खयसोक्खं तदा लहदि ॥७६०॥

उपशमक्षयमिश्रां वा बोधिं लब्ध्वा भव्यपुंडरीकः ।
तपःसंयमसंयुक्तः अक्षयसौख्यं तदा लभते ॥ ७६० ॥

अर्थ—पांचवीं करण लब्धिके वाद उपशम क्षयोपशम क्षायिक सम्यक्त्वरूप बोधिको यह उत्तम भव्यजीव पाता है फिर उस समय तप संयमकर सहित हुआ कर्मोंका नाशकर अविनाशी सुखको प्राप्त होजाता है ॥ ७६० ॥

तम्हा अहमवि णिच्चं सद्धासंवेगविरियविणएहिं ।
अत्ताणं तह भावे जह सा बोही हवे सुइरं ॥ ७६१ ॥

तस्मात् अहमपि नित्यं श्रद्धासंवेगवीर्यविनयैः ।
आत्मानं तथा भावयामि यथा सा बोधिः भवेत् सुचिरं ७६१

अर्थ—जिसकारण ऐसी बोधि है इसलिये मैं भी सबकाल श्रद्धा धर्मानुराग शक्ति विनय इनकर आत्माको इसतरह भाऊं जिससे कि यह बोधि बहुतकालतक रहे ॥ ७६१ ॥

बोधीय जीवदव्वादियाइ बुज्झइ हु णववि तच्चाइं ।
गुणसयसहस्सकलियं एवं बोहिं सया झाहि ॥७६२॥

बोध्या जीवद्रव्यादीनि बुध्यंते हि नवापि तत्त्वानि ।
गुणशतसहस्रकलितां एवं बोधिं सदा ध्याय ॥ ७६२ ॥

अर्थ—इस बोधिसे जीवादि छह द्रव्य नौ पदार्थ जाने जाते हैं इसलिये लक्षों गुणोंकर युक्त ऐसी बोधिको तुम सब कालमें चिंतवन करो ॥ ७६२ ॥

दस दो य भावणाओ एवं संखेवदो समुद्दिट्ठा ।
जिणवयणे दिट्ठाओ बुधजणवेरग्गजणणीओ ॥७६३॥

दश द्वे च भावना एवं संक्षेपतः समुद्दिष्टा ।
जिनवचने दृष्टा बुधजनवैराग्यजनन्यः ॥ ७६३ ॥

अर्थ—मैंने इसप्रकार संक्षेपसे ये बारह भावना कहीं हैं जो जिनवचनमें ही देखीं गई हैं अन्यजगह नहीं और विवेकी पंडितोंके वैराग्यके उत्पन्न करनेवाली हैं ॥ ७६३ ॥

अणुवेक्खाहिं एवं जो अत्ताणं सदा विभावेदि ।
सो विगदसव्वकम्मो विमलो विमलालयं लहदि ७६४

अनुप्रेक्षाभिः एवं यः आत्मानं सदा विभावयति ।
स विगतसर्वकर्मा विमलो विमलालयं लभते ॥ ७६४ ॥

अर्थ—इसप्रकार अनुप्रेक्षाओंकर जो पुरुष सदाकाल आत्माको भावता है वह पुरुष सबकर्मोंरहित निर्मल हुआ निर्मल मोक्षस्थानको पाता है ॥ ७६४ ॥

झाणेहिं खवियकम्मा मोक्खग्गलमोडया विगयमोहा ।
ते मे तमरयमहणा तारंतु भवाहि लहुमेव ॥ ७६५ ॥

ध्यानैः क्षपितकर्माणः मोक्षार्गलमोटका विगतमोहाः ।
ते मे तमोरजोमथनाः तारयंतु भवात् लघु एव ॥ ७६५ ॥

अर्थ—जिन्होंने ध्यानकर कर्मोंका क्षय किया है जो मोक्षकी

अर्गलके छेदक हैं मोह रहित हैं मिथ्यात्व ज्ञानावरणी दर्शनावरणी-कर्मोंके विनाशक है ऐसे सिद्ध हमें संसारसे शीघ्र ही तारो॥७६५

जह मज्झ तम्मि काले विमला अणुपेहणा भवेजण्हू ।
तह सव्वलोगणाहा विमलगदिगदा पसीदंतु ॥ ७६६ ॥

यथा मम तस्मिन् काले विमला अनुप्रेक्षा भवेयुः ।
तथा सर्वलोकनाथा विमलगतिगताः प्रसीदंतु ॥ ७६६ ॥

अर्थ—जिसतरह अंतसमयमें मेरे बारह अनुप्रेक्षा निर्मल हों उसतरह निर्मलगतिको प्राप्त हुए सबलोकके स्वामी सिद्ध भगवान मुझपर प्रसन्न हों ऐसी प्रार्थना मैं करता हूं ॥ ७६६ ॥

इसप्रकार आचार्यश्रीवट्टकेरिविरचित **मूलाचार**की हिंदी-
भाषाटीकामें बारह अनुप्रेक्षाओंको कहनेवाला
आठवां **द्वादशानुप्रेक्षाधिकार**
समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

अनगारभावनाधिकार ॥ ९ ॥

आगे मंगलाचरणपूर्वक अनगारभावनाको कहते हैं;—

वंदित्तु जिणवराणं तिहुयणजयमंगलोववेदाणं ।
कंचणपियंगुविद्दुमघणकुंदमुणालवण्णाणं ॥ ७६७ ॥
अणयारमहरिसीणं णाइंदणरिंदइंदमहिदाणं ।
वोच्छामि विविहसारं भावणसुत्तं गुणमहत्तं ॥ ७६८ ॥

वंदित्वा जिनवरान् त्रिभुवनजयमंगलोपपेतान् ।

कांचनप्रियंगुविद्रुमघनकुंदमृणालवर्णान् ॥ ७६७ ॥
अनगारमहर्षीणां नागेंद्रनरेंद्रेंद्रमहितानां ।
वक्ष्यामि विविधसारं भावनासूत्रं गुणमहत् ॥ ७६८ ॥

अर्थ—तीनलोकमें जयलक्ष्मी और पुण्य इन दोनोंकर सहित तथा सुवर्ण सरसोंका फूल मूंगा रमणीक मेघकुंद पुष्प कमलनाल इनके समान रंगयुक्त शरीरवाले ऐसे जिनेंद्र देवोंको नमस्कारकर नागेंद्र चक्रवर्ती इंद्र इनकर पूजित ऐसे गृहादि परिग्रहरहित महामुनियोंके गुणोंकर महान् सब शास्त्रोंमें सारभूत ऐसे भावनासूत्रको मैं कहता हूं ॥ ७६७-७६८ ॥

लिंगं वदं च सुद्धी वसदिविहारं च भिक्ख णाणं च ।
उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं ॥ ७६९ ॥
एदमणयारसुत्तं दसविधपद विणयअत्थसंजुत्तं ।
जो पढइ भत्तिजुत्तो तस्स पणस्संति पावाइं ॥ ७७० ॥

लिंगस्य व्रतस्य च शुद्धिः वसतिर्विहारश्च भिक्षा ज्ञानं च ।
उज्झनशुद्धिः च पुनः वाक्यं च तपः तथा ध्यानं ॥ ७६९ ॥
एतानि अनगारसूत्राणि दशविधपदानि विनयार्थसंयुक्तानि ।
यः पठति भक्तियुक्तः तस्य प्रणश्यंति पापानि ॥ ७७० ॥

अर्थ—लिंगकी शुद्धि, व्रतशुद्धि, वसतिशुद्धि, विहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि, वाक्यशुद्धि, तपशुद्धि और ध्यानशुद्धि । ये दसपदवाले विनय अर्थकर सहित अनगारसूत्र हैं; इनको जो भक्ति सहित पढता है उसके पाप नष्ट होजाते हैं ॥ ७६९-७७० ॥

णिस्सेसदेसिदमिणं सुत्तं धीरजणबहुमदमुदारं ।

अणगारभावणमिणं सुसमणपरिकित्तणं सुणह॥७७१

निश्शेषदेशकानि इमानि सूत्राणि धीरजनबहुमतानि उदाराणि
अनगारभावनानीमानि सुश्रमणपरिकीर्तनानि शृणुत॥७७१

अर्थ—ये सूत्र सुआचारसिद्धांतके कहनेवाले हैं, गणधरादिकोंके बहुत मान्य हैं, स्वर्गादिफलके देनेवाले हैं उत्तममुनियोंकी कीर्तिके करनेवाले हैं ऐसे इन अनगारभावनासूत्रोंको भो साधुजनो! तुम सुनो ॥ ७७१ ॥

णिग्गंथमहरिसीणं अणयारचरित्तजुत्तिगुत्ताणं ।
णिच्छिदमहातवाणं वोच्छामि गुणे गुणधराणं॥७७२॥

निर्ग्रंथमहर्षीणां अनगारचरित्रयुक्तिगुप्तानाम् ।
निश्चितमहातपसां वक्ष्यामि गुणान् गुणधराणाम् ॥७७२॥

अर्थ—अनगारोंके चारित्रयोगकर वेष्टित, जिनका तप महान् निश्चल, गुणोंके धारक ऐसे सब परिग्रह रहित महामुनियोंके गुणोंको मैं कहूंगा ॥ ७७२ ॥

अब लिंगशुद्धिको कहते हैं;—

चलचवलजीविदमिणं णाऊण माणुसत्तणमसारं ।
णिव्विण्णकामभोगा धम्मम्मि उवट्ठिदमदीया॥७७३॥
णिम्मालियसुमिणाविय धणकणयसमिद्धबंधवजणं च।
पयहंति वीरपुरिसा विरत्तकामा गिहावासे ॥ ७७४ ॥

चलचपलजीवितमिदं ज्ञात्वा मनुष्यत्वमसारं ।
निर्विण्णकामभोगा धर्मे उपस्थितमतयः ॥ ७७३ ॥
निर्माल्यसुमनस इव धनकनकसमृद्धबांधवजनं च ।
प्रजहंति वीरपुरुषाः विरक्तकामा गृहवासे ॥ ७७४ ॥

अर्थ—अस्थिर नाशसहित इस जीवनको और परमार्थरहित इस मनुष्यजन्मको जानकर स्त्री आदि उपभोग तथा भोजन आदि भोगोंसे अभिलाषारहित हुए, निर्ग्रंथादिस्वरूप चारित्रमें दृढ बुद्धिवाले, घरके रहनेसे विरक्त चित्तवाले ऐसे वीरपुरुष भोगमें आये फूलोंकी तरह गाय घोड़ा आदि धन सोना इनकर परिपूर्ण ऐसे बांधव जनोंको छोड़ देते हैं ॥ ७७३।७७४ ॥

जम्मणमरणुव्विग्गा भीदा संसारवासमसुभस्स ।
रोचंति जिणवरमदं पवयणं वड्ढमाणस्स ॥ ७७५ ॥

जन्ममरणोद्विग्ना भीताः संसारवासे अशुभात् ।
रोचंते जिनवरमतं प्रवचनं वर्धमानस्य ॥ ७७५ ॥

अर्थ—जन्म और मरणसे कंपित तथा संसार वासमें दुःखसे भयभीत मुनि वृषभादि जिनवरके मतकी वर्धमान स्वामीके द्वादशांग चतुर्दश पूर्वस्वरूप प्रवचनकी श्रद्धा करते हैं ॥ ७७५ ॥

पवरवरधम्मतित्थं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
तिविहेण सद्दहंति य णत्थि इदो उत्तरं अण्णं॥७७६॥

प्रवरवरधर्मतीर्थं जिनवरवृषभस्य वर्धमानस्य ।
त्रिविधेन श्रद्दधति च नास्ति इत उत्तरमन्यत् ॥ ७७६ ॥

अर्थ—वृषभदेव व महावीर स्वामी इन सब तीर्थंकरोंके अति श्रेष्ठ धर्मरूपी तीर्थको मनवचनकायकी शुद्धतासे श्रद्धान करते हैं। क्योंकि इसतीर्थसे अधिक अन्यतीर्थ कोई नहीं है ॥ ७७६ ॥

उच्छाहणिच्छिदमदी ववसिदववसायबद्धकच्छा य ।
भावाणुरायरत्ता जिणपण्णत्तम्मि धम्मम्मि ॥ ७७७ ॥

उत्साहनिश्चितमतयो व्यवसितव्यवसायबद्धकक्षाश्च ।

भावानुरागरक्ता जिनप्रज्ञप्ते धर्मे ॥ ७७७ ॥

अर्थ—तपमें तल्लीनहोनेमें जिनकी बुद्धि निश्चित है जिन्होंने पुरुषार्थ किया है कर्मके निर्मूल (नाश) करनेमें जिनोंने कमर कसी है और जिनदेव कथित धर्ममें परमार्थभूत भक्ति उसके प्रेमी हैं ऐसे मुनियोंके लिंगशुद्धि होती है ॥ ७७७ ॥

धम्ममणुत्तरमिमं कम्ममलपडलपाडयं जिणक्खादं ।
संवेगजायसद्धा गिण्हंति महव्वदा पंच ॥ ७७८ ॥

धर्ममनुत्तरमिमं कर्ममलपटलपाटकं जिनाख्यातं ।
संवेगजातश्रद्धा गृह्णंति महाव्रतानि पंच ॥ ७७८ ॥

अर्थ—यह अद्वितीय जिनदेव कथित धर्म ही कर्ममल समूहके विनाश करनेमें समर्थ है जो धर्म धर्म फलमें हर्ष होनेसे उत्पन्न श्रद्धा सहित हैं वे ही सत्पुरुष इस धर्मको ग्रहण करते हैं तथा पांच महाव्रतोंको पालते हैं ॥ ७७८ ॥

सच्चवयणं अहिंसा अदत्तपरिवज्जणं च रोचंति ।
तह बंभचेरगुत्तिं परिग्गहादो विमुत्तिं च ॥ ७७९ ॥

सत्यवचनं अहिंसा अदत्तपरिवर्जनं च रोचंते ।
तथा ब्रह्मचर्यगुप्तिं परिग्रहात् विमुक्तिं च ॥ ७७९ ॥

अर्थ—सत्यवचन अहिंसा अचौर्य ब्रह्मचर्यका पालन और परिग्रहत्याग इन पांच महाव्रतोंको अच्छी तरह चाहते हैं ॥७७९॥

पाणिवह मुसावादं अदत्त मेहुण परिग्गहं चेव ।
तिविहेण पडिकंते जावज्जीवं दिढधिदीया ॥ ७८० ॥

प्राणिवधं मृषावादं अदत्तं मैथुनं परिग्रहं चैव ।
त्रिविधेन प्रतिक्रामंति यावज्जीवं दृढधृतयः ॥ ७८० ॥

अर्थ—स्थिर बुद्धिवाले साधु हिंसा झूठबोलना चोरी मैथुन-सेवा परिग्रह इन पांच पापोंको मनवचनकायसे जीवनपर्यंत त्यागते हैं ॥ ७८० ॥

आगे व्रतशुद्धिको कहते हैं;—

ते सव्वसंगमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा ।
वोसट्टचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति ॥ ७८१ ॥

ते सर्वसंगमुक्ता अममा अपरिग्रहा यथाजाताः ।
व्युत्सृष्टत्यक्तदेहा जिनवरधर्मं समं नयंति ॥ ७८१ ॥

अर्थ—वे मुनि सब अंतरंग परिग्रहरहित हुए, स्नेहरहित, क्षेत्रादि बाह्य परिग्रहरहित, नग्नमुद्राको प्राप्त तैल स्नानादि देहसंस्कारसे रहित हुए जिनधर्म जो चारित्र उसको परलोकमें भी साथ लेजाते हैं ॥ ७८१ ॥

सव्वारंभणियत्ता जुत्ता जिणदेसिदम्मि धम्मम्मि ।
ण य इच्छंति ममत्तिं परिग्गहे बालमित्तम्मि ॥७८२॥

सर्वारंभनिवृत्ता युक्ता जिनदेशिते धर्मे ।
न च इच्छंति ममत्वं परिग्रहे बालमात्रे ॥ ७८२ ॥

अर्थ—जिसकारण वे मुनीश्वर असिमषी आदि सब व्यापारोंसे निवृत्त और जिनेंद्रकर उपदेशित धर्ममें उद्यत हुए बालमात्र परिग्रहमें भी ममता नहीं रखते हैं ॥ ७८२ ॥

अपरिग्गहा अणिच्छा संतुट्ठा सुट्ठिदा चरित्तम्मि ।
अवि णीएवि सरीरे ण करंति मुणी ममत्तिं ते ॥७८३॥

अपरिग्रहा अनिच्छाः संतुष्टाः सुस्थिताः चरित्रे ।
अपि निजेपि शरीरे न कुर्वंति मुनयः ममत्वं ते ॥ ७८३॥

अर्थ—आश्रयरहित आशारहित संतोषी चारित्रमें तत्पर ऐसे मुनि अपने शरीरमें भी ममत्व नहीं करते ॥ ७८३ ॥

ते णिम्ममा सरीरे जत्थत्थमिदा वसंति अणिएदा।
सवणा अप्पडिबद्धा विज्जू जह दिट्ठणट्ठा वा ॥ ७८४॥

ते निर्ममाः शरीरे यत्र अस्तमिता वसंति अनिकेताः।
श्रमणा अप्रतिबद्धा विद्युद्यथा दृष्टनष्टा वा ॥ ७८४ ॥

अर्थ—वे साधु शरीरमें निर्मम हुए जहां सूर्य अस्त होजाता है वहां ही ठहर जाते हैं कुछ भी अपेक्षा नहीं करते। और वे किसीसे बंधे हुए नहीं स्वतंत्र हैं विजलीके समान दृष्टनष्ट हैं इसलिये अपरिग्रह हैं ॥ ७८४ ॥

गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासीय ॥ ७८५ ॥

ग्रामे एकरात्रिवासिनः नगरे पंचाहर्वासिनो धीराः।
श्रमणाः प्रासुकविहारिणो विविक्तैकांतवासिनः ॥ ७८५ ॥

अर्थ—गाममें एक रात रहते हैं नगरमें पांच दिन तक रहते हैं। वे साधु धैर्यसहित हैं प्रासुकविहारी हैं स्त्री आदिरहित एकांत जगहमें रहते हैं ॥ ७८५ ॥

एगंतं मग्गंता सुसमणा वरगंधहत्थिणो धीरा।
सुक्कज्झाणरदीया मुत्तिसुहं उत्तमं पत्ता ॥ ७८६ ॥

एकांतं मृगयमाणाः सुश्रमणा वरगंधहस्तिनः धीराः।
शुक्लध्यानरतयः मुक्तिसुखमुत्तमं प्राप्ताः ॥ ७८६ ॥

अर्थ—एकांत स्थानको देखते हुए श्रेष्ठगंधहस्तीकी तरह धीर वीर उत्तम साधुजन शुक्लध्यानमें लीन हुए उत्तम मोक्षसुखको पाते हैं ॥ ७८६ ॥

एयाइणो अविहला वसंति गिरिकंदरेसु सप्पुरिसा।
धीरा अदीणमणसा रममाणा वीरवयणम्मि ॥ ७८७॥

एकाकिनः अविह्वला वसंति गिरिकंदरेषु सत्पुरुषाः।
धीरा अदीनमनसो रममाणा वीरवचने ॥ ७८७ ॥

अर्थ—सहायतारहित उत्साहसहित धीर वीर दीनवृत्तिरहित महावीरस्वामीके वचनोंमें रमते हुए ऐसे श्रेष्ठ मुनि पहाड़की गुफाओंमें रहते हैं ॥ ७८७ ॥

वसधिसु अप्पडिबद्धा ण ते ममत्तिं करेंति वसधीसु।
सुण्णागारमसाणे वसंति ते वीरवसदीसु ॥ ७८८ ॥

वसतिषु अप्रतिबद्धा न ते ममत्वं कुर्वंति वसतिषु।
शून्यागारस्मशानेषु वसंति ते वीरवसतिषु ॥ ७८८ ॥

अर्थ—वसतिकाओं ममतारहित अभिप्रायवाले वे साधु वसतिकाओंमें ममता नहीं करते और वीरपुरुषोंके रहनेके स्थान ऐसे शून्यस्थान स्मशानभूमि आदि स्थान उनमें रहते हैं ॥ ७८८ ॥

पब्भारकंदरेसु अ कापुरिसभयंकरेसु सप्पुरिसा।
वसधी अभिरोचंति य सावदबहुघोरगंभीरा॥ ७८९॥

प्राग्भारकंदरेषु च कापुरुषभयंकरेषु सत्पुरुषाः।
वसतिमभिरोचंते श्वापदबहुघोरगंभीराः ॥ ७८९ ॥

अर्थ—पर्वतोंके निकुंजोंमें व जलकर विदारे पर्वतोंके दराड़ोंमें जोकि सत्त्वहीन पुरुषोंको भयके उपजानेवाले हैं ऐसे स्थानोंमें सिंह व्याघ्र आदिकर अतिगहन भयानकस्थानोंमें गंभीर स्वभावको धारनेवाले श्रेष्ठ मुनि रहनेकी रुचि करते हैं ॥ ७८९ ॥

एयंतम्मि वसंता वयवग्घतरच्छअच्छभल्लाणं।

आगुंजियमारसियं सुणंति सद्दं गिरिगुहासु ॥ ७९० ॥

एकांते वसंतो वृकव्याघ्रतरक्षुअक्षभल्लानां ।
आगुंजितमारसितं शृण्वंति शब्दं गिरिगुहासु ॥ ७९० ॥

अर्थ—एकांतमें पर्वतोंकी गुफाओंमें वसते साधु भेडिया बाघ चीता रीछ इनके आगुंजित आरसित शब्द सुनते हैं । तौभी सत्त्वसे चलायमान नहीं होते ॥ ७९० ॥

रत्तिंचरसउणाणं णाणा रुत्तसिद्भीदसद्दालं ।
उण्णावेंति वणंतं जत्थ वसंतो समणसीहा ॥ ७९१ ॥

रात्रिंचरशकुनानां नाना रुत्तसितभीतशब्दालं ।
उन्नादयंति [illegible]तं यत्र वसंति श्रमणसिंहाः ॥ ७९१ ॥

अर्थ—रातिमें विचरनेवाले घू घू आदि पक्षियोंके नानाप्रकारके रोनेसहित भयंकर शब्द जिस वनके मध्यमें गर्जना करते हैं उसी वनमें मुनिराज रहते हैं ॥ ७९१ ॥

सीहा इव णरसीहा पव्वयतडकडयकंदरगुहासु ।
जिणवयणमणुमणंता अणुविग्गमणा परिवसंति॥७९२

सिंहा इव नरसिंहाः पर्वततटकटककंदरगुहासु ।
जिनवचनमनुमन्यंतो अनुद्विग्नमनसः परिवसंति ॥ ७९२ ॥

अर्थ—सिंहके समान मनुष्योंमें प्रधान ऐसे मुनिराज जिनागमका निश्चय श्रद्धान करते उद्वेगरहित स्थिर चित्तवाले हुए पर्वतके अधोभाग ऊपरभाग पार्श्वभाग अथवा गुफामें रहते हैं७९२

सावदसयाणुचरिये पडिभयभीमंधयारगंभीरे ।
धम्माणुरायरत्ता वसंति रत्तिं गिरिगुहासु ॥ ७९३ ॥

श्वापदशतानुचरिते परिभयभीमे अंधकारगंभीरे ।

धर्मानुरागरक्ता वसंति रात्रौ गिरिगुहासु ॥ ७९३ ॥

अर्थ—बाघ आदि क्रूर जीवोंकर सेवित चारों तरफ भयानक अति अंधकारकर गहन ऐसे वनके पर्वतोंकी गुफाओंमें चारित्रके आचरणमें तत्पर मुनिराज रातमें निवास करते हैं ॥ ७९३ ॥

सज्झायझाणजुत्ता रत्तिं ण सुवंति ते पयामं तु ।
सुत्तत्थं चिंतंता णिद्दाय वसं ण गच्छंति ॥ ७९४ ॥

स्वाध्यायध्यानयुक्ता रात्रौ न स्वपंति ते प्रकामं तु ।
सूत्रार्थं चिंतयंतः निद्राया वशं न गच्छंति ॥ ७९४ ॥

अर्थ—श्रुतकी भावना ध्यान इनमें लीन हुए और सूत्र अर्थको चिंतवन करते हुए मुनिराज निद्राके आधीन नहीं होते । यदि सोते भी हैं तो पहला पिछला पहर छोड़कर कुछ निद्रा लेलेते हैं ॥ ७९४ ॥

पलियंकणिसेज्जगदा वीरासणएयपाससायीया ।
ठाणुक्कडेहिं मुणिणो खवंति रत्तिं गिरिगुहासु ॥७९५॥

पर्यंकनिषद्यागता वीरासनैकपार्श्वशायिनः ।
स्थानोत्कटैः मुनयः क्षपयंति रात्रिं गिरिगुहासु ॥ ७९५ ॥

अर्थ—पद्मासन सामान्य आसनकर बैठे वीरासनकर स्थित तथा एक पसवाडेसे सोते कायोत्सर्ग उकुरु आदि आसनोंसे बैठे मुनिराज पर्वतकी गुफाओंमें रातको विताते हैं ॥ ७९५ ॥

उवधिभरविप्पमुक्का वोसट्टंगा णिरंवरा धीरा ।
णिक्किंचण परिसुद्धा साधू सिद्धिंवि मग्गंति ॥ ७९६ ॥

उपधिभरविप्रमुक्ता व्युत्सृष्टांगा निरंवरा धीराः ।
निष्किंचनाः परिशुद्धा साधवः सिद्धिं अपि मृगयंते॥७९६

अर्थ—अयोग्य उपकरणोंकर रहित शरीरसे ममत्व छोड़नेवाले नम्र धीर निर्लोभी मनवचनकायसे शुद्ध ऐसे साधु कर्मके क्षय होनेकी इच्छा करते हैं ॥ ७९६ ॥

मुत्ता णिरावयेक्खा सच्छंदविहारिणो जधा वादो।
हिंडंति णिरुव्विग्गा णयरायरमंडियं वसुधं ॥ ७९७॥

मुक्ता निरपेक्षाः स्वच्छंदविहारिणः यथा वातः।
हिंडंति निरुद्विग्ना नगराकरमंडितां वसुधां ॥ ७९७ ॥

अर्थ—सब परिग्रह रहित वायुकी तरह स्वाधीन विचरनेवाले उद्वेगरहित हुए मुनि नगर और खानिकर मंडित पृथिवीपर विहार करते हैं ॥ ७९७ ॥

वसुधम्मिवि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ॥ ७९८ ॥

वसुधायामपि विहरंतः पीडां न कुर्वंति कस्यचित् कदाचित्।
जीवेषु दयापन्ना माता यथा पुत्रभांडेषु ॥ ७९८ ॥

अर्थ—सब जीवोंमें दयाको प्राप्त सब साधु पृथिवीपर विहार करते हुए भी किसी जीवको कभी भी पीड़ा नहीं करते जैसे माता पुत्रके ऊपर हित ही करती है उसीतरह सबका हित ही चाहते हैं ॥ ७९८ ॥

जीवाजीवविहत्तिं णाणुज्जोएण सुट्ठु णाऊण।
तो परिहरंति धीरा सावज्जं जेत्तियं किंचि ॥ ७९९ ॥

जीवाजीवविभक्तिं ज्ञानोद्योतेन सुष्ठु ज्ञात्वा।
ततः परिहरंति धीराः सावद्यं यावत् किंचित् ॥ ७९९ ॥

अर्थ—पर्याय सहित जीव अजीवके भेदोंको ज्ञानके प्रकाशसे

अच्छीतरह जानकर उसके बाद जितना कुछ दोष समूह है सबको त्याग देते हैं ॥ ७९९ ॥

सावज्जकरणजोग्गं सव्वं तिविहेण तियरणविसुद्धं ।
वज्जंति वज्जभीरू जावज्जीवाय णिग्गंथा ॥ ८०० ॥

सावद्यकरणयोग्यं सर्वं त्रिविधेन त्रिकरणविशुद्धं ।
वर्जयंति अवद्यभीरवः यावज्जीवं निर्ग्रंथाः ॥ ८०० ॥

अर्थ—दोषोंसे डरनेवाले मुनिराज मनवचनकायसे शुद्ध कृत कारित अनुमोदनासे समस्त सदोष जो इंद्रिय परिणाम वा क्रिया हैं उनको मरणपर्यंत छोड़ देते हैं ॥ ८०० ॥

तणरुक्खहरिच्छेदणतयपत्तपवालकंदमूलाइं ।
फलपुप्फबीयघादं ण करिंति मुणी ण कारिंति॥८०१॥

तृणवृक्षहरिच्छेदनत्वक्पत्रप्रवालकंदमूलानि ।
फलपुष्पबीजघातं न कुर्वंति मुनयो न कारयंति ॥ ८०१ ॥

अर्थ—मुनिराज तृण वृक्ष हरित इनका छेदन वक्कल पत्ता कोंपल कंद मूल इनका छेदन तथा फल पुष्प बीज इनका घात न तो आप करते है और न दूसरेसे कराते हैं ॥ ८०१ ॥

पुढवीय समारंभं जलपवणग्गीतसाणमारंभं ।
ण करेंति ण कारेंति य कारेंतं णाणुमोदंति ॥ ८०२ ॥

पृथिव्याः समारंभं जलपवनाग्नित्रसानामारंभं ।
न कुर्वंति न कारयंति च कुर्वंतं नानुमोदंते ॥ ८०२ ॥

अर्थ—मुनिराज पृथिवीका खोदना आदि समारंभ तथा जल वायु अग्नि त्रसजीव इनका सींचना आदि आरंभ न तो करते हैं न कराते हैं और न करनेवालेकी प्रशंसा करते हैं ॥ ८०२ ॥

णिक्खित्तसत्थदंडा समणा सम सव्वपाणभूदेसु ।
अप्पट्ठं चिंतंता हवंति अव्वावडा साहू ॥ ८०३ ॥

निक्षिप्तशस्त्रदंडाः श्रमणाः समाः सर्वप्राणभूतेषु ।
आत्मार्थं चिंतयंतो भवंति अव्यापृताः साधवः ॥ ८०३ ॥

अर्थ—हिंसाके कारणभूत हथियार डंडा आदि सब जिन्होंने छोड़ दिये हैं, जो सब प्राणियोंमें समान दृष्टिवाले हैं व्यापार-रहित हैं और आत्माके हितको विचारनेवाले ऐसे महामुनि किसीको पीड़ा नहीं उपजाते ॥ ८०३ ॥

उवसंतादीणमणा उवेक्खसीला हवंति मज्झत्था ।
णिहुदा अलोलमसठा अविंभिया कामभोगेसु ८०४

उपशांता अदीनमनसः उपेक्षाशीला भवंति मध्यस्थाः ।
निभृता अलोला अशठा अविस्मिता कामभोगेषु ॥ ८०४ ॥

अर्थ—कषायरहित क्षुधा आदिसे दीनचित्तरहित उपसर्ग सहनेमें समर्थ समदर्शी हाथपांवको संकोचित करनेवाले वांछारहित मायारहित और कामभोगोंमें अनादर करनेवाले ऐसे महामुनि होते हैं ॥ ८०४ ॥

जिणवयणमणुगणेंता संसारमहाभयंपि चिंतंता ।
गब्भवसदीसु भीदा भीदा पुण जम्ममरणेसु ॥८०५॥

जिनवचनमनुगणयंतः संसारमहाभयमपि चिंतयंतः ।
गर्भवसतिषु भीता भीताः पुनः जन्ममरणेषु ॥ ८०५ ॥

अर्थ—जिनवचनोंमें अत्यंत प्रीति रखनेवाले संसारके महाभयको चिंतनेवाले गर्भमें रहनेसे भयभीत और जन्म मरणसे भी भयभीत ऐसे महामुनि होते हैं ॥ ८०५ ॥

घोरे णिरयसरिच्छे कुंभीपाये सुपच्चमाणाणं ।
रुहिरचलाविलपउरे वसिदव्वं गब्भवसदीसु ॥८०६॥

घोरे निरयसदृशे कुंभीपाके सुपच्यमानानां ।
रुधिरचलाविलप्रचुरे वसितव्यं गर्भवसतिषु ॥ ८०६ ॥

अर्थ—भयानक नरकके समान हांडीपाकमें भलेप्रकार पच्यमान हमको लोहीकर चपल ग्लानियुक्त ऐसे गर्भरूपी स्थानमें रहना पड़ता है ॥ ८०६ ॥

दिट्ठपरमट्ठसारा विण्णाणवियक्खणाय बुद्धीए ।
णाणकयदीवियाए अगब्भवसदी विमग्गंति ॥८०७॥

दृष्टपरमार्थसारा विज्ञानविचक्षणया बुद्ध्या ।
ज्ञानकृतदीपिकया अगर्भवसतिं विमार्गंति ॥ ८०७ ॥

अर्थ—जिनोंने संसारका असली स्वरूप देखलिया है ऐसे साधु भेदज्ञानसे कुशल बुद्धिकर श्रुतज्ञानरूपी दीपकर गर्भरहित निवासकी तलाश करते रहते हैं ॥ ८०७ ॥

भावेंति भावणरदा वइरग्गं वीदरागयाणं च ।
णाणेण दंसणेण य चरित्तजोएण विरिएण ॥ ८०८ ॥

भावयंति भावनारता वैराग्यं वीतरागाणां च ।
ज्ञानेन दर्शनेन च चारित्रयोगेन वीर्येण ॥ ८०८ ॥

अर्थ—भावनामें लीन ऐसे साधु वीतरागोंके ज्ञान दर्शन चारित्र ध्यान वीर्य इनकर सहित वैराग्यका चिंतवन करते रहते हैं ॥

देहे णिरावयक्खा अप्पाणं दमरुई दमेमाणा ।
धिदिपग्गहपग्गहिदा छिंदंति भवस्स मूलाई ॥८०९॥

देहे निरपेक्षा आत्मानं दमरुचयः दमयंतः ।

धृतिप्रग्रहप्रग्रहीता छिंदंति भवस्य मूलानि ॥ ८०९ ॥

अर्थ—देहमें ममत्वरहित शमभावमें रुचिवाले आत्माको उपशमभावमें प्राप्त करते हुए धैर्यरूपी बलकर सहित ऐसे महामुनि संसारके मूलको छेदन करते हैं ॥ ८०९ ॥

छट्ठट्ठमभत्तेहिं पारेंति य परघरम्मि भिक्खाए ।
जमणट्ठं भुंजंति य णवि य पयामं रसट्ठाए ॥ ८१० ॥

षष्ठाष्टमभक्तैः पारयंति च परगृहे भिक्षया ।
यावदर्थं भुंजते च नापि च प्रकामं रसार्थाय ॥ ८१० ॥

अर्थ—बेला तेला आदि उपवासोंकर वे मुनि परघरमें भिक्षा-वृत्तिसे चारित्रके साधनार्थ भोजन करते हैं स्वाध्यायमें प्रवृत्ति हो उतनामात्र जीमते हैं सुरसके कारण बहुत भोजन नहीं करते८१०

णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविवज्जियं मलविसुद्धं ।
भुंजंति पाणिपत्ते परेण दत्तं परघरम्मि ॥ ८११ ॥

नवकोटिपरिशुद्धं दशदोषविवर्जितं मलविशुद्धं ।
भुंजते पाणिपात्रेण परेण दत्तं परगृहे ॥ ८११ ॥

अर्थ—मनवचनकाय कृतकारितअनुमोदनाकर शुद्ध शंकित आदि दोष रहित नखरोम आदि चौदह मलोंकर वर्जित परघरमें परकर दिये हुए ऐसे आहारको हाथरूप पात्रपर रखकर वे मुनि खाते हैं ॥ ८११ ॥

उद्देसिय कीदयडं अण्णादं संकिदं अभिहडं च ।
सुत्तप्पडिकुट्ठाणि य पडिसिद्धं तं विवज्जेंति ॥ ८१२॥

औद्देशिकं क्रीततरं अज्ञातं शंकितं अभिघटं च ।
सूत्रप्रतिकूलं च प्रतिसिद्धं तत् विवर्जयंति ॥ ८१२ ॥

अर्थ—औद्देशिक क्रीततर अज्ञात शंकित अन्यस्थानसे आया सूत्रके विरुद्ध और सूत्रसे निषिद्ध ऐसे आहारको वे मुनि त्याग देते हैं ॥ ८१२ ॥

अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिचुच्चमज्झिमकुलेसु ।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति ॥८१३

अज्ञातामनुज्ञातां भिक्षां नीचोच्चमध्यमकुलेषु ।
गृहपंक्तिभिः हिंडंति च मौनेन मुनयः समाददते ॥८१३॥

अर्थ—दरिद्र धनवान् सामान्यघरोंमें घरोंकी पंक्तिसे वे मुनि भ्रमण करते हैं और फिर मौनपूर्वक अज्ञात अनुज्ञात भिक्षाको (आहारको) ग्रहण करते हैं ॥ ८१३ ॥

सीदलमसीदलं वा सुक्कं लुक्खं सुणिद्ध सुद्धं वा ।
लोणिदमलोणिदं वा भुंजंति मुणी अणासादं ॥८१४॥

शीतलमशीतलं वा शुष्कं रूक्षं सुस्निग्धं शुद्धं वा ।
लवणितमलवणितं वा भुंजते मुनयः अनास्वादम् ॥ ८१४॥

अर्थ—शीतल गरम अथवा सूखा रूखा चिकना विकाररहित लोंनसहित अथवा रहित ऐसे भोजनको वे मुनि स्वादरहित जीमते हैं ॥ ८१४ ॥

अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं ।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मंपि चरंति मोक्खट्ठं ॥ ८१५ ॥

अक्षमृक्षणमात्रं भुंजते मुनयः प्राणधारणनिमित्तं ।
प्राणं धर्मनिमित्तं धर्ममपि चरंति मोक्षार्थम् ॥ ८१५ ॥

अर्थ—गाड़ीके धुरा चुपरनेके समान प्राणोंके धारणके निमित्त

वे मुनि आहार लेते हैं प्राणोंको धारण करना धर्मके निमित्त और धर्मको मोक्षको निमित्त पालते हैं ॥ ८१५ ॥

लद्धे ण होंति तुट्ठा णवि य अलद्धेण दुम्मणा होंति ।
दुक्खे सुहेसु मुणिणो मज्झत्थमणाकुला होंति ॥८१६

लब्धे न भवंति तुष्टा नापि च अलब्धेन दुर्मनसो भवंति ।
दुःखे सुखेषु मुनयः मध्यस्था अनाकुला भवंति ॥ ८१६ ॥

अर्थ—मुनिराज आहारके मिलनेपर तो प्रसन्न नहीं होते और न मिलनेपर मलिन चित्त नहीं होते । दुःख होनेपर समभाव तथा सुख होनेपर आकुलतारहित होते हैं ॥ ८१६ ॥

णवि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं णवि य किंचि जायंते।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता ॥८१७

नापि ते अभिष्टुवंति पिंडार्थं नापि च किंचित् याचंते ।
मौनव्रतेन मुनयः चरंति भिक्षां अभाषयंतः ॥ ८१७ ॥

अर्थ—मुनिराज भोजनकेलिये स्तुति नहीं करते और न कुछ मांगते हैं । वे मौनव्रतकर सहित नहीं कुछ कहते हुए भिक्षाके निमित्त विचरते हैं ॥ ८१७ ॥

देहीति दीणकलुसं भासं णेच्छंति एरिसं वत्तुं ।
अवि णीदि अलाभेण ण य मोणं भंजदे धीरा॥८१८॥

देहीति दीनकलुषां भाषां नेच्छंति ईदृशीं वक्तुं ।
अपि निवर्तंते अलाभेन न च मौनं भंजते धीराः ॥८१८॥

अर्थ—तुम हमको ग्रास दो ऐसे करुणारूप मलिन वचन कहनेकी इच्छा नहीं करते । और भिक्षाके न मिलनेपर लौट आते हैं परंतु वे धीर मुनि मौनको नहीं तोड़ते ॥ ८१८ ॥

पयणं व पायणं वा ण करेंति अ णेव ते करावेंति ।
पयणारंभणियत्ता संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण ॥ ८१९ ॥

पचनं वा पाचनं वा न कुर्वंति च नैव ते कारयंति ।
पचनारंभनिवृत्ताः संतुष्टा भिक्षामात्रेण ॥ ८१९ ॥

अर्थ—आप पकाना दूसरेसे पकवाना न तो करते हैं न कराते हैं वे मुनि पकानेके आरंभसे निवृत्त हुए एक भिक्षामात्रसे संतोषको प्राप्त होते हैं ॥ ८१९ ॥

असणं जदि वा पाणं खज्जं भोजं च लिज्ज पेज्जं वा ।
पडिलेहिऊण सुद्धं भुंजंति पाणिपत्तेसु ॥ ८२० ॥

अशनं यदि वा पानं खाद्यं भोज्यं च लेह्यं पेयं वा ।
प्रतिलेख्य शुद्धं भुंजते पाणिपात्रेषु ॥ ८२० ॥

अर्थ—भात आदि दूध आदि लाडू आदि रोटी आदि खाद्य-वस्तु मांड आदि आहारको शुद्ध देख हाथरूपी पात्रमें रखकर जीमते हैं ॥ ८२० ॥

जं होज्ज अव्विवण्णं पासुग पसत्थं तु एसणासुद्धं ।
भुंजंति पाणिपत्ते लद्धूण य गोयरग्गम्मि ॥ ८२१ ॥

यत् भवति अविवर्णं प्रासुकं प्रशस्तं तु एषणाशुद्धं ।
भुंजते पाणिपात्रे लब्ध्वा च गोचराग्रे ॥ ८२१ ॥

अर्थ—जो भोजन कुरूप न हो प्रासुक हो सुंदर हो एषणा समितिसे शुद्ध हो उसको भिक्षाके समय पाकर पाणिपात्रमें खाते हैं ॥ ८२१ ॥

जं होज्ज वेहिअं तेहिअं च वेवण्ण जंतुसंसिट्ठं ।
अप्पासुगं तु णच्चा तं भिक्खं मुणी विवज्जेंति॥८२२॥

यत् भवति द्व्यहं त्र्यहं च विवर्णं जंतुसंश्लिष्टं ।
अप्रासुकं तु ज्ञात्वा तां भिक्षां मुनयः विवर्जयंति ॥८२२॥

अर्थ—जो भोजन दो दिनका किया हो वा तीनदिनका किया हो स्वभावसे चलित होगया हो संमूर्छन जीवोंकर सहित हो उसको अप्रासुक जानकर उस आहारको वे मुनि छोड़ देते हैं ॥ ८२२ ॥

जं पुप्फिद किण्णइदं दट्ठूणं पूव्वपप्पडादीणि ।
वज्जंति वज्जणिज्जं भिक्खू अप्पासुयं जं तु ॥ ८२३ ॥

यत् पुष्पितं क्लिन्नं दृष्ट्वा अपूपपर्पटादीनि ।
वर्जयंति वर्जनीयं भिक्षवः अप्रासुकं यत्तु ॥ ८२३ ॥

अर्थ—जो नीले सफेद आदि रूप हुए दुर्गंधरूप हुए ऐसे पूवा पापड आदिको देखकर अप्रासुक वस्तु त्यागने योग्य है ऐसा समझ वे मुनिराज ऐसे आहारको छोड़ देते हैं ॥ ८२३ ॥

जं सुद्धमसंसत्तं खज्जं भोज्जं च लेज्ज पेज्जं वा ।
गिह्णंति मुणी भिक्खं सुत्तेण अणिंदियं जं तु ॥८२४॥

यत् शुद्धमसंसक्तं खाद्यं भोज्यं च लेह्यं पेयं वा ।
गृह्णंति मुनयः भिक्षां सूत्रेण अनिंदितं यत्तु ॥ ८२४ ॥

अर्थ—जो कुरूप न हो और जंतुओंकर सहित न हो सूत्रसे अनिंदित हो ऐसे खाद्य भोज्य लेह्य पेय चारप्रकारके आहारको वे मुनि ग्रहण करते हैं ॥ ८२४ ॥

फलकंदमूलवीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि ।
णच्चा अणेसणीयं णवि य पडिच्छंति ते धीरा॥८२५॥

फलकंदमूलबीजं अनग्निपक्वं तु आमकं किंचित् ।
ज्ञात्वा अनशनीयं नापि च प्रतीच्छंति ते धीराः ॥ ८२५॥

अर्थ—अग्निकर नहीं पके ऐसे फल कंद मूल बीज तथा अन्य भी जो कच्चा पदार्थ उसको अभक्ष्य जानकर वे धीर वीर मुनि खानेकी इच्छा नहीं करते ॥ ८२५ ॥

जं हवदि अणिव्वीयं णिवट्टिमं फासुयं कयं चेव ।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणी पडिच्छंति ॥८२६॥

यत् भवति अनिर्बीजं निवर्तिमं प्रासुकं कृतं चैव ।
ज्ञात्वा अशनीयं तत् भैक्ष्यं मुनयः प्रतीच्छंति ॥ ८२६ ॥

अर्थ—जो निर्बीज हो और प्रासुक किया गया हो ऐसे आहारको खाने योग्य समझकर मुनिराज उसके लेनेकी इच्छा करते हैं ॥ ८२६ ॥

भोत्तूण गोयरग्गे तहेव मुणिणो पुणोवि पडिकंता ।
परिमिदएयाहारा खमणेण पुणोवि पारेंति ॥ ८२७ ॥

भुक्त्वा गोचराग्रे तथैव मुनयः पुनरपि प्रतिक्रांताः ।
परिमितैकाहाराः क्षमणेन पुनरपि पारयंति ॥ ८२७ ॥

अर्थ—एक वेलामें एकवार है आहार जिनके ऐसे मुनि भिक्षामें प्राप्त आहारको लेकर भी दोषोंके निवारण करनेके लिये प्रतिक्रमण करते हैं। और उपवास करके फिर भोजन करते हैं ॥

आगे ज्ञानशुद्धिको कहते हैं;—

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा ।
णिस्संकिदणिव्विदिगिंछादबलपरक्कमा साधू ॥८२८॥

ते लब्धज्ञानचक्षुषो ज्ञानोद्योतेन दृष्टपरमार्थाः ।
निःशंकानिर्विचिकित्सात्मबलपराक्रमाः साधवः ॥ ८२८ ॥

अर्थ—जिनोंने ज्ञान नेत्र पालिया है ऐसे हैं, ज्ञानरूपी प्रका-

शसे जिनोंने सब लोकका सार जान लिया है, पदार्थोंमें शंकारहित ग्लानिरहित अपने बलके समान जिनके पराक्रम (उत्साह) हैं ऐसे साधु हैं ॥ ८२८ ॥

अणुबद्धतवोकम्मा खवणवसगदा तवेण तणुअंगा।
धीरा गुणगंभीरा अभग्गजोगाय दिढचरित्ता य ८२९
आलीणगंडमंसा पायडभिउडीमुहा अधियदच्छा।
सवणा तवं चरंता उक्किणा धम्मलच्छीए ॥ ८३० ॥
आगमकदविण्णाणा अट्ठंगविदूयबुद्धिसंपण्णा।
अंगाणि दसय दोण्णिय चोद्दस य धरंति पुव्वाइं८३१
धारणगहणसमत्था पदाणुसारीय बीयबुद्धीय।
संभिण्णकुट्ठबुद्धी सुयसागरपारया धीरा॥ ८३२॥
सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपदवियाणया समणा ८३३
अवगदमाणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्णू विणीदा य ॥ ८३४ ॥
उवलद्धपुण्णपावा जिणसासणगहिदमुणिदपज्जाला।
करचरणसंवुडंगा झाणुवजुत्ता मुणी होंति ॥ ८३५ ॥

अनुबद्धतपःकर्माणः क्षमणवशंगताः तपसा तन्वंगाः।
धीरा गुणगंभीरा अभग्नयोगा दृढचरित्राश्च ॥ ८२९ ॥
आलीनगंडमांसाः प्रकटभ्रकुटीमुखा अधिकाक्षाः।
श्रमणाः तपश्चरंत उत्कीर्णा धर्मलक्ष्म्या ॥ ८३० ॥
आगमकृतविज्ञाना अष्टांगविदुषीबुद्धिसंपन्नाः।
अंगानि दश च द्वे चतुर्दश च धारयंति पूर्वाणि ॥८३१॥

धारणग्रहणसमर्थाः पदानुसारिणो बीजबुद्धयः ।
संभिन्नकोष्टबुद्धयः श्रुतसागरपारगा धीराः ॥ ८३२ ॥
श्रुतरत्नपूर्णकरणा हेतुनयविशारदा विपुलबुद्धयः ।
निपुणार्थशास्त्रकुशलाः परमपदविज्ञायकाः श्रमणाः॥८३३॥
अपगतमानस्तंभा अनुत्सृता अगर्विता अचंडाश्च ।
दांता मार्दवयुक्ताः समयविदो विनीताश्च ॥ ८३४ ॥
उपलब्धपुण्यपापा जिनशासनगृहीतज्ञातपर्यायाः ।
करचरणसंवृतांगा ध्यानोपयुक्ता मुनयो भवंति ॥ ८३५ ॥

अर्थ—जिनके तपकी क्रिया निरंतर रहती है, उत्तम क्षमाके धारी, तपसे जिनका अंग क्षीण होगया है धीर गुणोंकर पूर्ण जिनका योग अभग्न है चारित्र दृढ है ऐसे मुनि हैं। जिनके गाल वैठ गये हैं केवल भौंह मुंह दीखता है आखोंके तारेमात्र चमकते हैं ऐसे मुनि ज्ञान तपो भावनारूप धर्मलक्ष्मीकर सहित हुए तपको आचरते हैं। जिनोंने आगमसे ज्ञान प्राप्त किया है, अंग व्यंजनादि आठ निमित्तोंमें चतुर बुद्धिको प्राप्त हैं, बारह अंग चौदह पूर्वोंको धारण करते हैं अर्थात् जानते हैं। अंगोंके अर्थ धारण ग्रहणमें समर्थ हैं, पदानुसारी बीजबुद्धि संभिन्नबुद्धि कोष्ठबुद्धि इन ऋद्धियोंकर सहित हैं श्रुतसमुद्रके पारगामी धीर ऐसे साधु हैं। श्रुतज्ञानरूपी रत्नकर जिनके कान भूषित हैं, हेतु नयोंमें निपुण हैं महान् बुद्धिवाले हैं संपूर्ण व्याकरणशास्त्र तर्क इनमें प्रवीण हैं मुक्तिस्वरूपके जाननेवाले हैं ऐसे साधु हैं। ज्ञानके अभिमानकर रहित जाति आदि आठ मदोंकर रहित कापोतले-श्यारहित क्रोधरहित हैं, इंद्रियोंके जयकर सहित कोमलपरिणाम-

वाले स्वमत परमतके जाननेवाले और विनयसहित हैं। जिनने पुण्य पापका स्वरूप जान लिया है जिनमतमें स्थित सब द्रव्योंका स्वरूप जिनने जानलिया है हाथ पैरकर ही जिनका शरीर ढका हुआ है और ध्यानमें उद्यमी ऐसे मुनि होते हैं॥ ८२९–८३५॥

आगे उज्झनशुद्धिको कहते हैं;—

ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि।
ण करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि॥८३६॥

ते छिन्नस्नेहबंधा निस्नेहा आत्मनः शरीरे।
न कुर्वंति किंचित् साधवः परिसंस्कारं शरीरे॥ ८३६॥

अर्थ—पुत्र स्त्री आदिमें जिनने प्रेमरूपी बंधन काटदिया है और अपने शरीरमें भी ममतारहित ऐसे साधु शरीरमें कुछ भी स्नानादि संस्कार नहीं करते॥ ८३६॥

मुहणयणदंतधोयणमुव्वट्टण पादधोयणं चेव।
संवाहण परिमद्दण सरीरसंठावणं सव्वं॥ ८३७॥
धूवणवमण विरेयण अंजण अब्भंग लेवणं चेव।
णत्थुयवत्थियकम्मं सिरवेज्झं अप्पणो सव्वं॥८३८॥

मुखनयनदंतधावनमुद्वर्तनं पादधावनं चैव।
संवाहनं परिमर्दनं शरीरसंस्थापनं सर्वं॥ ८३७॥
धूपनं वमनं विरेचनं अंजनं अभ्यंगं लेपनं चैव।
नासिकाबस्तिकर्म शिरावेधं आत्मनः सर्वं॥ ८३८॥

अर्थ—मुख नेत्र और दांतोंका धोना शोधना पखालना उवटना करना पैर धोना अंगमर्दन कराना मुट्ठीसे शरीरका ताडन करना काठके यंत्रसे शरीरका पीडना ये सब शरीरके संस्कार हैं।

धूपसे शरीरका संस्कार करना कंठशुद्धिकेलिये वमन करना औषधादिकर दस्त लेना, नेत्रोंमें अंजन लगाना सुगंधतैलमर्दन करना चंदन कस्तूरीका लेप करना सलाई वत्ती आदिसे नासिकाकर्म वस्तिकर्म करना नसोंसे लोहीका निकालना ये सब संस्कार अपने शरीरमें साधुजन नहीं करते ॥ ८३७–८३८ ॥

उप्पण्णम्मि य वाही सिरवेयण कुक्खिवेयणं चेव ।
अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछं ण इच्छंति ८३९

उत्पन्ने च व्याधौ शिरोवेदनायां कुक्षिवेदनायां चैव ।
अध्यासंते सुधृतयः कायचिकित्सां न इच्छंति ॥ ८३९ ॥

अर्थ—ज्वररोगादिक उत्पन्न होनेपर भी तथा मस्तकमें पीड़ा उदरमें पीडाके होनेपर भी चारित्रमें दृढपरिणामवाले वे मुनि पीडाको सहन कर लेते हैं परंतु शरीरका इलाज करनेकी इच्छा नहीं रखते ॥ ८३९ ॥

ण य दुम्मणा ण विहला अणाउला होंति चेय सप्पुरिसा
णिप्पडियम्मसरीरा देंति उरं वाहिरोगाणं ॥ ८४० ॥

न च दुर्मनसः न विकला अनाकुला भवंति चैव सत्पुरुषाः ।
निष्प्रतिकर्मशरीरा ददति उरो व्याधिरोगेभ्यः ॥ ८४० ॥

अर्थ—वे सत्पुरुष रोगादिकके आनेपर मनमें खेदखिन्न नहीं होते, न विचार शून्यहोते हैं, न आकुल होते हैं किंतु शरीरमें प्रतीकार रहित हुए व्याधिरोगोंके लिये हृदय देदेते हैं अर्थात् सबको सहते हैं ॥ ८४० ॥

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं ।
जरमरणवाहिवेयण खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥८४१॥

जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनं अमृतभूतं ।
जरामरणव्याधिवेदनानां क्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ॥८४१॥

अर्थ—इंद्रियोंके विषयसुखोंका झाड़नेवाला, जरा मरण व्याधिकी पीडाका क्षय करनेवाला और सब दुःखोंका क्षय करनेवाला ये अमृतरूप औषध जिनवचन ही है दूसरी कोई औषधि नहीं ॥ ८४१ ॥

जिणवयणणिच्छिदमदी अवि मरणं अब्भुवेंति सप्पुरिसा
ण य इच्छंति अकिरियं जिणवयणवदिक्कमं कादुं८४२

जिनवचननिश्चितमतयः अपि मरणं अभ्युपयंति सत्पुरुषाः ।
न च इच्छंति अक्रियां जिनवचनव्यतिक्रमं कृत्वा ॥८४२॥

अर्थ—जिनकी बुद्धि जिनवचनोंमें निश्चित है ऐसे सत्पुरुष मरणकी तो इच्छा अच्छीतरह करलेते हैं परंतु जिनवचनका उलंघनकर रोगादिके यत्नरूप खोटी क्रिया कभी नहीं करना चाहते ॥ ८४२ ॥

रोगाणं आयदणं वाधिसदसमुच्छिदं सरीरघरं ।
धीरा खणमवि रागं ण करेंति मुणी सरीरम्मि॥८४३॥

रोगाणां आयतनं व्याधिशतसमुत्थितं शरीरगृहं ।
धीराः क्षणमपि रागं न कुर्वंति मुनयः शरीरे ॥ ८४३ ॥

अर्थ—यह शरीर रूपी घर रोगोंका स्थान है वात पित्त कफ आदिसे उत्पन्न व्याधियोंके सैंकडोंकर बनाया गया है इसलिये धीर वीर मुनि ऐसे शरीरमें क्षणभर भी प्रेम नहीं करते ॥ ८४३॥

एवं सरीरमसुइं णिच्चं कलिकलुसभायणमचोक्खं ।

अंतोछाइदढिड्डिस खिब्भिसभरिदं अमेज्झघरं ॥८४४॥

एतत् शरीरमशुचि नित्यं कलिकलुषभाजनमशुभं ।
अंतश्छादितढिड्डिसं किल्बिषभृतं अमेध्यगृहं ॥ ८४४ ॥

अर्थ—यह शरीर सदा अपवित्र है रागद्वेषका पात्र है सुखके लेशकर रहित है कपास समान मांस वसा अंतरंगमें होनेसे चामकर ढका हुआ है वीर्य रुधिर आदि अशुचि वस्तुओंकर भरा है और मलमूत्रका घर है ॥ ८४४ ॥

वसमज्जामंससोणियपुप्फसकालेज्जसिंभसीहाणं ।
सिरजालअट्ठिसंकड चम्मे णद्धं सरीरघरं ॥ ८४५ ॥

वसामज्जामांसशोणितपुप्पसकालेजश्लेष्मसिंहाणं ।
सिराजालास्थिसंकीर्णं चर्मणा नद्धं शरीरगृहं ॥ ८४५ ॥

अर्थ—वसा मज्जा मांस लोही झागसमान पोफस कलेजा (अति काले मांसका टुकड़ा) कफ नाकका मल नसाजाल हाड इनकर भरा हुआ और चामकर मढा हुआ यह शरीरघर है॥८४५

वीभच्छं विछुइयं थूहायसुसाणवच्चमुत्ताणं । ८४६
अंसूयपूयलसियं पयलियलालाउलमचोक्खं ॥ ८४६ ॥

वीभत्सं विशौचं थूत्कारसुसाणवर्चोमूत्रैः ।
अश्रुपूतलसितं प्रगलितलालाकुलं अचौक्ष्यं ॥ ८४६ ॥

अर्थ—यह शरीर डरावना है थूक नासिकामल गू मूत्र इनकर ग्लानिसहित है आंसू राधिकर सहित झरती हुई लारसे ग्लानिरूप है इसलिये अपवित्र है ॥ ८४६ ॥

कायमलमत्थुलिंगं दंतमल विचिक्कणं गलिदसेयं ।
किमिजंतुदोसभरिदं सेंदणियाकद्दमसरिच्छं ॥ ८४७॥

कायमलं मस्तुलिंगं दंतमलं विचिक्यं गलितस्वेदं ।
कृमिजंतुदोषभृतं स्यंदनीयकर्दमसदृशम् ॥ ८४७ ॥

अर्थ—मलमूत्रादि माथेका सफेदद्रव्यरूप मैल दांतका मैल नेत्रमल झरता पसीना इनकर सहित लट आदि त्रसजीवोंकर भरा वातपित्तकफरूप दोषोंसे भरा ऐसा यह शरीर दुर्गंधयुक्त कीचके समान है ॥ ८४७ ॥

अट्ठिं च चम्मं च तहेव मंसं पित्तं च सेंभं तह सोणिदं च।
अमेज्झसंघायमिणं सरीरं पस्संति णिव्वेदगुणाणुपेही॥

अस्थीनि च चर्म च तथैव मांसं पित्तं च श्लेष्मा तथा शोणितं च
अमेध्यसंघातमिदं शरीरं पश्यंति निर्वेदगुणानुप्रेक्षिणः८४८

अर्थ—संसार शरीर भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हुए मुनि इस शरीरको ऐसा देखते हैं कि हड्डी चमड़ा मांस पित्त कफ लोही इत्यादि अपवित्र वस्तुका समूहरूप यह शरीर है ॥ ८४८ ॥

अट्ठिणिछण्णं णालिणिबद्धं कलिमलभरिदं किमि-
उलपुण्णं ।
मंसविलित्तं तयपडिछण्णं सरीरघरं तं सददमचोक्खं॥

अस्थिनिछन्नं नालिनिबद्धं कलिमलभृतं कृमिकुलपूर्णं ।
मांसविलिप्तं त्वक्प्रतिच्छन्नं शरीरगृहं तत् सततमचौख्यं८४९

अर्थ—यह शरीररूपी घर हाडोंकर मढा नसोंकर बंधा अशुचिद्रव्योंकर पूर्ण कृमिके समूहकर भरा मांसकर लिपा चमडेसे ढका हुआ है इसलिये हमेशा अशुचि है ॥ ८४९ ॥

एदारिसे सरीरे दुग्गंधे कुणिवपूदियमचोक्खे ।
सडणपडणे असारे रागं ण करिंति सप्पुरिसा॥८५०॥

एतादृशि शरीरे दुर्गंधे कुणिपपूतिके अचौक्ष्ये ।
सडनपतने असारे रागं न कुर्वंति सत्पुरुषाः ॥ ८५० ॥

अर्थ—दुर्गंधयुक्त अशुचिद्रव्यकर भरा हुआ स्वच्छतारहित सड़ना पड़ना कर सहित साररहित ऐसे शरीरमें साधुजन प्रेम नहीं करते ॥ ८५० ॥

जं वंतं गिहवासे विसयसुहं इंदियत्थपरिभोये ।
तं खु ण कदाइभूदो भुंजंति पुणोवि सप्पुरिसा॥८५१

यत् वांतं गृहवासे विषयसुखं इंद्रियार्थपरिभोगात् ।
तत् खलु न कदाचिद्भूतं भुंजते पुनरपि सत्पुरुषाः ॥८५१॥

अर्थ—गृहवासमें रूपरसगंधस्पर्शशब्दोंके भोगसे उत्पन्न जो विषयसुख एक वार छोड़ दिया फिर कभी भी किसी कारणसे भी उसे उत्तमपुरुष नहीं भोगते ॥ ८५१ ॥

पुव्वरदिकेलिदाइं जा इड्ढी भोगभोयणविहिं च ।
णवि ते कहंति कस्सचि णवि ते मणसा विचिंतंति८५२

पूर्वरतिक्रीडितानि या ऋद्धिः भोगभोजनविधिश्च ।
नापि ते कथयंति कस्यचित् नापि ते मनसा विचिंतयंति८५२

अर्थ—पूर्वकालमें स्त्री वस्त्र आदि वारंवार भोगे और सुवर्ण चांदी आदि विभूति पुष्प गंध चंदन आदि भोग तथा घेवर फैनी आदि चतुर्विध आहार इनको भी अच्छी तरह भोगा उसे मुनि न तो किसीसे कहते हैं और न मनसे ही चिंतवन करते हैं ॥

अब वचनशुद्धिको कहते हैं;—

भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जये वयणं ।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा णवि ते भासंति सप्पुरिसा८५३

भाषां विनयविहीनां धर्मविरोधि विवर्जयंति वचनं ।
पृष्टमपृष्टं वा नापि ते भाषंते सत्पुरुषाः ॥ ८५३ ॥

अर्थ—सत्पुरुष वे मुनि विनयरहित कठोर भाषाको तथा धर्मसे विरुद्ध वचनोंको छोड़ देते हैं। और अन्य भी विरोध करनेवाले वचनोंको कभी नहीं बोलते ॥ ८५३ ॥

अच्छीहिंअ पेच्छंता कण्णेहिं य बहुविहाय सुणमाणा ।
अत्थंति मूयभूया ण ते करंति हु लोइयकहाओ ॥८५४

अक्षिभिः पश्यंतः कर्णैः च बहुविधानि शृण्वंतः ।
तिष्ठंति मूकभूता न ते कुर्वंति हि लौकिककथाः ॥ ८५४ ॥

अर्थ—वे साधु नेत्रोंसे सब योग्य अयोग्यको देखते हैं और कानोंसे सब तरहके शब्दोंको सुनते हैं परंतु वे गूंगेके समान तिष्ठते हैं लौकिकीकथा नहीं करते ॥ ८५४ ॥

इत्थिकहा अत्थकहा भत्तकहा खेडकव्वडाणं च ।
रायकहा चोरकहा जणवदणयरायरकहाओ ॥ ८५५ ॥

स्त्रीकथा अर्थकथा भक्तकथा खेटकर्वटयोश्च ।
राजकथा चोरकथा जनपदनगराकरकथाः ॥ ८५५ ॥

अर्थ—स्त्री संबंधी कथा धनकथा भोजनकथा नदीपर्वतसे घिराहुआ स्थान उसकी कथा पर्वतसे ही घिरा हुआ स्थान उसकी कथा राजकथा चोरकथा देश नगर कथा खानि संबंधी कथा ८५५

णडभडमल्लकहाओ मायाकरजल्लमुट्ठियाणं च ।
अज्जउललंघियाणं कहासु ण विरज्जए धीरा ॥ ८५६ ॥

नटभटमल्लकथाः मायाकरजल्लमुष्टिकयोश्च ।
आर्याकुललंघिकानां कथासु नापि रज्यंते धीराः ॥ ८५६ ॥

अर्थ—नटकथा भटकथा मल्लकथा, कपटके भेषसे जीनेवाले व्याध और ज्वारी इनकी कथा, हिंसामें रत रहनेवालोंकी कथा, वांसपर चढनेवाले नटोंकी कथा–ये सब लौकिकी कथा (विकथा) हैं इनमें वैरागी मुनिराज रागभाव नहीं करते ॥ ८५६ ॥

विकहाविसोत्तियाणं खणमवि हिदएण ते ण चिंतंति।
धम्मे लद्धमदीया विकहा तिविहेण वज्जंति ॥ ८५७ ॥

विकथाविश्रुतीन् क्षणमपि हृदयेन ते न चिंतयंति ।
धर्मे लब्धमतयः विकथाः त्रिविधेन वर्जयंति ॥ ८५७ ॥

अर्थ—स्त्रीकथा आदि विकथा और मिथ्याशास्त्र इनको वे मुनि मनसे भी चिंतवन नहीं करते । धर्ममें प्राप्त बुद्धिवाले मुनि विकथाको मनवचनकायसे छोड़ देते हैं ॥ ८५७ ॥

कुक्कुय कंदप्पाइय हास उल्लावणं च खेडं च ।
मदद्प्पहत्थवट्टिं ण करेंति मुणी ण कारेंति ॥ ८५८ ॥

कौत्कुच्यं कंदर्पायितं हास्यं उल्लापनं च खेडं च ।
मददर्पहस्तताडनं न कुर्वंति मुनयः न कारयंति ॥ ८५८ ॥

अर्थ—हृदय कंठसे अप्रगट शब्दका करना, कामके उपजाने-वाले हास्यमिले वचन, हास्यवचन, अनेकचतुराई सहित मीठे वचन, परको ठगनेरूप वचन, मदके गर्वसे हाथका ताड़ना–इनको मुनिराज न तो करते हैं और न दूसरेसे कराते हैं॥८५८॥

ते होंति णिव्वियारा थिमिदमदी पदिट्ठिदा जहा उदधी।
णियमेसु दढव्वदिणो पारत्तविमग्गया समणा॥८५९॥

ते भवंति निर्विकाराः स्तिमितमतयः प्रतिष्ठिताःयथा उदधिः।
नियमेषु दृढव्रतिनः पारत्र्यविमार्गकाः श्रमणाः ॥ ८५९ ॥

अर्थ—वे मुनि निर्विकार उद्धतचेष्टारहित विचारवाले समुद्रके समान निश्चल गंभीर छह आवश्यकादि नियमोंमें दृढ प्रतिज्ञावाले और परलोककेलिये उद्यमवाले होते हैं॥ ८५९ ॥

जिणवयणभासिदत्थं पत्थं च हिदं च धम्मसंजुत्तं ।
समओवयारजुत्तं पारत्तहिदं कधं करेंति ॥ ८६० ॥

जिनवचनभाषितार्थां पथ्यां च हितां च धर्मसंयुक्तां ।
समयोपचारयुक्तां पारत्र्यहितां कथां कुर्वंति ॥ ८६० ॥

अर्थ—वीतरागके आगमकर कथित अर्थवाली पथ्यकारी धर्मकर सहित आगमके विनयकर सहित परलोकमें हित करनेवाली ऐसी कथाको करते हैं ॥ ८६० ॥

सत्ताधिया सप्पुरिसा मग्गं मण्णंति वीदरागाणं ।
अणयारभावणाए भावेंति य णिच्चमप्पाणं ॥ ८६१ ॥

सत्त्वाधिकाः सत्पुरुषा मार्गं मन्यंते वीतरागाणां ।
अनगारभावनया भावयंति च नित्यमात्मानम् ॥ ८६१ ॥

अर्थ—उपसर्ग सहनेसे अकंप परिणामवाले ऐसे साधुजन वीतरागोंके सम्यग्दर्शनादिरूप मार्गको मानते हैं और अनगार भावनासे सदा आत्माका ही चिंतवन करते हैं ॥ ८६१ ॥

आगे तपशुद्धिको कहते हैं;—

णिच्चं च अप्पमत्ता संजमसमिदीसु झाणजोगेसु ।
तवचरणकरणजुत्ता हवंति सवणा समिदपावा ॥८६२

नित्यं च अप्रमत्ता संयमसमितिषु ध्यानयोगेषु ।
तपश्चरणकरणयुक्ता भवंति श्रमणाः समितपापाः ॥८६२॥

अर्थ—वे मुनीश्वर सदा संयम समिति ध्यान और योगोंमें

प्रमाद रहित होते हैं तप चारित्र और तेरह प्रकार करणोंमें उद्यमी हुए पापोंके नाश करनेवाले होते हैं ॥ ८६२ ॥

हेमंते धिदिमंना सहंति ते हिमरयं परमघोरं ।
अंगेसु णिवडमाणं णलिणिवणविणासयं सीयं॥८६३॥

हेमंते धृतिमंतः सहंते ते हिमरजः परमघोरं ।
अंगेषु निपतत् नलिनीवनविनाशकं शीतं ॥ ८६३ ॥

अर्थ—धीर्ययुक्त हुए वे मुनि हेमंतऋतुमें अत्यंत दुःसह कमलिनी आदि वनस्पतियोंका नाशक ठंडे ऐसे बर्फको अंगोंके ऊपर पड़ते हुए सहन करते हैं दुःख नहीं मानते ॥ ८६३ ॥

जल्लेण मइलिदंगा गिह्मे उण्णादवेण दड्ढंगा ।
चट्ठंति णिसिट्ठंगा सूरस्स य अहिमुहा सूरा ॥ ८६४ ॥

जल्लेन मलिनांगा ग्रीष्मे उष्णातपेन दग्धांगाः ।
तिष्ठंति निसृष्टांगा सूर्यस्य च अभिमुखाः शूराः ॥ ८६४ ॥

अर्थ—शरीरमलसे मैला जिनका अंग है गरमीकी ऋतुमें गरम धूप करके जिनका सब शरीर अधजला होगया है ऐसे शूर वीर महामुनि निश्चल अंग हुए सूर्यके सामने आसनसे तिष्ठते हैं दुःख नहीं मानते ॥ ८६४ ॥

धारंधयारगुविलं सहंति ते वादवाद्दलं चंडं ।
रत्तिंदियं गलंतं सप्पुरिसा रुक्खमूलेसु ॥ ८६५ ॥

धारांधकारगहनं सहंते ते वातवार्दलं चंडं ।
रात्रिंदिवं गलंतं सत्पुरुषा वृक्षमूलेषु ॥ ८६५ ॥

अर्थ—वर्षाऋतुमें जलधाराके अंधकारकर गहन रातदिन

मूसलधार बरसता प्रचंड ऐसे वायुसहित मेहको वृक्षके मूलमें बैठकर साधुजन सहते हैं ॥ ८६५ ॥

वादं सीदं उण्हं तण्हं च छुधं च दंसमसयं च।
सव्वं सहंति धीरा कम्माण खयं करेमाणा ॥ ८६६ ॥

वातं शीतं उष्णं तृष्णां च क्षुधां च दंशमशकं च ।
सर्वं सहंते धीराः कर्मणां क्षयं कुर्वाणाः ॥ ८६६ ॥

अर्थ—प्रचंड पवन शीत उष्ण प्यास भूख डांसमच्छर आदि परीसहोंको धीरज युक्त हुए कर्मोंके क्षय करनेमें लीन ऐसे वे योगी सहन करते हैं ॥ ८६६ ॥

दुज्जणवयण चडपडं सहंति अछोड सत्थपहरं वा।
ण य कुप्पंति महरिसी खमणगुणवियाणया साहू ८६७

दुर्जनवचनं चटचटत् सहंते अछोडं शस्त्रप्रहारं वा ।
न च कुप्यंति महर्षयः क्षमणगुणव्यकातारः साधवः ८६७

अर्थ—तपे लोहेकी अग्निके समान कठोर दुष्टजनोंके वचनोंको, चुगलीके वचन और लाठी आदिकर ताडन तलवारसे घात इनको क्षमागुणके जाननेवाले साधु सहन करलेते हैं परंतु क्रोध नहीं करते ॥ ८६७ ॥

जइ पंचिंदियदमओ होज्ज जणो रूसिदव्वय णियत्तो।
तो कदरेण कयंतो रूसिज्ज जए मणूयाणं ॥ ८६८ ॥

यदि पंचेंद्रियदमनो भवेत् जनः रोषादिभ्यः निवृत्तः ।
ततः कतरेण कृतांतः रुष्येत् जगति मनुजेभ्यः ॥ ८६८ ॥

अर्थ—जो यह मनुष्य पांच इंद्रियोंके रोकनेमें लीन हो और क्रोधादि कषायोंसे भी रहित हो तो इस जगतमें किस कारणसे

यमराज (काल) मनुष्योंसे गुस्सा करसकता है अर्थात् मृत्यु भी उसको नहीं जीत सकती ॥ ८६८ ॥

जदिवि य करेंति पावं एदे जिणवयणबाहिरा पुरिसा ।
तं सव्वं सहिदव्वं कम्माण खयं करंतेण ॥ ८६९ ॥

यद्यपि च कुर्वंति पापं एते जिनवचनबाह्याः पुरुषाः ।
तत् सर्वं षोढव्यं कर्मणां क्षयं कुर्वता ॥ ८६९ ॥

अर्थ—यद्यपि जिन वचनोंसे अलग हुए जो मिथ्यात्वी पुरुष मारना बांधना आदि पापकर्मोंको करते हैं दुःख देते हैं तौभी जिसको कर्मोंका नाश करना है उस साधुको सब उपसर्ग सह लेने चाहिये ॥ ८६९ ॥

लद्धूण इमं सुदणिहिं ववसायविदिज्जयं तह करेह ।
जह सुग्गइचोराणं ण उवेह वसं कसायाणं ॥ ८७० ॥

लब्ध्वा इमं श्रुतनिधिं व्यवसायद्वितीयं तथा कुरुत ।
यथा सुगतिचौराणां न उपैहि वशं कषायाणां ॥ ८७० ॥

अर्थ—इस द्वादशांग चौदहपूर्व श्रुतरूप खजानेको पाकर दूसरा यत्न ऐसा कर कि जिसतरह मोक्षमार्गके नाशक क्रोधादि कषायोंके वशमें न होसके ॥ ८७० ॥

पंचमहव्वयधारी पंचसु समिदीसु संजदा धीरा ।
पंचिंदियत्थविरदा पंचमगइमग्गया समणा ॥ ८७१ ॥

पंचमहाव्रतधारिणः पंचसु समितिषु संयता धीराः ।
पंचेंद्रियार्थविरताः पंचमगतिमार्गकाः श्रमणाः ॥ ८७१ ॥

अर्थ—जो पांच महाव्रतोंको धारते हैं पांच समितियोंमें लीन हैं धीर वीर हैं पांच इंद्रियोंके रूपादि विषयोंमें विरक्त हैं मोक्षग-

तिको अवलोकन करनेवाले हैं ऐसे मुनिराज तपशुद्धिके करता होते हैं ॥ ८७१ ॥

ते इंदियेसु पंचसु ण कयाइ रायं पुणोवि बंधंति ।
उण्हेण व हारिद्दं णस्सदि रागो सुविहिदाणं ॥ ८७२ ॥

ते इंद्रियेषु पंचसु न कदाचित् रागं पुनरपि बध्नंति ।
उष्णेन इव हारिद्रो नश्यति रागः सुविहितानां ॥ ८७२ ॥

अर्थ—वे मुनि पांचों इंद्रियोंमें कभी फिर राग नहीं करते क्योंकि शोभित आचरण धारियोंके राग नष्ट होजाता है जैसे सूर्यकी घामसे हलदीका रंग नाशको पाता है ॥ ८७२ ॥

अब ध्यानशुद्धिको कहते हैं;—

विसएसु पधावंता चवला चंडा तिदंडगुत्तेहिं ।
इंदियचोरा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहिं ॥८७३॥

विषयेषु प्रधावंतः चपलाश्चंडाः त्रिदंडगुप्तैः ।
इंद्रियचौरा घोरा वशे स्थापिता व्यवसितैः ॥ ८७३ ॥

अर्थ—रूपरसादि विषयोंमें दौड़ते चंचल क्रोधको प्राप्त हुए भयंकर ऐसे इंद्रियरूपी चोर मनवचनकायगुप्तिवाले चारित्रमें उद्यमी साधुजनोंने अपने वशमें करलिये हैं ॥ ८७३ ॥

जह चंडो वणहत्थी उद्दामो णयररायमग्गम्मि ।
तिक्खंकुसेण धरिओ णरेण दढसत्तिजुत्तेण ॥ ८७४॥

यथा चंडो वनहस्ती उद्दामो नगरराजमार्गे ।
तीक्ष्णांकुशेन धृतः नरेण दृढशक्तियुक्तेन ॥ ८७४ ॥

अर्थ—जैसे मदोन्मत्त क्रोधी वनका हाथी सांकल आदि बंध-

नकर छूटा हुआ नगरकी सड़क पर अतिसामर्थ्यवाले मनुष्यकर तीक्ष्ण (पैंने) अंकुशसे वश किया जाता है ॥ ८७४ ॥

तह चंडो मणहत्थी उद्दामो विषयरायमग्गम्मि ।
णाणंकुसेण धरिओ रुद्धो जह मत्तहत्थिव्व ॥ ८७५ ॥

तथा चंडो मनोहस्ती उद्दामो विषयराजमार्गे ।
ज्ञानांकुशेन धृतो रुद्धो यथा मत्तहस्ती इव ॥ ८७५ ॥

अर्थ—उसीतरह नरकादिमें डालनेकेलिये प्रवीण मनरूपी हस्ती संयमादिरूप सांकलरहित हुआ विषयरूपी सड़कपर दौड़ता मतवाले हाथीकी तरह मुनिराजने ज्ञानरूपी अंकुशसे रोका और वश किया है ॥ ८७५ ॥

ण च एदि विणिस्सरिदुं मणहत्थी झाणवारिबंधणीदो ।
बद्धो तह य पयंडो विरायरज्जूहिं धीरेहिं ॥ ८७६ ॥

न च एति विनिस्सर्तुं मनोहस्ती ध्यानवारिबंधनीतः ।
बद्धस्तथा च प्रचंडः विरागरज्जुभिः धीरैः ॥ ८७६ ॥

अर्थ—जैसे मत्त हाथी बारिबंधकर रोका गया निकलनेको समर्थ नहीं होता उसी तरह मनरूपी हाथी ध्यानरूपी बारिबंधको प्राप्त हुआ धीर अतिप्रचंड होनेपर भी मुनियोंकर वैरागरूपी रस्सेकर संयम (बंध) को प्राप्त हुआ निकलनेको समर्थ नहीं होसकता ॥ ८७६ ॥

धिदिधणिदणिच्छिदमती चरित्तपायार गोउरं तुंगं ।
खंती सुकद कवाडं तवणयरं संजमारक्खं ॥ ८७७ ॥

धृतिस्तमितनिश्चितमतिः चरित्रप्राकारं गोपुरं तुंगं ।
क्षांतिः सुकृतं कपाटं तपोनगरं संयमारक्षम् ॥ ८७७ ॥

अर्थ—जिसका संतोषमें अत्यंत निश्चितमति होनेरूप अर्थात् तत्त्वरुचिरूप तो परकोटा है, चारित्र बड़ा दरवाजा है, उपशमभाव और धर्म ये दो जिसके किवाड़ हैं और दोप्रकारका संयम वह रक्षाकरनेवाला कोतवाल है ऐसा तपरूपी नगर है ॥ ८७७ ॥

रागो दोसो मोहो इंदिय चोरा य उज्जदा णिचं ।
ण च एंति पहंसेदुं सप्पुरिससुरक्खियं णयरं ॥८७८॥

रागो द्वेषः मोह इंद्रियाणि चौराश्च उद्यता नित्यं ।
न च यंति प्रध्वंसयितुं सत्पुरुषसुरक्षितं नगरं ॥ ८७८ ॥

अर्थ—इस तपरूपी नगरका नाश करनेकेलिये राग द्वेष मोह इंद्रियरूपी चोर सदा लगे रहते हैं परंतु सत्पुरुषरूपी योधाओंकर अच्छीतरह रक्षा किये गये इस तपोनगरके नाश करनेकेलिये समर्थ नहीं होसकते ॥ ८७८ ॥

एदे इंदियतुरया पयदीदोसेण चोइया संता ।
उम्मग्गं णेंति रहं करेह मणपग्गहं बलियं ॥ ८७९ ॥

एते इंद्रियतुरगाः प्रकृतिदोषेण चोदिताः संतः ।
उन्मार्गं नयंति रथं कुरु मनःप्रग्रहं बलवत् ॥ ८७९ ॥

अर्थ—ये इंद्रियरूपी घोडे स्वाभाविक रागद्वेषकर प्रेरे हुए धर्मध्यानरूपी रथको विषयरूपी कुमार्गमें लेजाते हैं इसलिये एकाग्रमनरूपी लगामको बलवान् (मजबूत) करो ॥ ८७९ ॥

रागो दोसो मोहो धिदीए धीरेहिं णिज्जिदा सम्मं ।
पंचिंदिया य दंता वदोववासप्पहारेहिं ॥ ८८० ॥

रागो द्वेषो मोहो धृत्या धीरैः निर्जिताः सम्यक् ।
पंचेंद्रियाणि दांतानि व्रतोपवासप्रहारैः ॥ ८८० ॥

अर्थ—संजमी मुनियोंने राग द्वेष मोह ये तो रत्नत्रयमें दृढ भावनारूप धृतिसे अच्छीतरह जीत लिये और व्रत उपवासरूपी हथियारोंकर पांच इंद्रियोंको वशमें किया ॥ ८८० ॥

दंतेंदिया महरिसी रागं दोसं च ते खवेदूणं।
झाणोवओगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥ ८८१ ॥

दांतेंद्रिया महर्षयो रागं द्वेषं च ते क्षपित्वा।
ध्यानोपयोगयुक्ताः क्षपयंति कर्माणि क्षपितमोहाः ॥ ८८१

अर्थ—इंद्रियोंको वश करनेवाले महामुनि शुद्धोपयोग सहित समीचीन ध्यानको प्राप्त हुए राग द्वेषकर विकारोंका नाशकर मोहरहित हुए सब कर्मोंका क्षय कर देते हैं ॥ ८८१ ॥

अट्ठविहकम्ममूलं खविद कसाया खमादिजुत्तेहिं।
उद्धूदमूलो व दुमो ण जाइदव्वं पुणो अत्थि ॥८८२॥

अष्टविधकर्ममूलं क्षपिताः कषायाः क्षमादियुक्तैः।
उद्धूतमूल इव द्रुमो न जनितव्यं पुनरस्ति ॥ ८८२ ॥

अर्थ—आठ प्रकार कर्मोंका मूलकारण क्रोधादि कषायोंको क्षमादि गुण सहित मुनिराजोंने नष्ट करदिया है इसलिये निर्मूल हुए वृक्षकी तरह फिर उन कषायोंकी उत्पत्ति नहीं होसकती ८८२

अवहट्ट अट्टरुद्दं धम्मं सुक्कं च झाणमोगाढं।
ण च एदि पधंसेदुं अणियट्टी सुक्कलेस्साए ॥ ८८३ ॥

अपहृत्य आर्तं रौद्रं धर्मं शुक्लं च ध्यानमवगाढं।
न च यंति प्रध्वंसयितुं अनिवृत्ति शुक्ललेश्यया ॥ ८८३ ॥

अर्थ—कषायोंके निर्मूल करनेकेलिये आर्तध्यान रौद्रध्यानोंको छोड़कर धर्मध्यान शुक्लध्यानमें गाढ स्थित हुए और शुक्ल लेश्याकर

अनिवृत्ति गुणस्थानको प्राप्त हुए मुनिराजको फिर कषाय पीडा नहीं देसकते ॥ ८८३ ॥

जह ण चलइ गिरिरायो अवरुत्तरपुव्वदक्खिणेवाए।
एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे झाणं ॥८८४॥

यथा न चलति गिरिराजः अपरोत्तरपूर्वदक्षिणवातैः ।
एवमचलितो योगी अभीक्ष्णं ध्यायति ध्यानं ॥ ८८४ ॥

अर्थ—जैसे सुमेरु पर्वत पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर दिशाओंकी हवासे स्थानसे चलायमान नहीं होता उसीतरह सब कष्टोंसे अकंपभाववाला मुनि सदा उत्तमध्यानको ध्याता है ॥ ८८४ ॥

णिट्ठविदकरणचरणा कम्मं णिद्धुद्धुदं धुणित्ताय ।
जरमरणविप्पमुक्का उवेंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥८८५॥

निष्ठापितकरणचरणाः कर्म निधनोद्धतं धूत्वा ।
जरामरणविप्रमुक्ता उपयांति सिद्धिं धुतक्लेशाः ॥ ८८५ ॥

अर्थ—उसके बाद चारित्र और आवश्यकादि करण परमोत्कृष्ट जिन्होंने किये ऐसे मुनि अत्यंत दुःखदायी कर्मोंको निर्मूल नाशकर नष्टक्लेशवाले हुए तथा जरामरणसे रहित हुए अनंत ज्ञानादिरूप अवस्थाको पाते हैं ॥ ८८५ ॥

आगे अनगारके पर्यायवाची नामोंको कहते हैं;—

समणोत्ति संजदोत्ति य रिसिमुणिसाधुत्ति वीदरागोत्ति ।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति ॥८८६

श्रमण इति संयत इति च ऋषिमुनिसाधव इति वीतराग इति ।
नामानि सुविहितानां अनगारो भदंतः दांतो यतिः॥८८६

अर्थ—उत्तम चारित्रवाले मुनियोंके ये नाम हैं-श्रमण संयत ऋषि मुनि साधु वीतराग अनगार भदंत दांत यति। तपसे आत्माको खेदयुक्त करे वह श्रमण, इंद्रियोंको वश करे वह संयत, सब पापोंको दूर करे अथवा सात ऋद्धियोंको प्राप्त हो वह ऋषि, स्वपरकी अर्थसिद्धिको जाने वह मुनि, सम्यग्दर्शनादिको साधे वह साधु, जिसका राग नष्ट होगया वह वीतराग, घर आदि परिग्रहरहित हो वह अनगार, सब कल्याणोंको प्राप्त हो वह भदंत, पंचेंद्रियोंके रोकनेमें लीन वह दांत और चारित्रमें जो यत्न करे वह यति कहा जाता है ॥ ८८६ ॥

अणयारा भयवंता अपरिमिदगुणा थुदा सुरिंदेहिं।
तिविहेणुत्तिण्णपारे परमगदिगदे पणिवदामि ॥८८७॥

अनगारान् भगवतः अपरिमितगुणान् स्तुतान् सुरेंद्रैः।
त्रिविधैरुत्तीर्णपारान् परमगतिगतान् प्रणिपतामि ॥ ८८७॥

अर्थ— इसप्रकार अनंतचतुष्टयको प्राप्त सब गुणोंके आधार इंद्रोंकर स्तुति किये गये शुद्ध दर्शनादिरूप परिणत हुए संसारसमुद्रसे पार हुए ऐसे घररहित मुनियोंको मनवचनकायसे मैं नमस्कार करता हूं ॥ ८८७ ॥

एवं चरियविहाणं जो काहदि संजदो ववसिदप्पा।
णाणगुणसंपजुत्तो सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥ ८८८ ॥

एवं चर्याविधानं यः करोति संयतो व्यवसितात्मा।
ज्ञानगुणसंप्रयुक्तः स गच्छति उत्तमं स्थानं ॥ ८८८ ॥

अर्थ—इस प्रकार दश सूत्रोंसे कहे गये चर्याविधानको तपमें

उद्यमी व्रतादियुक्त ज्ञान मूलगुणसहित हुआ जो मुनि करता है वह उत्तम स्थानको प्राप्त होता है ॥ ८८८ ॥

भत्तीए मए कधिदं अणयाराणत्थवं समासेण ।
जो सुणदि पयदमणसो सो गच्छदि उत्तमं ठाणं॥८८९॥

भक्त्या मया कथितं अनगाराणां स्तवं समासेन ।
यः शृणोति प्रयत्नमनाः स गच्छति उत्तमं स्थानं ॥८८९॥

अर्थ—भक्ति सहित संक्षेपसे मुझसे कहे गये अनगारोंके स्तवनको जो कोई संयमी हुआ सुनता है वह उत्तम स्थानको पाता है ॥ ८८९ ॥

एवं संजमरासिं जो काहदि संजदो ववसिदप्पा ।
दंसणणाणसमग्गो सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥ ८९० ॥

एवं संयमराशिं यः करोति संयतो व्यवसितात्मा ।
दर्शनज्ञानसमग्रः स गच्छति उत्तमं स्थानं ॥ ८९० ॥

अर्थ—जो संयमी उद्यमी संयमराशिको इस प्रकार पालन करता है वह दर्शन ज्ञानकर पूर्ण हुआ उत्तम स्थानको पाता है ॥ ८९० ॥

एवं मए अभिथुदा अणगारा गारवेहिं उम्मुक्का ।
धरणिधरेहिं य महिया देंतु समाहिं च बोधिं च॥८९१

एवं मया अभिस्तुता अनगारा गौरवैः उन्मुक्ताः ।
धरणिधरैः च महिता ददतु समाधिं च बोधिं च ॥८९१॥

अर्थ—इस प्रकार ऋद्धि आदिके गौरवरहित राजाओंकर पूज्य ऐसे अनगारोंकी मैंने भी स्तुति की है ऐसे अनगार

मुझे सम्यग्दर्शनकी शुद्धि तथा संयमपूर्वक भावपंचनमस्कारपरिणतिको दें ॥ ८९१ ॥

इसप्रकार आचार्यश्रीवट्टकेरिविरचित मूलाचारकी हिंदी-
भाषाटीकामें अनगारोंकी भावनाओंको कहनेवाला
नवमां **अनगारभावनाधिकार**
समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

समयसाराधिकार ॥ १० ॥

आगे मंगलाचरणपूर्वक समयसारके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

वंदित्तु देवदेवं तिहुअणिमहिदं च सव्वसिद्धाणं ।
वोच्छामि समयसारं सुण संखेवं जहा वुत्तं ॥ ८९२ ॥

वंदित्वा देवदेवं त्रिभुवनमहितं च सर्वसिद्धान् ।
वक्ष्यामि समयसारं शृणु संक्षेपं यथा उक्तं ॥ ८९२ ॥

अर्थ—तीनलोककर पूज्य ऐसे अर्हंत भगवानको तथा सब सिद्धोंको नमस्कार करके द्वादशांगका परमतत्त्वरूप समयसारको पूर्वाचार्योंके कथनानुसार संक्षेपसे मैं कहता हूं सो तुम सुनो॥८९२

दव्वं खेत्तं कालं भावं च पडुच्च संघडणं ।
जत्थ हि जददे समणो तत्थ हि सिद्धिं लहू लहदि८९३

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं च प्रतीत्य संहननं ।
यत्र हि यतते श्रमणः तत्र हि सिद्धिं लघु लभते ॥८९३॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भाव हाडके बंधनसे उत्पन्न शक्ति

इनका आश्रयकर जिस क्षेत्रमें ज्ञान दर्शन तपमें चारित्रको पालता है उसीजगह शीघ्र ही सिद्धिको पाता है ॥ ८९३ ॥

धीरो वइरागपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु।
ण हि सिज्झहि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाए

धीरो वैराग्यपरः स्तोकं हि शिक्षित्वा सिध्यति हि।
न हि सिध्यति वैराग्यविहीनः पठित्वा सर्वशास्त्राणि ८९४

अर्थ—जो उपसर्ग सहनेमें समर्थ संसार शरीर भोगोंसे वैराग्यरूप है वह थोड़ा भी शास्त्र पढा हो तो भी कर्मोंका नाश करता है और जो वैराग्यरहित है वह सब शास्त्र भी पढ जाय तो भी कर्म क्षय नहीं करसकता ॥ ८९४ ॥

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप।
दुःखं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ८९५

भिक्षां चर वस अरण्ये स्तोकं जेम मा बहु जल्प।
दुःखं सह जय निद्रां मैत्रीं भावय सुष्ठु वैराग्यं ॥ ८९५ ॥

अर्थ—हे मुने सम्यक् चारित्र पालना है तो भिक्षा भोजन कर, वनमें रह, थोड़ा आहार कर, बहुत मत बोल दुःखको सहन कर, निद्राको जीत मैत्रीभावका चिंतवन कर अच्छीतरह वैराग्य परिणाम रख ॥ ८९५ ॥

अव्ववहारी एको झाणे एयग्गमणो भवे णिरारंभो।
चत्तकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य ॥ ८९६ ॥

अव्यवहारी एको ध्याने एकाग्रमना भवेन्निरारंभः।
त्यक्तकषायपरिग्रहः प्रयतचेष्टः असंगश्च ॥ ८९६ ॥

अर्थ—व्यवहाररहित हो, ज्ञानदर्शनके सिवाय कोई मेरा नहीं

ऐसा एक भावका चिंतवन कर, शुभध्यानमें एकाग्रचित्त हो, आरं-भरहित हो, कषाय और परिग्रहको छोड़ आत्महितमें उद्यमी हो, किसीकी संगति मत कर ॥ ८९६ ॥

थोवह्मि सिक्खिदे जिणइ बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो।
जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण॥८९७॥

स्तोके शिक्षिते जयति बहुश्रुतं यः चारित्रसंपूर्णः ।
यः पुनः चारित्रहीनः किं तस्य श्रुतेन बहुकेन ॥ ८९७ ॥

अर्थ—जो मुनि चारित्रसे पूर्ण है वह थोड़ासा भी पंचमन-स्कारादि पढा हुआ दशपूर्वके पाठीको जीत लेता है क्योंकि जो चारित्ररहित है वह बहुतसे शास्त्रोंका जाननेवाला होजाय तो भी उसके बहुत शास्त्र पढे होनेसे क्या लाभ है ? कुछ लाभ नहीं । चारित्रपाले विना कर्मोंका क्षय नहीं होसकता ॥ ८९७ ॥

णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि ।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसण्णिपायेण॥८९८

निर्यापकश्च ज्ञानं वातः ध्यानं चारित्रं नौर्हि ।
भवसागरं तु भव्याः तरंति त्रिसन्निपातेन ॥ ८९८ ॥

अर्थ—जिहाज चलानेवाला निर्यापक तो ज्ञान है पवनकी जगह ध्यान है और चारित्र जिहाज है इन ज्ञान ध्यान चारित्र तीनोंके मेलसे भव्यजीव संसारसमुद्रसे पार होजाते हैं ॥ ८९८ ॥

णाणं पयासओ तवो सोधओ संजमो य गुत्तियरो ।
तिण्हंपि य संजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो८९९

ज्ञानं प्रकाशकं तपः शोधकं संयमश्च गुप्तिकरः ।
त्रयाणामपि च संयोगे भवति हि जिनशासने मोक्षः॥८९९

अर्थ—ज्ञान तो द्रव्यस्वरूपका प्रकाश करनेवाला है, तप कर्मोंका नाशक है, चारित्र रक्षक है । इन तीनोंके संयोगसे जिनमतमें मोक्ष नियमसे होता है॥ ८९९ ॥

णाणं करणविहीणं लिंगग्गहणं च संजमविहूणं।
दंसणरहिदो य तवो जो कुणइ णिरत्थयं कुणदि९००

ज्ञानं करणविहीनं लिंगग्रहणं च संयमविहीनं ।
दर्शनरहितं च तपः यः करोति निरर्थकं करोति ॥९००॥

अर्थ—जो पुरुष षडावश्यकादि क्रिया रहित ज्ञानको संयम-रहित जिनरूप नग्न लिंगको, सम्यक्त्वरहित तपको धारण करता है उस पुरुषके ज्ञानादिका होना निष्फल है ॥ ९०० ॥

तवेण धीरा विधुणंति पावं अज्झप्पजोगेण खवंति मोहं।
संखीणमोहा धुदरागदोसा ते उत्तमा सिद्धिगदिं पयंति

तपसा धीरा विधुन्वंति पापं अध्यात्मयोगेन क्षपयंति मोहं।
संक्षीणमोहा धुतरागद्वेषाः ते उत्तमाः सिद्धिगतिं प्रयांति९०१

अर्थ—सम्यग्ज्ञानादिसे युक्त तपकरके समर्थमुनि अशुभकर्मोंका नाश करते हैं, परमध्यानकर दर्शनमोहादिका क्षय करते हैं। पश्चात् मोहरहित हुए तथा रागद्वेषरहित हुए वे उत्तम साधुजन मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ९०१ ॥

लेस्साझाणतवेण य चरियविसेसेण सुग्गई होई ।
तह्मा इदराभावे झाणं संभावये धीरो ॥ ९०२ ॥

लेश्याध्यानतपसा च चारित्रविशेषेण सुगतिः भवति ।
तस्मात् इतराभावे ध्यानं संभावयेत् धीरः ॥ ९०२ ॥

अर्थ—लेश्या ध्यान तप चारित्र इनके विशेषसे उत्तम स्वर्गादि

गति होती है इसलिये लेश्यादिके कदाचित् न होनेपर भी धीर मुनि शुभध्यानका अवश्य चिंतवन करे। क्योंकि ध्यान सबमें मुख्य है ॥ ९०२ ॥

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी ।
उवलद्धपदत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि ॥ ९०३ ॥

सम्यक्त्वात् ज्ञानं ज्ञानात् सर्वभावोपलब्धिः ।
उपलब्धपदार्थः पुनः श्रेयः अश्रेयः विजानाति ॥९०३॥

अर्थ—सम्यक्त्वसे ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है ज्ञानसे सब पदार्थोंके स्वरूपकी पहचान होती है और जिसने पदार्थोंका स्वरूप अच्छीतरह जान लिया है वही पुण्य पापको अथवा हित अहितको जानता है ॥ ९०३ ॥

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवं होदि ।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहदि णिव्वाणं ॥९०४॥

श्रेयोश्रेयोविद् उद्धूतदुःशीलः शीलवान् भवति ।
शीलफलेनाभ्युदयं ततः पुनः लभते निर्वाणं ॥ ९०४ ॥

अर्थ—पुण्यपापका ज्ञाता होनेसे कुशीलको दूरकर अठारह हजार शीलका धारण करनेवाला होता है उसके बाद शीलके फलसे स्वर्गादिका सुख भोग मोक्षको पाता है ॥ ९०४ ॥

सव्वंपि हु सुदणाणं सुट्ठु सुगुणिदंपि सुट्ठु पढिदंवि ।
समणं भट्ठचरित्तं ण हु सक्को सुग्गइ णेदुं ॥ ९०५ ॥

सर्वमपि हि श्रुतज्ञानं सुष्ठु सुगुणितमपि सुष्ठु पठितमपि ।
श्रमणं भ्रष्टचारित्रं न हि शक्यं सुगतिं नेतुं ॥ ९०५ ॥

अर्थ—यद्यपि मुनिने सब ही श्रुतज्ञान अच्छीतरह पढलिया

हो व अच्छीतरह मनन करलिया हो तौभी चारित्रसे भ्रष्ट होनेपर उस मुनिको सुगतिमें वह ज्ञान नहीं लेजा सकता। इसलिये चारित्रमुख्य है ॥ ९०५ ॥

जदि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो।
जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं ॥

यदि पतति दीपहस्तः अवटे किं करोति तस्य स दीपः ।
यदि शिक्षित्वा अनयं करोति किं तस्य शिक्षाफलं॥९०६॥

अर्थ—जो हाथमें दीपकलिये हुए है ऐसा पुरुष यदि कुएमें गिरजाय तो उसको दीपक लेनेसे क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं। उसीतरह शास्त्र पढकर जो चारित्रका भंग करे तो उसके शास्त्र पढनेसे कुछ फायदा नहीं है ॥ ९०६ ॥

पिंडं सेज्जं उवधिं उग्गमउप्पादणेसणादीहिं ।
चारित्तरक्खणट्ठं सोधणयं होदि सुचरित्तं ॥ ९०७ ॥

पिंडं शय्यां उपधिं उद्गमोत्पादनैषणादिभ्यः ।
चारित्ररक्षणार्थं शोधयन् भवति सुचारित्रं ॥ ९०७ ॥

अर्थ—जो साधु चारित्रकी रक्षाके लिये भिक्षा शय्या और ज्ञान संयम शौचके उपकरणोंको उद्गम उत्पादन और एषणादि दोषोंसे शोधता है वही सुचारित्रवाला होता है। दोषोंका न होना वही शुद्धि है ॥ ९०७ ॥

अचेलकं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं ।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णादव्वो ॥९०८॥

अचेलकत्वं लोचो व्युत्सृष्टशरीरता च प्रतिलेखनं ।
एष हि लिंगकल्पः चतुर्विधो भवति ज्ञातव्यः ॥ ९०८ ॥

अर्थ—कपड़े आदि सब परिग्रहका त्याग, केशलौंच, शरीरसंस्कारका अभाव मोरपीछी यह चारप्रकार लिंगभेद जानना। ये चारों अपरिग्रह समीचीन भावना वीतरागता दयापालना इनके चिन्ह हैं ॥ ९०८ ॥

अचेलकुद्देसिय सेज्जाहर रायपिंड किदियम्मं।
वद जेट्ठ पडिक्कमणे मासे पज्जो समणकप्पो ॥९०९॥

अचेलकत्वमुद्देशिकं शय्यागृहं राजपिंडं कृतिकर्म।
व्रतानि ज्येष्ठः प्रतिक्रमणं मासः पर्या श्रमणकल्पः॥९०९॥

अर्थ—श्रमणकल्प अर्थात् मुनिधर्मभेद दस तरहका है—वस्त्रादिका अभाव, उद्देशसे भोजनका त्याग, मेरी वसतिकामें रहनेवालेको भोजन देना इस उपदेशका अभाव, गरिष्ट पुष्ट भोजनका त्याग, वंदनादिमें अपने साथी होनेका त्याग, साथी मिलनेकी इच्छाका त्याग, पूज्यपनेका विचार, दैवसिकादि प्रतिक्रमण, योगसे पहले मासतक रहना, पंचकल्याणकोंके स्थानोंका सेवन ॥ ९०९ ॥

रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥ ९१० ॥

रजःस्वेदयोरग्रहणं मार्दवं सुकुमारता लघुत्वं च।
यत्रैते पंचगुणास्तं प्रतिलेखनं प्रशंसंति ॥ ९१० ॥

अर्थ—जिसमें ये पांच गुण हैं उस शोधनोपकरण पीछी आदिकी साधुजन प्रशंसा करते हैं वह ये हैं—धूलि और पसेवसे मैली न हो कोमल हो देखने योग्य हो हलकी हो ॥ ९१० ॥

सुहुमा हु संति पाणा दुप्पेक्खा अक्खिणो अगेज्झा हु।

तह्मा जीवदयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू ॥ ९११ ॥

सूक्ष्मा हि संति प्राणा दुष्प्रेक्ष्या अक्ष्णा अग्राह्या हि ।
तस्मात् जीवदयायाः प्रतिलेखनं धारयेत् भिक्षुः ॥ ९११ ॥

अर्थ—अत्यंत छोटे द्वींद्रिय एकेंद्रिय जीव हैं वे बहुत कष्टसे देखनेमें आते हैं और इस चर्मचक्षुसे नहीं देखे जासकते इसलिये जीवदया पालनेकेलिये साधु मयूरपीछी अवश्य रखे ॥ ९११ ॥

उच्चारं पस्सवणं णिसि सुत्तो उट्ठिदो हु काऊण ।
अप्पडिलिहिय सुवंतो जीववहं कुणदि णियदं तु९१२

उच्चारं प्रस्रवणं निशि सुप्त उत्थितो हि कृत्वा ।
अप्रतिलेख्य स्वपन् जीववधं करोति नियतं तु ॥ ९१२ ॥

अर्थ—रातमें सोतेसे उठा फिर मलका क्षेपन मूत श्लेष्मा आदिका क्षेपण कर सोधन विना किये फिर सोगया ऐसा साधु पीछीके विना जीवहिंसा अवश्य करता है ॥ ९१२ ॥

ण य होदि णयणपीडा अच्छिंपि भमाडिदे दु पडिलेहे ।
तो सुहुमादी लहुओ पडिलेहो होदि कायव्वो॥९१३॥

न च भवति नयनपीडा अक्ष्णि अपि भ्रामिते तु प्रतिलेख्ये ।
ततः सूक्ष्मादिः लघुः प्रतिलेखो भवति कर्तव्यः ॥९१३॥

अर्थ—जिसकारण मयूर पीछी नेत्रोंमें फिरानेपर भी नेत्रोंको पीडा नहीं देती इसीकारण सूक्ष्म लघु आदि गुण युक्त मयूर पीछी रखनी चाहिये ॥ ९१३ ॥

ठाणे चंकमणादाणणिक्खेवे सयणआसण पयत्ते ।
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ लिंगं च होइ सपक्खे॥९१४

स्थाने चंक्रमणादाननिक्षेपे शयनासने प्रयत्नेन ।

प्रतिलेखनेन प्रतिलिख्यते लिंगं च भवति स्वपक्षे ॥९१४॥

अर्थ—कायोत्सर्गमें गमनमें कमंडलु आदिके उठानेमें पुस्तकादिके रखनेमें शयनेमें आसनमें झूठनके साफ करनेमें यत्नसे पीछीकर जीवोंकी रक्षा कीजाती है और यह मुनि संयमी है ऐसा अपनी पक्षमें चिन्ह होजाता है ॥ ९१४ ॥

पोसह उवओ पक्खे तह साहू जो करेदि णियदं तु ।
णावाए कल्लाणं चादुम्मासेण णियमेण ॥ ९१५ ॥

प्रौषधं उभयोः पक्षयोः तथा साधुः यः करोति नियतं तु ।
नापाये कल्याणं चातुर्मासेन नियमेन ॥ ९१५ ॥

अर्थ—जो साधु चातुर्मासिक प्रतिक्रमणके नियमसे दोनों चतुर्दशीतिथियोंमें प्रोषधोपवास अवश्य करता है वह परमसुखका नाश नहीं करता अर्थात् सुखकी प्राप्ति आवश्य होती है ॥९१५॥

पिंडोवधिसेज्जाओ अविसोधिय जो य भुंजदे समणो ।
मूलट्ठाणं पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो ॥ ९१६ ॥

पिंडोपधिशय्या अविशोध्य यश्च भुंक्ते श्रमणः ।
मूलस्थानं प्राप्तः भुवनेषु भवेत् श्रमणतुच्छः ॥ ९१६ ॥

अर्थ—जो मुनि आहार उपकरण आवास इनको न सोधकर सेवन करता है वह मुनि ग्रहस्थपनेको प्राप्त होता है और लोकमें मुनिपनेसे हीन कहाजाता है ॥ ९१६ ॥

तस्स ण सुज्झइ चरियं तवसंजमणिच्चकालपरिहीणं ।
आवासयं ण सुज्झइ चिरपव्वइयोवि जइ होइ ९१७

तस्य न शुध्यति चारित्रं तपःसंयमनित्यकालपरिहीनं ।
आवश्यकं न शुध्यति चिरप्रव्रजितोपि यदि भवति॥९१७॥

अर्थ—पिंडादिकी शुद्धिके विना जो तप करता है तथा तप संयमसे जो सदा रहित है उसका चारित्र शुद्ध नहीं होसकता और आवश्यकर्म भी शुद्ध नहीं होसकते चाहे वह बहुतकालका दीक्षित क्यों न हो ॥ ९१७ ॥

मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिरं जोगं ।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति ९१८

मूलं छित्त्वा श्रमणो यो गृह्णाति च बाह्यं योगं ।
बाह्ययोगा सर्वे मूलविहीनस्य किं करिष्यंति ॥ ९१८ ॥

अर्थ—जो साधु अहिंसादि मूलगुणोंको छेद वृक्षमूलादियोगोंको ग्रहण करता है तो मूलगुणरहित उस साधुके सब बाहिरके योग क्या कर सकते हैं उनसे कर्मोंका क्षय नहीं होसकता॥९१८॥

हंतूण य बहुपाणं अप्पाणं जो करेदि सप्पाणं ।
अप्पासुअसुहकंखी मोक्खकंखी ण सो समणो॥९१९

हत्वा बहुप्राणं आत्मानं यः करोति सप्राणम् ।
अप्रासुकसुखकांक्षी मोक्षकांक्षी न स श्रमणः ॥ ९१९ ॥

अर्थ—जो साधु बहुत त्रसस्थावरजीवोंको मारकर सदोष आहार भोगकर अपनेमें बल बढाता है वह मुनि अप्रासुकसुखका अभिलाषी है जिससे कि नरकादि गति मिले परंतु मोक्षसुखका वांछक नहीं है ॥ ९१९ ॥

एक्को वा वि तयो वा सीहो वग्घो मयो व खादिज्जो ।
जदि खादेज्ज स णीचो जीवयरासिं णिहंतूण ॥९२०॥

एकं वा द्वौ त्रीन् वा सिंहो व्याघ्रो मृगं वा खादयेत् ।
यदि खादयेत् स नीचो जीवराशिं निहत्य ॥ ९२० ॥

अर्थ—सिंह या वाघ एक अथवा दो अथवा तीन हरिणोंको खालेता है तो वह नीच पापी कहा जाता है यदि साधु अधः कर्मसे जीवराशिको हतकर आहार करे तो वह महानीच है ९२०

आरंभे पाणिवहो पाणिवहे होदि अप्पणो हु वहो।
अप्पा ण हु हंतव्वो पाणिवहो तेण मोत्तव्वो ॥९२१॥

आरंभे प्राणिवधः प्राणिवधे भवति आत्मनो हि वधः।
आत्मा न हि हंतव्यः प्राणिवधस्तेन मोक्तव्यः ॥ ९२१ ॥

अर्थ—पचनादि कर्ममें जीवघात होता है और जीवघात होनेसे आत्मघात होता है। जिसकारण आत्माका घात करना ठीक नहीं है इसीलिये जीवघातका त्याग करना ही योग्य है ९२१

जो ठाणमोणवीरासणेहिं अत्थदि चउत्थछट्ठेहिं।
भुंजदि आधाकम्मं सव्वेवि णिरत्थया जोगा ॥९२२॥

यः स्थानमौनवीरासनैः आस्ते चतुर्थषष्ठभिः।
भुंक्ते अधःकर्म सर्वे अपि निरर्थका योगाः ॥ ९२२ ॥

अर्थ—जो साधु स्थान मौन और वीरासनसे उपवास वेला तेला आदिकर तिष्ठता है और अधःकर्म सहित भोजन करता है उसके सभी योग निरर्थक हैं ॥ ९२२ ॥

किं काहदि वणवासो सुण्णागारी य रुक्खमूलो वा।
भुंजदि आधाकम्मं सव्वेवि णिरत्थया जोगा ॥ ९२३॥

किं करिष्यति वनवासः शून्यागारश्च वृक्षमूलो वा।
भुंक्ते अधःकर्म सर्वेपि निरर्थका योगाः ॥ ९२३ ॥

अर्थ—उस मुनिके वनवास क्या करेगा सूनेघरमें वास और

वृक्षमूलमें रहना क्या करसकेगा जो अधःकर्मसहित भोजन करता है। उसके सभी उत्तरगुण निरर्थक हैं ॥ ९२३ ॥

किं तस्स ठाणमोणं किं काहदि अब्भवगासमादावो।
मेत्तिविहूणो समणो सिज्झदि ण हु सिद्धिकंखोवि९२४

किं तस्य स्थानं मौनं किं करिष्यति अभ्रावकाशमातापः।
मैत्रीविहीनः श्रमणः सिध्यति न हि सिद्धिकांक्षोपि ९२४

अर्थ—उस साधुके कायोत्सर्ग मौन और अभ्रावकाश योग आतापन योग क्या कर सकता है जो साधु मैत्रीभावरहित है वह मोक्षका चाहनेवाला होनेपर भी मोक्ष नहीं पासकता ॥९२४॥

जह वोसरित्तु कत्तिं विसं ण वोसरदि दारुणो सप्पो।
तह कोवि मंदसमणो पंच दु सूणा ण वोसरदि ९२५

यथा व्युत्सृज्य कृत्तिं विषं न व्युत्सृजति दारुणः सर्पः।
तथा कोपि मंदश्रमणः पंच तु शूना न व्युत्सृजति ॥९२५॥

अर्थ—जैसे महा रौद्र सांप कांचलीको छोड़कर विषको नहीं छोड़ता है उसीतरह कोई मंद मुनि अर्थात् चारित्रमें आलसी साधु भोजनके लोभसे पंचसूनाको नहीं छोड़ता ॥ ९२५ ॥

कंडणी पीसणी चुल्ली उदकुंभं पमज्जणी।
बीहेदव्वं णिच्चं ताहिं जीवरासी से मरदि ॥ ९२६ ॥

कंडनी पेषणी चुल्ली उदकुंभं प्रमार्जनी।
भेतव्यं नित्यं ताभ्यः जीवराशिः ताभ्यो मरति ॥ ९२६ ॥

अर्थ—ओखली चक्की चूलि जल रखनेका स्थान (पढेंरा) बुहारी—इन पांचोंसे सदा भयभीत रहना चाहिये क्योंकि इनसे जीवोंका समूह मर जाता है ॥ ९२६ ॥

जो भुंजदि आधाकम्मं छज्जीवाण घायणं किच्चा ।
अबुहो लोल सजिब्भो णवि समणो सावओ होज्ज९२७

यो भुंक्ते अधःकर्म षट्जीवानां घातनं कृत्वा ।
अबुधो लोलः सजिह्वः नापि श्रमणः श्रावकः भवेत्॥९२७

अर्थ—जो मूढमुनि छहकायके जीवोंका घात करके अधः कर्मकर सहित भोजन करता है वह लोलपी जिह्वाके वश हुआ मुनि नहीं है श्रावक है ॥ ९२७ ॥

पयणं व पायणं वा अणुमणचित्तो ण तत्थ बीहेदि ।
जेमंतोवि सघादी णवि समणो दिट्ठिसंपण्णो ॥९२८॥

पचने वा पाचने वा अनुमनचित्तो न तत्र बिभेति ।
जेमंतोपि स्वघाती नापि श्रमणः दृष्टिसंपन्नः ॥ ९२८ ॥

अर्थ—पाक करनेमें अथवा पाक करानेमें पांचउपकरणोंसे अधःकर्ममें प्रवृत्त हुआ और अनुमोदनामें प्रसन्न जो मुनि उस पचनादिसे नहीं डरता वह मुनि भोजन करता हुआ भी आत्मघाती है । न तो मुनि है और न सम्यग्दृष्टि है ॥ ९२८ ॥

ण हु तस्स इमो लोओ णवि परलोओत्तमट्ठभट्ठस्स ।
लिंगग्गहणं तस्स दु णिरत्थयं संजमेण हीणस्स ९२९

न हि तस्य अयं लोकः नापि परलोक उत्तमार्थभ्रष्टस्य ।
लिंगग्रहणं तस्य तु निरर्थकं संयमेन हीनस्य ॥ ९२९ ॥

अर्थ—जो चारित्रसे भ्रष्ट है उसमुनिके यह लोक भी नहीं और परलोक भी नहीं । संयमरहित उस मुनिके मुनिलिंगका धारण करना व्यर्थ है ॥ ९२९ ॥

पायच्छित्तं आलोयणं च काऊण गुरुसयासम्मि ।

तं चेव पुणो भुंजदि आधाकम्मं असुहकम्मं ॥ ९३० ॥

प्रायश्चित्तं आलोचनं च कृत्वा गुरुसकाशे।

तदेव पुनः भुंक्ते अधःकर्म अशुभकर्म ॥ ९३० ॥

अर्थ—कोई साधु गुरुके पास जाकर दोषका हटाना और दोषको प्रगट करना इनको करके फिर पीछे अधःकर्मयुक्त भोजनको खाता है उसके पापबंध ही होता है और दोनों लोकसे भ्रष्ट होता है ॥ ९३० ॥

जो जट्ठ जहा लद्धं गेण्हदि आहारमुवधियादीयं।
समणगुणमुक्कजोगी संसारपवड्ढओ होदि ॥ ९३१ ॥

यो यत्र यथा लब्धं गृह्णाति आहारमुपधिकादिकं।

श्रमणगुणमुक्तयोगी संसारप्रवर्धको भवति ॥ ९३१ ॥

अर्थ—जो साधु जिस शुद्ध अशुद्ध देशमें जैसा शुद्ध अशुद्ध मिला आहार व उपकरण ग्रहण करता है वह श्रमणगुणसे रहित योगी संसारका वढानेवाला ही होता है ॥ ९३१ ॥

पयणं पायणमणुमणणं सेवंतो ण संजदो होदि।
जेमंतोवि य जह्मा णवि समणो संजमो णत्थि॥९३२॥

पचनं पाचनमनुमननं सेवमानो न संयतो भवति।

जेमंतोपि च यस्मात् नापि श्रमणः संयमो नास्ति ॥ ९३२

अर्थ—पचन पाचन अनुमोदना इनको सेवन करता हुआ मुनि संयमी नहीं होसकता और ऐसे भोजन करता श्रमण भी नहीं है तथा उसमें संयम भी नहीं है ॥ ९३२ ॥

बहुगंपि सुदमधीदं किं काहदि अजाणमाणस्स।
दीवविसेसो अंधे णाणविसेसोवि तह तस्स ॥ ९३३॥

बहुकमपि श्रुतमधीतं किं करिष्यति अजानतः ।
दीपविशेषः अंधे ज्ञानविशेषोपि तथा तस्य ॥ ९३३ ॥

अर्थ—जो उपयोगरहित है चारित्रहीन है वह बहुतसे शास्त्रोंको भी पढले तो उस साधुके वह शास्त्रज्ञान क्या करसकता है कुछ भी नहीं । जैसे अंधेके हाथमें दीपक उसीतरह उसका ज्ञान भी कार्यकारी नहीं है ॥ ९३३ ॥

आधाकम्मपरिणदो फासुगदव्वेवि बंधगो भणिदो ।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मेवि सो सुद्धो ॥ ९३४ ॥

अधःकर्मपरिणतः प्रासुकद्रव्येपि बंधको भणितः ।
शुद्धं गवेषमाणः अधःकर्मणापि स शुद्धः ॥ ९३४ ॥

अर्थ—प्रासुक द्रव्य होनेपर जो साधु अधःकर्मकर परिणत है वह आगममें बंधका कर्ता कहा है और जो शुद्धभोजन देखता ग्रहणकरता है वह अधःकर्म दोषसे परिणामशुद्धिसे शुद्ध है ९३४

भावुग्गमो य दुविहो पसत्थपरिणाम अप्पसत्थोत्ति ।
सुद्धे असुद्धभावो होदि उवट्ठावणं पायछित्तं ॥ ९३५॥

भावोद्गमश्च द्विविधः प्रशस्तपरिणामः अप्रशस्त इति ।
शुद्धे अशुद्धभावो भवति उपस्थापनं प्रायश्चित्तं ॥ ९३५ ॥

अर्थ—भावदोष दोप्रकारका है एक प्रशस्तपरिणाम दूसरा अप्रशस्त परिणाम । जो शुद्धवस्तुमें अशुद्धभाव करता है वहां उपस्थापन नामा प्रायश्चित्त है ॥ ९३५ ॥

फासुगदाणं फासुग उवधिं तह दोवि अत्तसोधीए ।
जो देदि जो य गिण्हदि दोण्हंपि महाफलं होइ॥९३६

प्रासुकदानं प्रासुकमुपधिं तथा द्वयमपि आत्मशुद्ध्या ।

यो ददाति यश्च गृह्णाति द्वयोरपि महाफलं भवति ॥९३६॥

अर्थ—जो निर्दोष भोजन निर्दोष उपकरण इन दोनोंको विशुद्ध परिणामोंसे देता है और जो ग्रहण करता है उन दोनोंको ही महान् कर्मक्षयरूपी फल मिलता है ॥ ९३६ ॥

जोगेसु मूलजोगं भिक्खाचरियं च वण्णियं सुत्ते।
अण्णे य पुणो जोगा विण्णाणविहीणएहिं कया ९३७

योगेषु मूलयोगो भिक्षाचर्या च वर्णिता सूत्रे।
अन्ये च पुनर्योगा विज्ञानविहीनैः कृताः ॥ ९३७ ॥

अर्थ—आगममें सब मूल उत्तरगुणोंके मध्यमें प्रासुकभोजन ही प्रधान व्रत कहा है, और अन्य जो गुण हैं वे चारित्रहीन साधुओंकर किये जानने ॥ ९३७ ॥

कल्लं कल्लंपि वरं आहारो परिमिदो पसत्थो य।
ण य खमण पारणाओ बहवो बहुसो बहुविधो य ९३८

कल्यं कल्यमपि वरं आहारः परिमितः प्रशस्तश्च।
न च क्षमणानि पारणा बहवो बहुशो बहुविधश्च ॥ ९३८ ॥

अर्थ—अगले अगले दिनमें परिमित दोषरहित भोजन करना ठीक है परंतु बहुतसे बहुत प्रकारके उपवास तथा पारणाकर सदोष आहार लेना ठीक नहीं ॥ ९३८ ॥

मरणभयभीरुआणं अभयं जो देदि सव्वजीवाणं।
तं दाणाणवि दाणं तं पुण जोगेसु मूलजोगंपि॥९३९॥

मरणभयभीरुकेभ्यः अभयं यो ददाति सर्वजीवेभ्यः।
तत् दानानामपि दानं तत् पुनः योगेषु मूलयोगोपि॥९३९

अर्थ—मरण भयसे भययुक्त सब जीवोंको जो अभयदान देता

है वही दान सब दानोंमें उत्तम है और वह दान सब आचरणोंमें प्रधान आचरण है ॥ ९३९ ॥

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स ॥९४०॥

सम्यग्दृष्टेरपि अविरतस्य न तपो महागुणो भवति ।
भवति हि हस्तिस्नानं चुंदच्छित्कर्म तत् तस्य ॥ ९४० ॥

अर्थ—संयमरहित अविरतसम्यग्दृष्टिके भी तप महान् उपकारी नहीं है उसका तप हाथीके स्नानकी तरह जानना अथवा दहीमथनेकी रस्सीकी तरह जानना, रस्सी एक तरफसे खुलती जाती एक तरफसे बंधती जाती है ॥ ९४० ॥

वेज्जादुरभेसज्जापरिचारयसंयदा जहारोग्गं ।
गुरुसिस्सरयणसाहणसंयत्तीए तहा मोक्खो ॥ ९४१ ॥

वैद्यातुरभैषज्यपरिचारकसंयत्या यथा आरोग्यं ।
गुरुशिष्यरत्नसाधनसंयत्या तथा मोक्षः ॥ ९४१ ॥

अर्थ—जैसे वैद्य रोगी औषध और वैयावृत्य (टहल) करनेवालोंके मिलनेसे रोगी रोगरहित होजाता है उसीतरह गुरु विनयवान् शिष्य सम्यग्दर्शनादि रत्न और पुस्तक कमंडलु पीछी आदि साधन इन सबके संयोगसे मोक्ष होता है ॥ ९४१ ॥

आइरिओवि य वेज्जो सिस्सो रोगी दु भेसजं चरिया।
खेत्त बल काल पुरिसं णाऊण सणिं दढं कुज्जा॥९४२॥

आचार्योपि च वैद्यः शिष्यो रोगी तु भेषजं चर्या ।
क्षेत्रं बलं कालं पुरुषं ज्ञात्वा शनैः दृढं कुर्यात् ॥ ९४२ ॥

अर्थ—आचार्य तो वैद्य हैं शिष्य रोगी है औषध चारित्र है

क्षेत्र बल काल पुरुष आदि साधन हैं इन सबको जानकर आकुलता रहित होके अर्थात् धीरे शिष्यको दृढ करना चाहिये ॥ ९४२ ॥

भिक्खं सरीरजोग्गं सुभत्तिजुत्तेण फासुयं दिण्णं ।
दव्वपमाणं खेत्तं कालं भावं च णादूण ॥ ९४३ ॥
णवकोडीपडिसुद्धं फासुय सत्थं च एसणासुद्धं ।
दसदोसविप्पमुक्कं चोद्दसमलवज्जियं भुंजे ॥ ९४४ ॥

भैक्ष्यं शरीरयोग्यं सुभक्तियुक्तेन प्रासुकं दत्तं ।
द्रव्यप्रमाणं क्षेत्रं कालं भावं च ज्ञात्वा ॥ ९४३ ॥
नवकोटिपरिशुद्धं प्रासुकं शस्तं च एषणाशुद्धं ।
दशदोषविप्रमुक्तं चतुर्दशमलवर्जितं भुंजीत ॥ ९४४ ॥

अर्थ—उत्तमभक्तिवाले पुरुषकर दिया गया, शरीरके योग्य, प्रासुक नवकोटिकर शुद्ध निरवद्य कुत्सादिदोषरहित एषणासमितिकर शुद्ध दश दोषोंकर रहित चौदह मलोंकर वर्जित ऐसे आहारको द्रव्यप्रमाण क्षेत्र काल भावोंको जान कर खाय ॥ ९४३–९४४ ॥

आहारेदु तवस्सी विगदिंगालं विगदधूमं च ।
जत्तासाहणमत्तं जवणाहारं विगदरागो ॥ ९४५ ॥

आहरेत् तपस्वी विगतांगारं विगतधूमं च ।
यात्रासाधनमात्रं यवनाहारं विगतरागः ॥ ९४५ ॥

अर्थ—अंगार दोषरहित धूमदोषरहित सम्यग्दर्शनादि रक्षाके निमित्त क्षुधाके उपशम करनेमात्र आहारको वीतरागी मुनि ग्रहण करे ॥ ९४५ ॥

वक्खस्सोहणाए परमट्ठाए तहा परिहरउ ।

दुविहा चावि दुगंछा लोइय लोगुत्तरा चेव ॥ ९४६ ॥

व्यवहारशोधनाय परमार्थाय तथा परिहरतु ।

द्विविधा चापि जुगुप्सा लौकिकी लोकोत्तरा चैव ॥९४६॥

अर्थ—लौकिकी ग्लानि तथा लोकोत्तर जुगुप्सा इन दोनोंको व्यवहारशुद्धि सूतक आदिके शोधनके लिये तथा रत्नत्रयकी शुद्धिके लिये छोड़ना चाहिये ॥ ९४६ ॥

परमट्ठियं विसोहिं सुट्ठु पयत्तेण कुणइ पव्वइओ ।
परमट्ठदुगंछा विय सुट्ठु पयत्तेण परिहरउ ॥ ९४७ ॥

परमार्थिकां विशुद्धिं सुष्ठु प्रयत्नेन करोति प्रव्रजितः ।
परमार्थजुगुप्सापि च सुष्ठु प्रयत्नेन परिहरतु ॥ ९४७ ॥

अर्थ—साधु रत्नत्रयशुद्धिको भले यत्नकर करे और शंकादि ग्लानिको अच्छी तरह यत्नसे त्याग दे ॥ ९४७ ॥

संजममविराधंतो करेउ ववहारसोधणं भिक्खू ।
ववहारदुगंछावि य परिहरउ वदे अभंजंतो ॥ ९४८ ॥

संयममविराधयन् करोतु व्यवहारशोधनं भिक्षुः ।
व्यवहारजुगुप्सामपि च परिहरतु व्रतानि अभंजयन् ॥९४८

अर्थ—साधु चारित्रको नहीं भंग करता व्यवहारशुद्धिको करनेवाले प्रायश्चित्तको करे और अहिंसादि व्रतोंको भंग न करके व्यवहारनिंदाको भी छोड़े ॥ ९४८ ॥

जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिंदियदारइत्थिजणबहुलं ।
दुक्खमुवसग्गबहुलं भिक्खू खेत्तं विवज्जेऊ ॥ ९४९ ॥

यत्र कषायोत्पत्तिरभक्तिरिंद्रियद्वारस्त्रीजनबाहुल्यं ।
दुःखमुपसर्गबहुलं भिक्षुः क्षेत्रं विवर्जयेत् ॥ ९४९ ॥

अर्थ—जिस क्षेत्रमें कषायोंकी उत्पत्ति हो, आदरका अभाव हो मूर्खता अधिक हो जहां नेत्र आदि इंद्रियोंके विषयोंकी अधिकता हो, जहां शृंगार आदिभावोंसहित स्त्रियां अधिक हों, क्लेश अधिक हो, उपसर्ग बहुत हों ऐसे स्थानको मुनि अवश्य छोड़दे ॥ ९४९ ॥

गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा ।
ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खू णिसेवेऊ ॥ ९५० ॥

गिरिकंदरां सशानं शून्यागारं च वृक्षमूलं वा ।
स्थानं वैराग्यबहुलं धीरो भिक्षुः निषेवतां ॥ ९५० ॥

अर्थ—पर्वतकी गुफा, मसानभूमि सूनाघर और वृक्षकी कोटर ऐसे वैराग्यके कारण स्थानोंमें धीर मुनि रहे ॥ ९५० ॥

णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज ।
पव्वज्जा च ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे ॥ ९५१ ॥

नृपतिविहीनं क्षेत्रं नृपतिर्वा यत्र दुष्टो भवेत् ।
प्रव्रज्या च न लभ्यते संयमघातश्च तत् वर्जयेत् ॥ ९५१ ॥

अर्थ—जो देश राजाकर रहित हो अथवा जहां राजा दुष्ट हो, भिक्षा भी न मिले दीक्षा ग्रहण करनेमें रुचि भी न हो, और संयमका घात हो उस देशको अवश्य त्याग दे ॥ ९५१ ॥

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चेट्ठेदुं ।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारवोसरणे ॥ ९५२ ॥

नो कल्प्यते विरतानां विरतीनामुपाश्रये स्थातुं ।
तत्र निषद्योद्वर्तनस्वाध्यायाहारव्युत्सर्गे ॥ ९५२ ॥

अर्थ—मुनियोंको आर्यिकाओंके स्थानमें रहना ठीक नहीं है

और वहांपर निषद्या (आसन) शयन स्वाध्याय आहार और प्रतिक्रमण करना योग्य नहीं है ॥ ९५२ ॥

होदि दुगुंछा दुविहा ववहारादो तधा य परमट्ठो।
पयदेण य परमट्ठे ववहारेण य तहा पच्छा ॥ ९५३ ॥

भवति जुगुप्सा द्विविधा व्यवहारात् तथा च परमार्था ।
प्रयत्नेन च परमार्था व्यवहारेण च तथा पश्चात् ॥ ९५३ ॥

अर्थ—आर्यिकाके स्थानमें मुनिके जुगुप्सा दोप्रकारकी है एक व्यवहार दूसरी परमार्थ अर्थात् लोकनिंदा व व्रतभंग। यत्न करके पहले परमार्थ होती है पीछे लोकनिंदारूप व्यवहार-जुगुप्सा होती है ॥ ९५३ ॥

वड्ढदि बोही संसग्गेण तध पुणो विणस्सेदि ।
संसग्गविसेसेण दु उप्पलगंधो जहा गंधो ॥ ९५४ ॥

वर्धते बोधिः संसर्गेण तथा पुनर्विनश्यति ।
संसर्गविशेषेण तु उत्पलगंधो यथा गंधः ॥ ९५४ ॥

अर्थ—संगतिसे ही सम्यग्दर्शनादिकी शुद्धि बढती है और संगतिसे ही नष्ट होजाती है जैसे कमलादिकी गंधके संबंधसे शीतल सुगंधित जल होजाता है और अग्नि आदिके संबंधसे जल उष्ण तथा विरस होजाता है ॥ ९५४ ॥

चंडो चवलो मंदो तह साहू पुट्ठिमंसपडिसेवी ।
गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो॥९५५

चंडः चपलो मंदः तथा साधुः पृष्टिमांसप्रतिसेवी ।
गौरवकषायबहुलो दुराश्रयो भवति स श्रमणः ॥ ९५५ ॥

अर्थ—जो अत्यंत क्रोधी हो चंचलस्वभाववाला हो चारित्रमें

आलसी पीछे दोष कहनेवाला पिशुन हो, गुरुता कषाय बहुत रखता हो ऐसा साधु सेवने योग्य नहीं है ॥ ९५५ ॥

वेज्जावच्चविहीणं विणयविहूणं च दुस्सुदिकुसीलं ।
समणं विरागहीणं सुसंजमो साधु ण सेविज्ज॥९५६॥

वैयावृत्त्यविहीनं विनयविहीनं च दुःश्रुतिकुशीलं ।
श्रमणं विरागहीनं सुसंयमो साधुर्न सेवेत ॥ ९५६ ॥

अर्थ—रोगी आदिकी सेवासे रहित, विनयरहित, खोटे शास्त्रोंकर कुआचरणी वैराग्यरहित ऐसे साधुको उत्तम चारित्रवाला साधु नहीं सेवे ॥ ९५६ ॥

दंभं परपरिवादं पिसुणत्तण पावसुत्तपडिसेवं ।
चिरपव्वइदंपि मुणी आरंभजुदं ण सेविज्ज ॥ ९५७ ॥

दंभं परपरिवादिनं पिशुनं पापसूत्रप्रतिसेविनं ।
चिरप्रव्रजितमपि मुनिं आरंभयुतं न सेवेत ॥ ९५७ ॥

अर्थ—जो ठगनेवाला हो, दूसरेको पीडा देनेवाला हो, झूटे दोषोंको ग्रहण करनेवाला हो, मारण आदि मंत्रशास्त्र अथवा हिंसापोषकशास्त्रोंका सेवनेवाला हो, आरंभ सहित हो ऐसे बहुत कालसे दीक्षित भी मुनिको सदाचरणी नहीं सेवे ॥ ९५७ ॥

चिरपव्वइदंवि मुणी अपुट्ठधम्मं असंपुडं णीचं ।
लोइय लोगुत्तरियं अयाणमाणं विवज्जेज्ज ॥ ९५८ ॥

चिरप्रव्रजितमपि मुनिं अपुष्टधर्मं असंवृतं नीचं ।
लौकिकं लोकोत्तरं अजानंतं विवर्जयेत् ॥ ९५८ ॥

अर्थ—जो मुनि बहुतकालसे दीक्षित भी हो परंतु मिथ्यात्व सहित हो स्वेच्छावचन बोलनेवाला हो नीच कामोंमें रत हो

लौकिक और पारलौकिक व्यापारको नहीं जानता हो ऐसे साधुके साथ कभी न रहना चाहिये ॥ ९५८ ॥

आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी ।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु॥९५९

आचार्यकुलं मुक्त्वा विहरति श्रमणश्च यस्तु एकाकी ।
न च गृह्णाति उपदेशं पापश्रमण इति उच्यते तु ॥ ९५९ ॥

अर्थ—जो श्रमण संघको छोड़कर संघरहित अकेला विहार करता है और दिये उपदेशको ग्रहण नहीं करता वह पापश्रमण कहा जाता है ॥ ९५९ ॥

आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊण ।
हिंडइ ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व ॥ ९६० ॥

आचार्यत्वं त्वरितः पूर्वं शिष्यत्वं अकृत्वा ।
हिंडति ढोढाचार्यो निरंकुशो मत्तहस्ती इव ॥ ९६० ॥

अर्थ—जो पहले शिष्यपना न करके आचार्यपना करनेको वेगवान है वह पूर्वापरविवेक रहित ढोढाचार्य है जैसे अंकुशरहित मतवाला हाथी ॥ ९६० ॥

अंबो णिंबत्तणं पत्तो दुरासएण जहा तहा ।
समणं मंदसंवेगं अपुट्ठधम्मं ण सेविज्ज ॥ ९६१ ॥

आम्रो निंबत्वं प्राप्तो दुराश्रयेण यथा तथा ।
श्रमणं मंदसंवेगं अपुष्टधर्मं न सेवेत ॥ ९६१ ॥

अर्थ—जैसे दुष्ट आश्रयकर आम नींबपनेको प्राप्त होजाता है उसीतरह धर्मानुरागमें आलसी समाचाररहित दुष्ट आश्रयवाले मुनिको न सेवे ॥ ९६१ ॥

बीहेदव्वं णिचं दुज्जणवयणा पलोट्टजिब्भस्स ।
वरणयरणिग्गमं मिव वयणकयारं वहंतस्स ॥ ९६२ ॥

भेतव्यं नित्यं दुर्जनवचनात् प्रलोटजिह्वातः ।
वरनगरनिर्गमादिव वचनकचारं वहतः ॥ ९६२ ॥

अर्थ—पूर्वापरभावकी अपेक्षारहित कहनेवाले दुर्जनके वचनसे सदा ही भय करना चाहिये । क्योंकि वह दुर्जनवचन श्रेष्ठनगरके जलके निकलनेके स्थान समान है वह वचनरूपी कूड़ेको धारण करता है ॥ ९६२ ॥

आयरियत्तणमुवणयइ जो मुणी आगमं ण याणंतो ।
अप्पाणंपि विणासिय अण्णेवि पुणो विणासेई ॥९६३॥

आचार्यत्वमुपनयति यो मुनिरागमं न जानन् ।
आत्मानमपि विनाश्य अन्यानपि पुनः विनाशयति॥९६३॥

अर्थ—जो मुनि आगमको नहीं जानता अपनेको आचार्य मान लेता है वह अपना नाश कर दूसरोंको भी नष्ट करता है॥९६३

घोडयलद्दिसमाणस्स बाहिर बगणिहुदकरणचरणस्स ।
अब्भंतरह्मि कुहिदस्स तस्स दु किं बज्झजोगेहिं ९६४

घोटकलादिसमानस्य बाह्येन बकनिभृतकरणचरणस्य ।
अभ्यंतरे कुथितस्य तस्य तु किं बाह्ययोगैः ॥ ९६४ ॥

अर्थ—घोड़ेकी लीदके समान अंतरंगमें कलुषित और बाहिरी वेशसे निश्चलहाथ पांववाले बगलेके समान ऐसे मूलगुण-रहित साधुके बाह्य वृक्षमूलादि योगोंसे क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं ॥ ९६४ ॥

मा होह वासगणणा ण तत्थ वासाणि परिगणिज्जंति ।

बहवो तिरत्तवुत्था सिद्धा धीरा विरग्गपरि समणा ९६५

मा भवतु वर्षगणना न तत्र वर्षाणि परिगण्यंते ।

बहवः त्रिरात्रोत्थाः सिद्धा धीरा वैराग्यपराः श्रमणाः ९६५

अर्थ—वर्षोंकी गणना मत हो क्योंकि मुक्तिके कारणमें वर्ष नहीं गिने जाते । बहुतसे मुनि तीनराततक चारित्र धारणकर धीर और बैरागी हुए कर्मरहित सिद्ध होगये ॥ ९६५ ॥

आगे बंध और उसका कारण कहते हैं;—

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।

भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ९६६

योगनिमित्तं ग्रहणं योगो मनोवचनकायसंभूतः ।

भावनिमित्तो बंधो भावो रतिरागद्वेषमोहयुतः ॥ ९६६ ॥

अर्थ—कर्मका ग्रहण योगके निमित्तसे होता है, योग मनवचनकायसे उपजा है अर्थात् तीनोंकी क्रियाको योग कहते हैं यह द्रव्यबंध है । भावके निमितसे हो वह भावबंध है, मिथ्यात्व असंयम कषाय ये भाव जानना ॥ ९६६ ॥

जीवपरिणामहेदू कम्मत्तण पोग्गला परिणमंति ।

ण दु णाणपरिणदो पुण जीवो कम्मं समादियदि९६७

जीवपरिणामहेतवः कर्मत्वेन पुद्गलाः परिणमंति ।

न तु ज्ञानपरिणतः पुनः जीवः कर्म समादत्ते ॥ ९६७ ॥

अर्थ—जिनको जीवके परिणाम कारण हैं ऐसे रूपादिमान् परमाणु कर्मस्वरूपसे परिणमते हैं परंतु ज्ञानभावकर परिणत हुआ जीव कर्मभावकर पुद्गलोंको नहीं ग्रहण करता ॥ ९६७ ॥

णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवोजुदो ।

कसायगारवुम्मुक्को संसारं तरदे लहु ॥ ९६८ ॥

ज्ञानविज्ञानसंपन्नो ध्यानाध्ययनतपोयुतः ।
कषायगौरवोन्मुक्तः संसारं तरति लघु ॥ ९६८ ॥

अर्थ—जो ज्ञानचारित्र सहित है, ध्यान अध्ययन तप इनकर सहित है और कषाय गौरवकर रहित है वह मुनि संसारसमुद्रको शीघ्र ही तर जाता है ॥ ९६८ ॥

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंपुडो तिगुत्तो य ।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू॥९६९

स्वाध्यायं कुर्वन् पंचेंद्रियसंवृतः त्रिगुप्तश्च ।
भवति च एकाग्रमना विनयेन समाहितो भिक्षुः ॥ ९६९॥

अर्थ—स्वाध्याय करता हुआ साधु पंचेंद्रियोंके संवरयुक्त होता है, तीन गुप्तिवाला होजाता है, ध्यानमें लीन और विनयकरयुक्त होजाता है ॥ ९६९ ॥

बारसविधह्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
णवि अत्थि णवि य होहदि सज्झायसमं तवोकम्मं९७०

द्वादशविधे च तपसि साभ्यंतरबाह्ये कुशलदृष्टे ।
नापि अस्ति नापि च भविष्यति स्वाध्यायसमं तपःकर्म९७०

अर्थ—तीर्थंकर गणधरादिकर दिखाये वा किये गये आभ्यंतर बाह्य भेदयुक्त बारह प्रकारके तपमें स्वाध्यायके समान उत्तम अन्यतप न तो है और न होगा अर्थात् स्वाध्याय ही परम तप है ॥

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण ।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तह पमाददोसेण९७१

सूची यथाससूत्रा न नश्यति तु प्रमाददोषेण ।

एवं ससूत्रपुरुषो न नश्यति तथा प्रमाददोषेण ॥ ९७१ ॥

अर्थ—जैसे सुई सूक्ष्म भी प्रमाददोषसे कूडेमें गिरी हुई डोराकर सहित हुई नष्ट नहीं होती है देखनेसे मिलजाती है उसीतरह शास्त्रस्वाध्याययुक्त पुरुष भी प्रमाददोषसे उत्कृष्ट तप रहित हुआ भी संसाररूपी गड्ढेमें नहीं पड़ता ॥ ९७१ ॥

णिद्दं जिणेहि णिच्चं णिद्दा खलु णरमचेदणं कुणदि ।
वट्टेज्ज हू पसुत्तो समणो सव्वेसु दोसेसु ॥ ९७२ ॥

निद्रां जय नित्यं निद्रा खलु नरमचेतनं करोति ।
वर्तेत हि प्रसुप्तः श्रमणः सर्वेषु दोषेषु ॥ ९७२ ॥

अर्थ—हे साधु तू निद्राको जीत क्योंकि निद्रा मनुष्यको विवेकरहित अचेतन बना देती है । सोता हुआ मुनि सब दोषोंमें प्रवर्तता है ॥ ९७२ ॥

जह उसुगारो उसुमुज्जु कुणई संपिंडियेहिं णयणेहिं ।
तह साहू भावेज्जो चित्तं एयग्गभावेण ॥ ९७३ ॥

यथा इषुकार इषुं ऋजु करोति संपिडिताभ्यां नयनाभ्यां ।
तथा साधुः भावयेत् चित्तं एकाग्रभावेन ॥ ९७३ ॥

अर्थ—जैसे धनुषका कर्ता बाणको मिलाये दोनों नेत्रोंकर सरल करता है उसीतरह साधु भी स्थिर वृत्तिकर मनका अभ्यास करे ॥ ९७३ ॥

कम्मस्स बंधमोक्खो जीवाजीवे य दव्वपज्जाए ।
संसारसरीराणि य भोगविरत्तो सया झाहि ॥ ९७४ ॥

कर्मणो बंधमोक्षौ जीवाजीवौ च द्रव्यपर्यायान् ।
संसारशरीराणि च भोगविरक्तः सदा ध्याय ॥ ९७४ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि कर्मके बंध मोक्षको, जीव अजीव द्रव्योंको तथा उनकी पर्यायोंको और संसार तथा शरीरको भोगोंसे विरक्त हुआ मुनि ध्यावे ॥ ९७४ ॥

दव्वे खेत्ते काले भावे य भवे य होंति पंचेव ।
परिवट्टणाणि वहुसो अणादिकाले य चिंतेज्जो ॥९७५॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालो भावश्च भवश्च भवंति पंचैव ।
परिवर्तनानि बहुशः अनादिकाले च चिंतयेत् ॥ ९७५ ॥

अर्थ—द्रव्यपरिवर्तन क्षेत्रपरिवर्तन कालपरिवर्तन भावपरिवर्तन भवपरिवर्तन–ये पांच परिवर्तन इस जीवने अनादिकालसे लेकर अनेकवार किये ऐसा चिंतवन करना चाहिये ॥ ९७५ ॥

मोहग्गिणा महंतेण दज्झमाणे महाजगे धीरा ।
समणा विसयविरत्ता झायंति अणंतसंसारं ॥ ९७६ ॥

मोहाग्निना महता दह्यमानं महाजगत् धीराः ।
श्रमणा विषयविरक्ता ध्यायंति अनंतसंसारं ॥ ९७६ ॥

अर्थ—महान् मोहरूपी अग्निसे जलते हुए सब लोकको देखकर विषयोंसे विरक्त धीरमुनि अनंतसंसारके स्वरूपका चिंतवन करते हैं ॥ ९७६ ॥

आरंभं च कसायं च ण सहदि तवो तहा लोए ।
अच्छी लवणसमुद्दो य कयारं खलु जहा दिट्ठं ॥९७७

आरंभं च कषायान् च न सहते तपस्तथा लोके ।
अक्षि लवणसमुद्रश्च कचारं खलु यथा दृष्टम् ॥ ९७७ ॥

अर्थ—जैसे नेत्र और लवणसमुद्र तृणादि कूड़ेको नहीं सहन करते तटस्थ करदेते हैं उसीतरह लोकमें तप (चारित्र)

परिग्रहका उपार्जन और कषाय इनको नहीं सहन करसकता बाध कर देता है ॥ ९७७ ॥

जह कोइ सट्ठिवरिसो तीसदिवरिसे णराहिवो जाओ।
उभयत्थ जम्मसद्दो वासविभागं विसेसेइ ॥ ९७८ ॥

यथा कश्चित् षष्ठिवर्षः त्रिंशद्वर्षे नराधिपो जातः ।
उभयत्र जन्मशब्दो वर्षविभागं विशेषयति ॥ ९७८ ॥

अर्थ—जैसे कोई साठ बरसकी आयुवाला पुरुष तीस वर्ष बाद राजा होगया तो राज्य तथा अराज्य दोनों अवस्थाओंमें जन्म शब्द वर्षके क्रमको विशेषरूप करता है ॥ ९७८ ॥

एवं तु जीवदव्वं अणाइणिहणं विसेसियं णियमा ।
रायसरिसो दु केवलपज्जाओ तस्स दु विसेसो ॥९७९॥

एवं तु जीवद्रव्यं अनादिनिधनं विशेष्यं नियमात् ।
राजसदृशस्तु केवलं पर्यायस्तस्य तु विशेषः ॥ ९७९ ॥

अर्थ—जैसे जन्मशब्द राज्यकाल और अराज्यकाल दोनों कालोंमें कहा इसीप्रकार जीवद्रव्य अनादिनिधन नियमसे अनेकप्रकार आधारपनेसे कहा गया है और उसका नारक मनुष्यादिरूप पर्याय केवल राजपर्यायके समान है ॥ ९७९ ॥

जीवो अणाइणिहणो जीवोत्ति य णियमदो ण वत्तव्वो।
जं पुरिसाउगजीवो देवाउगजीवयविसिट्ठो ॥ ९८० ॥

जीवःअनादिनिधनो जीव इति च नियमतो न वक्तव्यः ।
यत् पुरुषायुष्कजीवो देवायुष्कजीवितविशिष्टः ॥ ९८० ॥

अर्थ—यह जीव अनादिनिधन है इस पर्यायविशिष्ट ही जीव है ऐसा एकांतसे नहीं कहना चाहिये क्योंकि जो मनुष्यआयुस-

हित जीव है वही देवायुके जीवन विशिष्ट है । पर्यायसे भेद है वैसे द्रव्य अपेक्षा एक ही है ॥ ९८० ॥

संखेज्जमसंखेज्जमणंतकप्पं च केवलण्णाणं ।
तह रायदोसमोहा अण्णेवि य जीवपज्जाया ॥ ९८१॥

संख्येयमसंख्येयमनंतकल्पं च केवलज्ञानं ।
तथा रागद्वेषमोहा अन्येपि च जीवपर्यायाः ॥ ९८१ ॥

अर्थ—संख्यात विषय मतिज्ञान श्रुतज्ञान असंख्यातविषय अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान अनंत विषय केवलज्ञान है ये तथा राग द्वेष मोह अन्य नारकादि भी–ये सब जीवके पर्याय हैं॥९८१

अकसायं तु चरित्तं कसायवसिओ असंजदो होदि ।
उवसमदि जह्मि काले तक्काले संजदो होदि ॥ ९८२॥

अकषायं तु चारित्रं कषायवशगः असंयतो भवति ।
उपशाम्यति यस्मिन् काले तत्काले संयतो भवति ॥९८२॥

अर्थ—अकषायपनेको चारित्र कहते हैं क्योंकि कषायके वशमें हुआ असंयमी होता है जिस कालमें कषाय नहीं करता उसीकालमें चारित्रवान् होता है ॥ ९८२ ॥

वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं ।
विवाहे रागउप्पत्ति गणो दोसाणमागरो ॥ ९८३ ॥

वरं गणप्रवेशात् विवाहस्य प्रवेशनं ।
विवाहे रागोत्पत्तिः गणो दोषाणामाकरः ॥ ९८३ ॥

अर्थ—साधु कुलमें शिष्यादिमें मोह करनेकी अपेक्षा विवाहमें प्रवेश करना ठीक है । क्योंकि विवाहमें स्त्री आदिके ग्रहणसे

रागकी उत्पत्ति होती है और मण तो कषाय राग द्वेष आदि सब दोषोंकी खानि है ॥ ९८३ ॥

पच्चयभूदा दोसा पच्चयभावेण णत्थि उप्पत्ती ।
पच्चयभावे दोसा णस्संति णिरासया जहा बीयं ॥९८४

प्रत्ययभूता दोषा प्रत्ययाभावेन नास्ति उत्पत्तिः ।
प्रत्ययाभावात् दोषा नश्यंति निराश्रया यथा बीजं ॥९८४॥

अर्थ—मोहके करनेसे राग द्वेषादिक दोष उत्पन्न होते हैं और कारणके अभावसे दोषोंकी उत्पत्ति नहीं होती इसलिये कारणके अभावसे मिथ्यात्व असंयम कषाय योगकर रचे जीवके दोषरूप परिणाम वे निराधार हुए बीजकी तरह निर्मूल क्षयको प्राप्त होते हैं ॥ ९८४ ॥

हेदू पच्चयभूदा हेदुविणासे विणासमुवयंति ।
तह्मा हेदुविणासो कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥ ९८५ ॥

हेतवः प्रत्ययभूता हेतुविनाशे विनाशमुपयांति ।
तस्मात् हेतुविनाशः कर्तव्यः सर्वसाधुभिः ॥ ९८५ ॥

अर्थ—क्रोधादिक हेतु परिग्रहादिके कारण हैं लोभादि हेतुके नाश होनेसे परिग्रहादिक नाशको प्राप्त होते हैं इसलिये सब साधुओंको हेतुका नाश करना चाहिये ॥ ९८५ ॥

जं जं जे जे जीवा पज्जायं परिणमंति संसारे ।
रायस्स य दोसस्स य मोहस्स वसा मुणेयव्वा ॥९८६

यं यं ये ये जीवाः पर्यायं परिणमंति संसारे ।
रागस्य च दोषस्य च मोहस्य वशात् ज्ञातव्याः ॥ ९८६ ॥

अर्थ—इस संसारमें जो जो जीव जिस जिस पर्यायको ग्रहण

करते हैं वे पर्याय राग द्वेष मोहके वशसे ग्रहण की जाती हैं ९८६

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भोवत्थाण कारणं जीवो।
मरदि य मारावेदि य अणंतसो सव्वकालह्मि॥९८७॥

अर्थस्य जीवितस्य च जिह्वोपस्थयोः कारणं जीवः।
म्रियते च मारयति च अनंतशः सर्वकालम्॥ ९८७॥

अर्थ—घर पशु वस्त्रादिकके निमित्त, आत्मरक्षाके लिये और भोजनके कारण, कामके कारण यह जीव आप मरता है और अन्यप्राणियों अनंतवार सदा मारता है॥ ९८७॥

जिब्भोवत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादिसंसारे।
पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जह दाणिं॥ ९८८॥

जिह्वोपस्थनिमित्तं जीवो दुःखं अनादिसंसारे।
प्राप्तः अनंतशः ततः जिह्वोपस्थं जय इदानीं॥ ९८८॥

अर्थ—इस अनादिसंसारमें इस जीवने जिह्वा इंद्रिय और स्पर्शन इंद्रियके कारण ही अनंतवार दुःख पाया इसलिये हे मुने तु जिह्वा और उपस्थ इन दोनों इंद्रियोंको जीत अर्थात् वशमें कर॥ ९८८॥

चदुरंगुला च जिब्भा असुहा चदुरंगुलो उवत्थोवि।
अट्ठंगुलदोसेण दु जीवो दुक्खं हु पप्पोदि॥ ९८९॥

चतुरंगुला च जिह्वा अशुभा चतुरंगुल उपस्थोपि।
अष्टांगुलदोषेण तु जीवो दुःखं हि प्राप्नोति॥ ९८९॥

अर्थ—चार अंगुल प्रमाण अशुभ जिह्वा इंद्रिय और चार अंगुल प्रमाण अशुभ मैथुन इंद्रिय इन आठ अंगुलोंके दोषसे ही यह जीव दुःख पाता है॥ ९८९॥

बीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्सवि तहित्थिरूवस्स ।
हवदि य चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥९९०॥

भेतव्यं नित्यं काष्ठस्थादपि तथा स्त्रीरूपात् ।
भवति च चित्तक्षोभः प्रत्ययभावेन जीवस्य ॥ ९९० ॥

अर्थ—काठसे बने हुए भी स्त्रीरूपसे सदा डरना चाहिये क्योंकि कारणवशसे जीवका मन चलायमान होजाता है ॥ ९९० ॥

घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंतअग्गिसमा ।
तो महिलेयं ढुक्का णट्ठा पुरिसा सिवं गया इदरे॥९९१

घृतभृतघटसदृशः पुरुषः स्त्री ज्वलदग्निसमा ।
तां महिलामंतं ढौकिता नष्टाः पुरुषाः शिवं गता इतरे९९१

अर्थ—पुरुष घीसे भरे हुए घड़ेके समान है, और स्त्री जलती हुई आगके समान है जो पुरुष स्त्रीके समीपको प्राप्त हुए वे नाशको प्राप्त हुए और जो नहीं प्राप्त हुए वे मोक्षको गये ॥९९१

मायाए वहिणीए धूआए मूइय वुड्ढ इत्थीए ।
बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं ॥ ९९२ ॥

मातुः भगिन्या दुहितुः मूकाया वृद्धायाः स्त्रियाः ।
भेतव्यं नित्यं स्त्रीरूपं निरपेक्षं ॥ ९९२ ॥

अर्थ—माता बहिन पुत्री गूंगी बुड्ढी ऐसी स्त्रीसे सदा डरना चाहिये । क्योंकि स्त्रीका रूप देखनेयोग्य नहीं है ॥ ९९२ ॥

हत्थपादपरिच्छिण्णं कण्णणासवियप्पियं ।
अविवास सदिं णारिं दूरिदो परिवज्जए ॥ ९९३ ॥

हस्तपादपरिच्छिन्नां कर्णनासाविकल्पितां ।
अविवाससं सतीं नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ९९३ ॥

अर्थ—हाथकर छिन्न पांवसे छिन्न कानसे बहिरी नाकसे हीन वस्त्ररहित (नंगी) ऐसी भी स्त्रीको दूरसे त्याग देना चाहिये ॥

मण बंभचेर वचि बंभचेर तह काय बंभचेरं च ।
अहवा हु बंभचेरं दव्वं भावं ति दुवियप्पं ॥ ९९४ ॥

मनसि ब्रह्मचर्यं वचसि ब्रह्मचर्यं तथा काये ब्रह्मचर्यं च ।
अथवा हि ब्रह्मचर्यं द्रव्यं भावमिति द्विविकल्पं ॥ ९९४ ॥

अर्थ—मनमें ब्रह्मचर्य वचनमें ब्रह्मचर्य और कायमें ब्रह्मचर्य-ऐसे तीनप्रकार ब्रह्मचर्य है । अथवा प्रगटपने द्रव्य भावके भेदसे दोतरहका है ॥ ९९४ ॥

भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई ।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी ॥९९५

भावविरतस्तु विरतो न द्रव्यविरतस्य सुगतिः भवति ।
विषयवनरमणलोलो धारयितव्यः तेन मनोहस्ती ॥९९५॥

अर्थ—जो अंतरंगमें विरक्त है वही विरक्त है बाह्यवृत्तिसे विरक्त होनेवालेकी शुभगति नहीं होती । इसलिये मनरूपी हाथी जोकि विषयवनमें क्रीडालंपट है उसे रोकना चाहिये ॥९९५

पढमं विउलाहारं बिदियं कायसोहणं ।
तदियं गंधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं ॥ ९९६ ॥
तह सयणसोधणंपि य इत्थिसंसग्गंपि अत्थसंगहणं ।
पुव्वरदिसरणमिंदियविसयरदी पणीदरससेवा ॥९९७
दसविहमव्वंभमिणं संसारमहादुहाणमावाहं ।
परिहरइ जो महप्पा सो दढबंभव्वदो होदि ॥९९८॥

प्रथमं विपुलाहारः द्वितीयं कायशोधनं ।

तृतीयं गंधमाल्यानि चतुर्थं गीतवादित्रं ॥ ९९६ ॥
तथा शयनशोधनमपि च स्त्रीसंसर्गोपि अर्थसंग्रहणं ।
पूर्वरतिस्मरणं इंद्रियविषयरतिः प्रणीतरससेवा ॥ ९९७ ॥
दशविधमब्रह्म इदं संसारमहादुःखानामावाहं ।
परिहरति यो महात्मा स दृढब्रह्मव्रतो भवति ॥ ९९८ ॥

अर्थ—प्रथम तो बहुत भोजन करना, दूसरा तैलादिसे शरीरका संस्कार, तीसरा सुगंध पुष्पमाला आदि, चौथा गायन वाजा अब्रह्मचर्य । शय्या क्रीडाघर चित्रशाला आदि एकांतस्थानोंका तलाश करना कटाक्षसे देखनेवाली स्त्रियोंके साथ खेल करना, आभूषण वस्त्रादिका पहरना, पूर्वसमयके भोगोंकी याद, रूपादि विषयोंमें प्रेम, इष्ट पुष्टरसका सेवन—इसतरह ये दसतरहका अब्रह्मचर्य संसारके महा दुःखोंका स्थान है इसको जो महात्मा संयमी त्यागता है वही दृढ ब्रह्मचर्यव्रतका धारी होता है ॥ ९९६–९९८ ॥

कोहमदमायलोहेहिं परिग्गहे लयइ संसजइ जीवो ।
तेणुभयसंगचाओ कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥ ९९९ ॥
क्रोधमदमायालोभैः परिग्रहे लगति संसजति जीवः ।
तेनोभयसंगत्यागः कर्तव्यः सर्वसाधुभिः ॥ ९९९ ॥

अर्थ—क्रोध मान माया लोभ इन करके यह जीव परिग्रहमें लीन होता है और ग्रहण करता है इसलिये सब साधुओंको दोनोंतरहके परिग्रहका त्याग करना योग्य है ॥ ९९९ ॥

णिस्संगो णिरारंभो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो य ।
एगागी झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो ॥ १०००॥

निःसंगो निरारंभो भिक्षाचर्यायां शुद्धभावश्च ।
एकाकी ध्यानरतः सर्वगुणाढ्यो भवेत् श्रमणः ॥१०००॥

अर्थ—दोनोंतरहके परिग्रहके अभाव होनेसे साधु मूर्छारहित होता है, पापक्रियासे रहित होता है, भिक्षाचर्यामें शुद्धभाव होता है, एकाकी ध्यानमें लीन होता है, और सबगुणोंसे परिपूर्ण होता है ॥ १००० ॥

णामेण जहा समणो ठावणिए तहय दव्वभावेण ।
णिक्खेवो वीह तहा चदुव्विहो होइ णायव्वो ॥

नाम्ना यथा श्रवणः स्थापनया तथा च द्रव्यभावेन ।
निक्षेपोपि इह तथा चतुर्विधो भवति ज्ञातव्यः ॥१००१॥

अर्थ—नामकरके श्रमण, स्थापनासे श्रमण, द्रव्यसे श्रमण और भावसे श्रमण—इसतरह यहां चार तरहका निक्षेप जानना ॥

भावसमणा हु समणा ण सेससमणाण सुग्गई जम्हा ।
जहिऊण दुविहमुवहिं भावेण सुसंजदो होह ॥१००२

भावश्रमणा हि श्रमणा न शेषश्रमणानां सुगतिर्यस्मात् ।
जहित्वा द्विविधमुपधिं भावेन सुसंयतो भव ॥ १००२ ॥

अर्थ—भावश्रमण हैं वे ही श्रमण हैं क्योंकि शेष नामादि श्रमणोंकी सुगति नहीं होती । इसलिये दोप्रकारके परिग्रहको त्यागकर उत्तम संयमी हो ॥ १००२ ॥

वदसीलगुणा जम्हा भिक्खाचरियाविसुद्धिए ठंति ।
तम्हा भिक्खाचरियं सोहिय साहू सदा विहारिज्ज ॥

व्रतशीलानि गुणा यस्मात् भिक्षाचर्याया विशुद्ध्यां तिष्ठंति ।
तस्मात् भिक्षाचर्यां शोधयित्वा साधुः सदा विहरेत् १००३

अर्थ—व्रत शील और गुण भिक्षाचर्याकी शुद्धिमें रहते हैं इसलिये भिक्षाचर्याको सोधकर साधु सदा प्रवर्ते ॥ १००३ ॥

भिक्खं वक्कं हिययं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साधू ।
एसो सुट्ठिद साहू भणिओ जिणसासणे भयवं ॥

भिक्षां वाक्यं हृदयं शोधित्वा यः चरति नित्यं स साधुः ।
एष सुस्थितः साधुर्भणितो जिनशासने भगवान् ॥१००४॥

अर्थ—जो साधु भिक्षाको वाक्यको हृदयको सोधकर सदा चारित्रमें उद्यम करता है वह सबगुणसंपन्न साधु जैनमतमें भगवान् कहा गया है ॥ १००४ ॥

दव्वं खेत्तं कालं भावं सत्तिं च सुट्ठु णाऊण ।
झाणज्झयणं च तहा साहू चरणं समाचरउ ॥ १००५

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं शक्तिं च सुष्ठु ज्ञात्वा ।
ध्यानमध्ययनं च तथा साधुश्चरणं समाचरतु ॥ १००५ ॥

अर्थ—आहारादि द्रव्य क्षेत्र काल भाव शक्तिको अच्छी तरह जानकर तथा ध्यान अध्ययनको जानकर साधु चारित्रका सेवन करे ॥ १००५ ॥

चाओ य होइ दुविहो संगच्चाओ कलत्तचाओ य ।
उभयचायं किच्चा साहू सिद्धिं लहू लहदि ॥ १००६ ॥

त्यागश्च भवति द्विविधः संगत्यागः कलत्रत्यागश्च ।
उभयत्यागं कृत्वा साधुः सिद्धिं लघु लभते ॥ १००६ ॥

अर्थ—त्याग दोप्रकार है एक परिग्रहत्याग दूसरा स्त्रीत्याग । साधु दोनोंका त्याग करके शीघ्र ही मोक्ष पाता है ॥ १००६ ॥

पुढवीकायिगजीवा पुढवीए चावि अस्सिदा संति ।

तम्हा पुढवीए आरंभे णिच्चं विराहणा तेसिं ॥ १००७

पृथिवीकायिकजीवाः पृथिव्याः चापि आश्रिताः संति ।
तस्मात् पृथिव्या आरंभे नित्यं विराधना तेषां ॥ १००७ ॥

अर्थ—पृथिवीकायिक जो जीव हैं और जो पृथिवी आश्रित त्रस जीव हैं उन सबका घात पृथिवीके खोदने जलानेरूप आरंभ करनेसे सदा होता है ॥ १००७ ॥

तम्हा पुढविसमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
जिणमग्गाणुचारीणं जावज्जीवं ण कप्पई ॥ १००८ ॥

तस्मात् पृथिवीसमारंभो द्विविधः त्रिविधेनापि ।
जिनमार्गानुचारिणां यावज्जीवं न कल्प्यते ॥ १००८ ॥

अर्थ—जिस कारण समारंभमें हिंसा है इसलिये पृथिवीका दोप्रकारका समारंभ मनवचनकायसे जिनमार्गके अनुकूल चारित्र पालनेवाले साधुओंको जीवनपर्यंत करना योग्य नहीं है ॥१००८॥

जो पुढविकाइजीवे णवि सद्दहदि जिणेहिं णिद्दिट्ठे ।
दूरत्थो जिणवयणे तस्स उवट्ठावणा णत्थि ॥१००९॥

यः पृथिवीकायजीवान् नापि श्रद्दधाति जिनैः निर्दिष्टान् ।
दूरस्थो जिनवचनात् तस्य उपस्थापना नास्ति ॥ १००९ ॥

अर्थ—जो जिनेंद्रदेवकर कहे गये पृथिवीकायिक जीवोंका श्रद्धान नहीं करता वह जिनवचनोंसे दूर रहनेवाला है उसके सम्यग्दर्शनादिमें स्थिति नहीं है ॥ १००९ ॥

जो पुढविकायजीवे अइसद्दहदे जिणेहिं पण्णत्ते ।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥ १०१० ॥

यः पृथिवीकायिकजीवान् अतिश्रद्दधाति जिनैः प्रज्ञप्तान् ।

उपलब्धपुण्यपापस्य तस्योपस्थापना अस्ति ॥ १०१० ॥

अर्थ—जो जिनदेवकर कहे गये पृथिवीकायिक जीवोंका अत्यंत श्रद्धान करता है पुण्यपाप जाननेवाले उस पुरुषके मोक्षमार्गमें स्थिति अवश्य है ॥ १०१० ॥

ण सद्दहदि जो एदे जीवे पुढविदं गदे ।
स गच्छे दिग्घमद्धाणं लिंगत्थोवि हु दुम्मदी ॥१०११

न श्रद्दधाति य एतान् जीवान् पृथिवीत्वं गतान् ।
स गच्छेत् दीर्घमध्वानं लिंगस्थोपि हि दुर्मतिः १०११ ॥

अर्थ—जो पृथिवीपनेको प्राप्त हुए जीवोंका श्रद्धान नहीं करता वह नग्नत्व चिन्हकर सहित भी दुर्बुद्धि दीर्घ संसारको प्राप्त होता है ॥ १०११ ॥

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये ।
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण वज्झदि ॥ १०१२

कथं चरेत् कथं तिष्ठेत् कथमासीत कथं शयीत ।
कथं भुंजीत भाषेत कथं पापं न बध्यते ॥ १०१२ ॥

अर्थ—इस प्रकार कहे गये क्रमकर जीवोंसे भरे जगतमें साधु किसतरह गमन करे, कैसे तिष्ठे, कैसे बैठे, कैसे सोये, कैसे भोजन करे, कैसे बोले, किस तरह पापसे न बंधे ? ऐसा शिष्यने प्रश्न किया ॥ १०१२ ॥

अब उसका उत्तर कहते हैं;—

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई ॥ १०१३ ॥

यतं चरेत् यतं तिष्ठेत् यतमासीत यतं शयीत ।

यतं भुंजीत भाषेत एवं पापं न बध्यते ॥ १०१३ ॥

अर्थ—यत्नाचारसे (ईर्यापथशुद्धिसे) गमन करे, महाव्रतादि यत्नसे तिष्ठे, पीछीसे शोधकर बैठे, सोधकर रात्रिमें एक पार्श्वसे सोवे, दोषरहित आहार करे, भाषासमितिके क्रमसे बोले–इस प्रकारसे पाप नहीं बंध सकता ॥ १०१३ ॥

जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥ १०१४ ॥

यत्नेन तु चरतः दयाप्रेक्षिणो भिक्षोः ।
नवं न बध्यते कर्म पुराणं च विधूयते ॥ १०१४ ॥

अर्थ—यत्नसे आचरण करते और दया पालते हुए साधुके नवीन कर्म तो बंधता ही नहीं और पुराने कर्म भी क्षय होते जाते हैं ॥ १०१४ ॥

एवं विधाणचरियं जाणित्ता आचरिज्ज जो भिक्खू ।
णासेऊण दु कम्मं दुविहंपि य लहु लहइ सिद्धिं १०१५

एवं विधानचरितं ज्ञात्वा आचरेत् यो भिक्षुः ।
नाशयित्वा तु कर्म द्विविधमपि च लघु लभते सिद्धिं १०१५

अर्थ—इसप्रकार क्रियाके अनुष्ठानको जानकर जो मुनि आचरण करता है वह साधु शुभ अशुभ दोप्रकारके कर्मोंका नाशकर शीघ्र ही मोक्षको पाता है ॥ १०१५ ॥

इसप्रकार आचार्यश्रीवट्टकेरिविरचित **मूलाचार**की हिंदी-
भाषाटीकामें समयके सारको कहनेवाला
दशवां **समयसाराधिकार**
समाप्त हुआ ॥ १० ॥

शीलगुणाधिकार ॥ ११ ॥

आगे मंगलाचरणपूर्वक शीलगुण कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;-

सीलगुणालयभूदे कल्लाणविसेसपाडिहेरजुदे ।
वंदित्ता अरहंते सीलगुणे कित्तइस्सामि ॥ १०१६ ॥

शीलगुणालयभूतान् कल्याणविशेषप्रातिहार्ययुतान् ।
वंदित्वा अर्हतः शीलगुणान् कीर्तयिष्यामि ॥ १०१६ ॥

अर्थ—व्रतकी रक्षारूप शील और संयमके भेदरूप गुण इनके आधारभूत तथा पंच कल्याण चौंतीस अतिशय आठ प्रातिहार्योंकर सहित ऐसे अर्हंत भगवानको नमस्कार करके अब मैं शील और गुणोंको कहता हूं ॥ १०१६ ॥

अब शीलोंके भेद कहते हैं;-

जोए करणे सण्णा इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य ।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारहसीलसहस्साइं ॥१०१७

योगाः करणानि संज्ञा इंद्रियाणि भ्वादयः श्रमणधर्मश्च ।
अन्योन्यं अभ्यस्ता अष्टादशशीलसहस्राणि ॥ १०१७ ॥

अर्थ—तीन योग तीन करण चार संज्ञा पांच इंद्रिय दश पृथिव्यादिक काय, दश मुनि धर्म-इनको आपसमें गुणा करनेसे अठारह हजार शील होते हैं ॥ १०१७ ॥

तिण्हं सुहसंजोगो जोगो करणं च असुहसंजोगो ।
आहारादी सण्णा फासंदिय इंदिया णेया ॥ १०१८॥

त्रयाणां शुभसंयोगो योगः करणं च अशुभसंयोगः ।
आहारादयः संज्ञाः स्पर्शनादयः इंद्रियाणि ज्ञेयानि १०१८

अर्थ—मन वचन कायका शुभकर्मके ग्रहण करनेकेलिये व्यापार वह योग है और अशुभकेलिये प्रवृत्ति वह करण है। आहारादि चार संज्ञा हैं, स्पर्शन आदि पांच इंद्रियें हैं ऐसा जानना॥१०१८

पुढविदगागणिमारुदपत्तेयअणंतकायिया चेव ।
विगतिगचदुपंचेंदिय भोम्मादि हवंति दस एदे १०१९

पृथिव्युदकाग्निमारुतप्रत्येकानंतकायिकाश्चैव ।
द्वित्रिचतुःपंचेंद्रिया भ्वादयो भवंति दशैते ॥ १०१९ ॥

अर्थ—पृथिवी जल तेज वायु प्रत्येकवनस्पति साधारण वनस्पति, दो इंद्रिय ते इंद्रिय चौइंद्री पंचेंद्री–ये पृथिवी आदि दस हैं ॥ १०१९ ॥

खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो अकिंचणदा ।
तह होदि बंभचेरं सच्चं चागो य दस धम्मा ॥ १०२०

क्षांतिः मार्दवमार्जवं लाघवं तपः संयमः अकिंचनता ।
तथा भवति ब्रह्मचर्यं सत्यं त्यागश्च दश धर्माः ॥१०२०॥

अर्थ—उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच तप संयम आर्किंचन्य ब्रह्मचर्य सत्य त्याग ये दस मुनिधर्म हैं ॥ १०२० ॥

आगे शीलोंके उच्चारणका क्रम कहते हैं;–

मणगुत्ते मुणिवसहे मणकरणोम्मुक्कसुद्धभावजुदे ।
आहारसण्णविरदे फासिंदियसंपुडे चेव ॥ १०२१ ॥
पुढवीसंजमजुत्ते खंतिगुणसंजुदे पढमसीलं ।
अचलं ठादि विसुद्धे तहेव सेसाणि णेयाणि ॥१०२२॥

मनोगुप्तस्य मुनिवृषभस्य मनःकरणोन्मुक्तशुद्धभावयुक्तस्य ।
आहारसंज्ञाविरतस्य स्पर्शनेंद्रियसंवृतस्य चैव ॥ १०२१ ॥

पृथिवीसंयमयुक्तस्य क्षांतिगुणसंयुक्तस्य प्रथमशीलं ।
अचलं तिष्ठति विशुद्धस्य तथैव शेषाणि ज्ञेयानि ॥१०२२॥

अर्थ—मनकर गुप्त मनकरणसे रहित शुद्धभावसहित आहार संज्ञासे विरक्त स्पर्शन इंद्रियमें संवृत पृथिवीकायसंयमसहित क्षमागुण युक्त शुद्ध चारित्रवाले ऐसे मुनिराजके पहला शील मनोयोग नामवाला स्थिर रहता है। इसी तरह शेष (बाकी) शीलोंके भेद भी जानना ॥ १०२१-१०२२ ॥

अब गुणोंके सब भेद बतलाते हैं;-

इगवीस चतुर सदिया दस दस दसगाय आणुपुव्वीय ।
हिंसादिक्कमकायाविराहणालोयणासोही ॥ १०२३ ॥

एकविंशतिः चत्वारः शतानि दश दश दश च आनुपूर्व्या ।
हिंसाद्यतिक्रमकायविराधनालोचनाशुद्धयः ॥ १०२३ ॥

अर्थ—हिंसादि अतिक्रम काय विराधना आलोचना शुद्धि इनके क्रमसे इकीस चार सौ दश दश दश भेदोंको आपसमें गुणा करनेसे चौरासी लाख गुणोंके भेद होते हैं ॥ १०२३ ॥

पाणिवह मुसावादं अदत्तमेहुण परिग्गहं चेव ।
कोहमदमायलोहा भय अरदिरदी दुगुंछाय ॥१०२४॥
मणवयणकायमंगुल मिच्छादंसण पमादो य ।
पिसुणत्तणमण्णाणं अणिग्गहो इंदियाणं च ॥१०२५

प्राणिवधो मृषावाद अदत्तं मैथुनं परिग्रहश्चैव ।
क्रोधमदमायालोभा भयमरतिः जुगुप्सा च ॥ १०२४ ॥
मनोवचनकायमंगुलं मिथ्यादर्शनं प्रमादश्च ।
पिशुनत्वमज्ञानं अनिग्रह इंद्रियाणां च ॥ १०२५ ॥

अर्थ—हिंसा झूठ चोरी अब्रह्म परिग्रह क्रोध मान माया लोभ भय अरति रति जुगुप्सा मनोमंगुल वचनमंगुल कायमंगुल मिथ्यादर्शन प्रमाद पैशून्य अज्ञान इंद्रियोंका अनिग्रह—ये हिंसादि इक्कीस भेद हैं ॥ १०२४-१०२५ ॥

अदिकमणं वदिक्कमणं अदिचारो तहेव अणाचारो।
एदेहिं चतुहिं पुणो सावज्जो होइ गुणियव्वो ॥१०२६

अतिक्रमणं व्यतिक्रमणं अतीचारः तथैव अनाचारः।
एतैः चतुर्भिः पुनः सावद्यो भवति गुणितव्यः ॥१०२६॥

अर्थ—संयमीकी विषयाभिलाषा अतिक्रमण है, विषयोपकरणका उपार्जन वह व्यतिक्रमण है, व्रतमें शिथिलता तथा कुछ असंयमका सेवन वह अतीचार है व्रतका सर्वथा भंग वह अनाचार है। इसतरह अतिक्रमादि चारको गुणा करना ॥ १०२६ ॥

पुढविदगागणिमारुयपत्तेयाणंतकाइया चेव।
वियतियचदुपंचेंदियअण्णोण्णवघाय दसगुणिया ॥

पृथिव्युदकाग्निमारुतप्रत्येकानंतकायिकाश्चैव।
द्वित्रिचतुःपंचेंद्रिया अन्योन्यघ्नाश्च दशगुणिताः ॥१०२७॥

अर्थ—पृथिवी जल अग्नि वायुकायिक प्रत्येकवनस्पति साधारणवनस्पतिकायिक, दो इंद्रिय तेइंद्री चौइंद्री पंचेंद्री इन दशको आपसमें गुणा करनेसे सौ होते हैं। फिर पहले चौरासी भेदोंसे गुणा करनेसे चौरासीसौ भेद हुए ॥ १०२७ ॥

इत्थीसंसग्गी पणिदरसभोयण गंधमल्लसंठप्पं।
सयणासणभूसणयं छट्ठं पुण गीयवाइयं चेव ॥ १०२८
अत्थस्स संपओगो कुसीलसंसग्गि रायसेवा य।

रत्तीविय संचरणं दस सीलविराहणा भणिया १०२९

स्त्रीसंसर्गः प्रणीतरसभोजनं गंधमाल्यसंस्पर्शः ।
शयनासनभूषणानि षष्ठं पुनः गीतवादित्रं चैव ॥१०२८॥
अर्थस्य संप्रयोगः कुशीलसंसर्गः राजसेवा च ।
रात्रौ अपि च संचरणं दश शीलविराधना भणिताः १०२९

अर्थ—स्त्रीओंके साथ स्नेह, पुष्ट आहारका ग्रहण, सुगंध द्रव्य और पुष्पोंकी मालाका धारण रूप शरीर संस्कार, कोमल शय्या, कोमल आसन, कटक आदि आभूषण धारण करना, गीत वांसरी आदि वाजा, सुवर्ण आदि धनका संग्रह, कुशीली जनोंकी संगति, राजसेवा, विना कारण रात्रिमें चलना—ये दस शीलकी विराधना (नाशक) कहीं हैं । इनसे गुणें तो चौरासी हजार भेद होते हैं ॥ १०२८–१०२९ ॥

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं वादरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाकुलियं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १०३०॥

आकंपितं अनुमानितं यद् दृष्टं बादरं च सूक्ष्मं च ।
छन्नं शब्दाकुलितं बहुजनमव्यक्तं तत्सेवी ॥ १०३० ॥

अर्थ—आकंपित अनुमानित दृष्ट वादर सूक्ष्म प्रच्छन्न शब्दाकुलित बहुजन अव्यक्त तत्सेवी—ये दस आलोचना दोष हैं । इनको गुणनेसे आठ लाख चालीस हजार भेद हुए ॥ १०३० ॥

आगे शुद्धिरूप प्रायश्चितके दस भेद कहते हैं;—

आलोयण पडिक्कमणं उभय विवेगो तधा विउस्सग्गो ।
तव छेदो मूलंपि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥ १०३१

आलोचनं प्रतिक्रमणं उभयं विवेकः तथा व्युत्सर्गः ।

तपश्छेदो मूलमपि च परिहारश्चैव श्रद्धानं ॥ १०३१ ॥

अर्थ—आलोचना प्रतिक्रमण उभय विवेक व्युत्सर्ग तप छेद मूल परिहार श्रद्धान इन दस भेदोंको गुणनेसे चौरासी लाख भेद गुणोंके होते हैं। इन सब भेदोंमें जहां दोष कहे गये हों उनके विपरीत गुण समझना ॥ १०३१ ॥

इस तरह चौरासी लाख गुण हैं।

पाणादिवादविरदे अतिकमणेदोसकरणउम्मुके।
पुढवीए पुढवीपुणरारंभसु संजदे धीरे ॥ १०३२ ॥
इत्थीसंसग्गविजुदे आकंपियदोसकरणउम्मुके।
आलोयणसोधिजुदे आदिगुणो सेसया णेया ॥१०३३

प्राणातिपातविरतस्य अतिक्रमणदोषकरणोन्मुक्तस्य।
पृथिव्या पृथिवीपुनरारंभेषु संयतस्य धीरस्य ॥ १०३२ ॥
स्त्रीसंसर्गवियुतस्य आकंपितदोषकरणोन्मुक्तस्य।
आलोचनशुद्धियुतस्य आदिगुणः शेषा ज्ञेयाः ॥ १०३३ ॥

अर्थ—हिंसासे रहित अतिक्रमणदोष करनेसे रहित पृथिवी-कायसे तथा पृथिवीकायिककी पीडा—विराधनासे रहित स्त्रीकी संगतिसे रहित आकंपित दोषके करनेसे रहित आलोचनकी शुद्धिकर युक्त संयमी धीर वीर मुनिके पहिला गुण अहिंसानामा होता है। इसीतरह अन्यगुण भी जानना ॥ १०३२-१०३३ ॥

सीलगुणाणं संखा पत्थारो अक्खसंकमो चेव।
णट्ठं तह उद्दिट्ठं पंचवि वत्थूणि णेयाणि ॥ १०३४ ॥

शीलगुणानां संख्या प्रस्तारः अक्षसंक्रमश्चैव।
नष्टं तथा उद्दिष्टं पंचापि वस्तूनि ज्ञेयानि ॥ १०३४ ॥

अर्थ—शील और गुणोंकी संख्या प्रस्तार अक्षसंक्रम नष्ट उद्दिष्ट—ये पांच वस्तु जाननी ॥ १०३४ ॥

सव्वेपि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु ।
मेलंतेत्तिय कमसो गुणिदे उप्पज्जदे संखा ॥ १०३५ ॥

सर्वानपि पूर्वभंगान् उपरि भंगेषु एकमेकं ।
मेलयित्वा क्रमशो गुणिते उत्पद्यते संख्या ॥ १०३५ ॥

अर्थ—शील गुणोंके सभी पूर्वभेदोंको ऊपरले भंगोंमें मिलाके एक एकको क्रमसे गुणा करनेपर दोनोंकी संख्या वनजाती है ॥

पढमं सीलपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च ।
पिंडं पडि एक्केक्कं णिक्खित्ते होइ पत्थारो ॥ १०३६ ॥

प्रथमं शीलप्रमाणं क्रमेण निक्षिप्य उपरि मानं च ।
पिंडं प्रति एकमेकं निक्षिप्ते भवति प्रस्तारः ॥ १०३६ ॥

अर्थ—प्रथम जो मनवचनकायका त्रिक वह शीलप्रमाण है उसे विरलनकर (जुदा जुदा एक एक वखेर) पीछे क्रमसे एक एक भेद प्रति एक एक ऊपरका तीनकरणरूप पिंड स्थापनकरना इस तरह पिंडके प्रति एक एक रखनेसे प्रस्तार होता है॥१०३६॥

यह सम प्रस्तार कहा । अब विषम प्रस्तार कहते हैं;—

णिक्खित्तु बिदियमेत्तं पढमं तस्सुवरि बिदियमेक्केक्कं ।
पिंडं पडि णिक्खित्ते तहेव सेसावि कादव्वा ॥१०३७

निक्षिप्य द्वितीयमात्रं प्रथमं तस्योपरि द्वितीयमेकैकं ।
पिंडं प्रति निक्षिप्ते तथैव शेषा अपि कर्तव्याः ॥ १०३७ ॥

अर्थ—प्रथम मनवचनकायत्रिकको द्वितीयत्रिकमात्र तीन वार स्थापि उसके ऊपर दूसरा करणत्रिक एक एक द्वितीय प्रमाण

तीन वार स्थापे । इस तरह एक पिंडके ऊपर दूसरा स्थापन करनेसे प्रस्तार होता है । इसीतरह अन्य भी पिंड कर लेना १०३७

पढमक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णिवि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥

प्रथमाक्षः अंतगत आदिगते संक्रामति द्वितीयाक्षः ।
द्वावपि गत्वांतं आदिगते संक्रामति तृतीयाक्षः ॥१०३८॥

अर्थ—प्रथमभेद अंतको प्राप्त हो उसके वाद आदिको प्राप्त होनेपर द्वितीय अक्ष (करणरूप भेद) पलटता है उसके वाद दोनों अक्ष अंतको प्राप्त होकर आदिको प्राप्त हों तब तीसरा अक्ष पलटता है । इसतरह अन्य अक्ष भी जानना ॥ १०३८ ॥

सगमाणेहिं विहत्ते सेसं लक्खित्तु संखिवे रूवं ।
लक्खिज्जंतं सुद्धे एवं सव्वत्थ कायव्वं ॥ १०३९ ॥

स्वकमानैः विभक्ते शेषं लक्षयित्वा संक्षिपेत् रूपं ।
लक्षिणमंते शुद्धे एवं सर्वत्र कर्तव्यं ॥ १०३९ ॥

अर्थ—अपने प्रमाण योगादिकोंसे भाग देनेपर शेषको जान एक मिलाये भाग देनेपर कुछ न रहे तो अक्ष अंतमें स्थित हुआ । इसप्रकार सब जगह शील गुणोंमें करना योग्य है॥१०३९

संठाविदूण रूवं उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे । पं. ग्रंथ
अवणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा पढमंति याचेव ॥१०४०॥

संस्थाप्य रूपं उपरितः संगुणय्य स्वकमानैः ।
अपनीय अनंकितं कुर्यात् प्रथमांतं यावच्चैव ॥ १०४० ॥

अर्थ—एकको स्थापन कर ऊपरसे आरंभकर अपने प्रमाणसे गुणें जो प्रमाण हो उसमें अनंकित स्थानका प्रमाण प्रथमको

आरंभकर अंतपर्यंत घटाना। इसीतरहका कथन गौमटसारमें प्रमादके भंगोंमें विस्तारसे कहा है ॥ १०४० ॥

एवं सीलगुणाणं सुत्तत्थवियप्पदो वियाणित्ता।
जो पालेदि विसुद्धो सो पावदि सव्वकल्लाणं ॥१०४१

एवं शीलगुणानां सूत्रार्थविकल्पतः विज्ञाय।
यः पालयति विशुद्धः स प्राप्नोति सर्वकल्याणं ॥ १०४१ ॥

अर्थ—इस प्रकार शील और गुणोंको सूत्र अर्थ और भेदोंसे जानकर जो पुरुष पालता है वह कर्मोंसे रहित हुआ मोक्षको पाता है ॥ १०४१ ॥

इसप्रकार आचार्यश्रीवट्टकेरिविरचित **मूलाचारकी**
हिंदीभाषाटीकामें शील और गुणोंको कहने-
वाला ग्यारवां **शीलगुणाधिकार**
समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

पर्याप्ति-अधिकार ॥ १२ ॥

आगे मंगलाचरणपूर्वक पर्याप्ति कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं;—

काऊण णमोक्कारं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।
पज्जत्तीसंगहणी वोच्छामि जहाणुपुव्वीयं ॥ १०४२ ॥

कृत्वा नमस्कारं सिद्धेभ्यः कर्मचक्रमुक्तेभ्यः।
पर्याप्तिसंग्रहिणीं वक्ष्ये यथानुपूर्वम् ॥ १०४२ ॥

अर्थ—कर्मरूपी चक्रसे छूटे हुए ऐसे सिद्धोंको नमस्कार

करके मैं अब पर्याप्तिके अधिकारको पूर्व कथित आगमके अनुसार कहता हूं ॥ १०४२ ॥

पज्जत्ती देहोवि य संठाणं कायइंदियाणं च ।
जोणी आउ पमाणं जोगो वेदो य लेस पविचारो ॥१०४३॥
उववादो वट्टणमो ठाणं च कुलं च अप्पबहुठो य ।
पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधो य सुत्तपदा ॥ १०४४

पर्याप्तयो देहोपि च संस्थानं कायेंद्रियाणां च ।
योनय आयुः प्रमाणं योगो वेदश्च लेश्या प्रविचारः १०४३
उपपाद उद्वर्तनं स्थानं च कुलानि च अल्पबहुत्वं च ।
प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधश्च सूत्रपदानि ॥ १०४४ ॥

अर्थ—पर्याप्ति शरीर कायकी रचना इंद्रिय संस्थान योनि आयु आयुदेहका प्रमाण योग वेद लेश्या प्रविचार उपपाद उद्वर्तन जीवस्थानादि स्थान कुल अल्पबहुत्व प्रकृतिबंध स्थितिबंध अनुभागबंध प्रदेशबंधरूप बंध–ये सोलह सूत्र अथवा भेदसे बीससूत्र होते हैं उनका कथन क्रमसे करते हैं ॥ १०४३–१०४४ ॥

आहारे य सरीरे तह इंदिय आणपाण भासाए ।
होंति मणोवि य कमसो पज्जत्तीओ जिणक्खादा१०४५

आहारस्य च शरीरस्य तथा इंद्रियस्य आनप्राणयोः भाषायाः।
भवंति मनसोपि च क्रमशः पर्याप्तयो जिनाख्याताः १०४५

अर्थ—आहार पर्याप्ति (निष्पत्ति) शरीर पर्याप्ति इंद्रियकी पर्याप्ति श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति भाषापर्याप्ति मनःपर्याप्ति–ऐसे छह पर्याप्ति जिनदेवने कहीं हैं ॥ १०४५ ॥

एइंदियेसु चत्तारि होंति तह आदिदो य पंच भवे ।

वेइंदियादियाणं पज्जत्तीओ असण्णित्ति ॥ १०४६ ॥

एकेंद्रियेषु चतस्रो भवंति तथा आदितश्च पंच भवंति ।
द्वींद्रियादिकानां पर्याप्तयः असंज्ञीति ॥ १०४६ ॥

अर्थ—पृथ्वीकाय आदि एक इंद्रियवालोंके आदिकी चार पर्याप्ति होतीं हैं और दो इंद्रियको आदि लेकर असैनी पंचेंद्रिय पर्यंत पांच पर्याप्ति होती हैं ॥ १०४६ ॥

छप्पि य पज्जत्तीओ बोधव्वा होंति सण्णिकायाणं ।
एदाहिं अणिव्वत्ता ते दु अपज्जत्तया होंति ॥१०४७॥

षडपि च पर्याप्तयो बोद्धव्या भवति संज्ञिकायानां ।
एताभिः अनिर्वृतास्ते तु अपर्याप्तका भवंति ॥ १०४७ ॥

अर्थ—आहारादि छहों पर्याप्ति संज्ञी पंचेंद्रियजीवोंके होती है । इन पर्याप्तियोंसे जो अपूर्ण हैं वे जीव अपर्याप्त हैं ॥१०४७॥

पज्जत्तीपज्जत्ता भिण्णमुहुत्तेण होंति णायव्वा ।
अणुसमयं पज्जत्ती सव्वेसिं चोववादीणं ॥ १०४८ ॥

पर्याप्तिपर्याप्ता भिन्नमुहूर्तेन भवंति ज्ञातव्याः ।
अनुसमयं पर्याप्तयः सर्वेषां चोपपादिनां ॥ १०४८ ॥

अर्थ—मनुष्य तिर्यंच जीव पर्याप्तियोंकर पूर्ण अंतर्मुहूर्तमें होते हैं ऐसा जानना । और जो देव नारकी हैं उन सबके समय समय प्रति पूर्णता होती है ॥ १०४८ ॥

जह्मि विमाणे जादो उववादसिला महारहे सयणे ।
अणुसमयं पज्जत्तो देवो दिव्वेण रूवेण ॥ १०४९ ॥

यस्मिन् विमाने जातः उपपादशिलायां महार्हे शयने ।
अनुसमयं पर्याप्तो देवो दिव्येन रूपेण ॥ १०४९ ॥

अर्थ—भवन आदि सर्वार्थसिद्धिपर्यंत जिस विमानमें सीपके पुटके आकार उपपादशिलाके ऊपर रत्नोंकर जडित सब आभूषणोंसे शोभित पलंगपर देव उत्पन्न होता है उसी जगह अपने यौवनवाले भूषित शरीरसे समय समय प्रति पर्याप्त (पूर्ण) होताजाता है ॥

अब देहसूत्रका वर्णन करते हैं;—

देहस्स य णिव्वत्ती भिण्णमुहूत्तेण होइ देवाणं ।
सव्वंगभूसणगुणं जोव्वणमवि होदि देहम्मि॥१०५०॥

देहस्य च निर्वृतिः भिन्नमुहूर्तेन भवति देवानां ।
सर्वांगभूषणगुणं यौवनमपि भवति देहे ॥ १०५० ॥

अर्थ—शरीरकी निष्पत्ति देवोंके अंतर्मुहूर्तसे होती है और देहमें सब अंगोंको भूषित करनेवाली यौवन अवस्था भी अंतर्मुहूर्तसे होती है ॥ १०५० ॥

कणयमिव णिरुवलेवा णिम्मलगत्ता सुयंधणीसासा ।
णादिवरचारुरूवा समचतुरंसोरुसंठाणं ॥ १०५१ ॥

कनकमिव निरुपलेपा निर्मलगात्रा सुगंधनिश्वासाः ।
अनादिपरचारुरूपाः समचतुरस्रोरुसंस्थानाः ॥ १०५१ ॥

अर्थ—वे देव सुवर्णके समान मलसे रहित हैं निर्मल शरीरवाले हैं जिनके श्वासोच्छ्वास सुगंधवाले हैं बाल वृद्ध अवस्था न होनेसे सुंदररूपवाले हैं यथास्थान न्यूनाधिकतारहित ऐसे समचतुरस्र नामा उत्तम संस्थानवाले हैं ॥ १०५१ ॥

केसणहमंसुलोमा चम्मवसारुहिरमुत्तपुरिसं वा ।
णेवट्ठी णेव सिरा देवाण सरीरसंठाणे ॥ १०५२ ॥

केशनखश्मश्रुलोमा चर्मवसारुधिरमूत्रपुरीषाणि वा ।

नैवास्थीनि नैव सिरा देवानां शरीरसंस्थाने ॥ १०५२ ॥

अर्थ—देवोंके शरीरके आकारमें बाल नख डाढी मूछ रोम चमड़ा मांस लोही मूत्र विष्ठा हड्डी नसोंका जाल–ये सब नहीं होते हैं ॥ १०५२ ॥

वरवण्णगंधरसफासा दिव्वं बहुपोग्गलेहिं णिम्माणं।
गेण्हदि देवो देहं सुचरिदकम्माणुभावेण ॥ १०५३ ॥

वरवर्णगंधरसस्पर्शैः दिव्यबहुपुद्गलैश्च निर्मितं ।
गृह्णाति देवो देहं सुचरितकर्मानुभावेन ॥ १०५३ ॥

अर्थ—जिनके श्रेष्ट रूप गंध रसस्पर्श हैं ऐसे दिव्य वैक्रियिक-वर्गणाके अनंत पुद्गलोंसे बने हुए शरीरको पूर्व उपार्जन किये शुभकर्मके प्रभावसे वह देव ग्रहण करता है ॥ १०५३ ॥

वेगुव्वियं सरीरं देवाणं माणुसाण संठाणं ।
सुहणाम पसत्थगदी सुस्सरवयणं सुरूवं च॥ १०५४॥

वैक्रियिकं शरीरं देवानां मनुष्याणां संस्थानं ।
शुभनाम प्रशस्तगतिः सुस्वरवचनं सुरूपं च ॥ १०५४ ॥

अर्थ—देवोंका शरीर विक्रियायुक्त होनेसे वैक्रियिक है मनुष्योंके समान पहला समचतुरस्र संस्थान होता है, शुभनाम प्रशस्तगमन सुस्वरवचन सुरूप ये भी होते हैं ॥ १०५४ ॥

पढमाए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो ।
सत्तधणु तिण्णिरयणी छच्चेव य अंगुला होंति॥१०५५

प्रथमायां पृथिव्यां नैरयिकाणां तु भवति उत्सेधः ।
सप्त धनूंषि त्रिरत्नयः षट् एव च अंगुला भवंति॥१०५५॥

अर्थ—पहली रत्नप्रभा नामा नरककी पृथिवीमें नारकियोंकी उंचाई सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल प्रमाण है ॥ १०५५ ॥

बिदियाए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
पण्णरस दोण्णि बारस धणु रदणी अंगुला चेव१०५६

द्वितीयायां पृथिव्यां नारकाणां तु भवति उत्सेधः।
पंचदश द्वौ द्वादश धनूंषि रत्नयः अंगुलाश्चैव ॥ १०५६ ॥

अर्थ—शर्करा पृथिवीमें नारकियोंके शरीरकी उंचाई पंद्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल प्रमाण है ॥ १०५६ ॥

तदियाए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
एकत्तीसं च धणू एगा रदणी मुणेयव्वा ॥ १०५७ ॥

तृतीयायां पृथिव्यां नारकाणां तु भवति उत्सेधः।
एकत्रिंशच्च धनूंषि एका रत्निः मंतव्या ॥ १०५७ ॥

अर्थ—बालुका पृथिवीमें नारकियोंके शरीरकी उंचाई इकतीस धनुष एक हाथ जानना चाहिये ॥ १०५७ ॥

चउथीए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
बासट्ठी चेव धणू बे रदणी होंति णायव्वा ॥ १०५८ ॥

चतुर्थ्यां पृथिव्यां नारकाणां तु भवति उत्सेधः।
द्वाषष्टिः चैव धनूंषि द्वे रत्नी भवंति ज्ञातव्याः ॥ १०५८ ॥

अर्थ—पंकप्रभा पृथिवीमें नारकियोंकी उंचाई बासठ धनुष दो हाथ प्रमाण है ऐसा जानना ॥ १०५८ ॥

पंचमिए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
सदमेगं पणवीसं धणुप्पमाणेण णादव्वं ॥ १०५९ ॥

पंचम्यां पृथिव्यां नारकाणां तु भवति उत्सेधः।

शतमेकं पंचविंशतिः धनुःप्रमाणेन ज्ञातव्यं ॥ १०५९ ॥

अर्थ—धूमप्रभा पृथिवीमें नारकियोंकी उंचाई एकसौ पच्चीस धनुष प्रमाण जानना चाहिये ॥ १०५९ ॥

छट्ठीए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
दोण्णिसदा पण्णासा धणुप्पमाणेण विण्णेया ॥१०६०

षष्ठ्यां पृथिव्यां नारकाणां तु भवति उत्सेधः ।
द्वे शते पंचाशत् धनुःप्रमाणेन विज्ञेया ॥ १०६० ॥

अर्थ—तमप्रभा पृथिवीमें नारकियोंकी उंचाई दोसौ पचास धनुष प्रमाण है ॥ १०६० ॥

सत्तमिए पुढवीए णेरइयाणं तु होइ उस्सेहो।
पंचेव धणुसयाइं पमाणदो चेव बोधव्वा ॥ १०६१ ॥

सप्तम्यां पृथिव्यां नारकाणां तु भवति उत्सेधः।
पंचैव धनुःशतानि प्रमाणतश्चैव बोद्धव्यानि ॥ १०६१ ॥

अर्थ—महातम प्रभा नामकी सातवीं पृथिवीमें नारकियोंकी उंचाई पांचसै धनुष प्रमाण है ऐसा जानना ॥ १०६१ ॥

अब देवोंके शरीरका प्रमाण बतलाते हैं;—

पणवीसं असुराणं सेसकुमाराण दस धणू चेव।
विंतरजोइसियाणं दस सत्त धणू मुणेयव्वा ॥१०६२॥

पंचविंशतिः असुराणां शेषकुमाराणां दश धनूंषि चैव।
व्यंतरज्योतिष्काणां दश सप्त धनूंषि ज्ञातव्यानि ॥१०६२॥

अर्थ—भवनवासियोंमें असुरकुमारोंका शरीर पचीस धनुष प्रमाण है और बाकीके नौ कुमारोंका शरीर दस धनुष है।

व्यंतरदेवोंका शरीर दस धनुष ऊंचा है और ज्योतिषी देवोंका सात धनुष ऊंचा है ॥ १०६२ ॥

छद्धणुसहस्सुस्सेधं चदु दुगमिच्छंति भोगभूमीसु ।
पणवीसं पंचसदा वोधव्वा कम्मभूमीसु ॥ १०६३ ॥

षट् धनुःसहस्रोत्सेधं चत्वारि द्वे इच्छंति भोगभूमिषु ।
पंचविंशतिः पंचशतानि बोद्धव्यानि कर्मभूमिषु ॥१०६३॥

अर्थ—भोगभूमियोंमें उत्तम मध्यम जघन्य भोगभूमिके मनुष्योंकी उंचाई क्रमसे छह हजार धनुष चार हजार धनुष दो हजार धनुष प्रमाण है। और कर्मभूमिके मनुष्योंकी उत्कृष्ट उंचाई पांचसौ पच्चीस धनुषप्रमाण है ॥ १०६३ ॥

सोहम्मीसाणेसु य देवा खलु होंति सत्तरयणीओ ।
छच्चेव य रयणीओ सणक्कुमारे हि माहिंदे ॥ १०६४ ॥

सौधर्मैशानयोश्च देवाः खलु भवंति सप्त रत्नयः ।
षट् चैव च रत्नयः सनत्कुमारे हि माहिंद्रे ॥ १०६४ ॥

अर्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देव सात हाथ ऊंचे होते हैं। सनत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गके छह हाथ ऊंचे हैं ॥ १०६४ ॥

बंभे य लंतवेवि य कप्पे खलु होंति पंच रयणीओ ।
चत्तारि य रयणीओ सुक्कसहस्सारकप्पेसु ॥ १०६५ ॥

ब्रह्मे च लांतवेपि च कल्पे खलु भवंति पंचरत्नयः ।
चत्वारश्च रत्नयः शुक्रसहस्रारकल्पेषु ॥ १०६५ ॥

अर्थ—ब्रह्म युगल और लांतव युगलमें पांच हाथ ऊंचे होते हैं और शुक्र युगल तथा शतार सहस्रार स्वर्गमें चार हाथ ऊंचे होते हैं ॥ १०६५ ॥

आणदपाणदकप्पे अद्धुट्ठाओ हवंति रयणीओ।
तिण्णेव य रयणीओ बोधव्वा आरणच्चुदो चापि१०६६

आनतप्राणतकल्पे अध्यर्द्धं भवंति रत्नयः।
त्रय एव च रत्नयो बोद्धव्या आरणाच्युतयोश्चापि ॥१०६६

अर्थ—आनत और प्राणत स्वर्गमें साढे तीन हाथ ऊंचे देव होते हैं तथा आरण अच्युत कल्पमें तीन हाथ प्रमाण होते हैं ॥ १०६६ ॥

हेट्ठिमगेवज्जेसु य अड्ढाइज्जा हवंति रयणीओ।
मज्झिमगेवज्जेसु य बे रयणी होंति उस्सेहो ॥१०६७॥

अधस्तनग्रैवेयकेषु च सार्धद्वयं भवंति रत्नयः।
मध्यमग्रैवेयकेषु च द्वौ रत्नी भवतः उत्सेधः ॥ १०६७ ॥

अर्थ—अधोग्रैवेयक तीनमें अढाई हाथ उंचाई है और मध्यम-ग्रैवेयकतीनमें दो हाथ उंचाई है ॥ १०६७ ॥

उवरिमगेवज्जेसु य दिवड्ढरयणी हवे य उस्सेधो।
अणुदिसणुत्तरदेवा एया रयणी सरीराणि ॥ १०६८ ॥

उपरिमग्रैवेयकेषु च द्व्यर्धरत्निः भवेत् च उत्सेधः।
अनुदिशानुत्तरदेवा एका रत्निः शरीराः ॥ १०६८ ॥

अर्थ—ऊपरके ग्रैवेयकत्रिकमें डेढ हाथ उंचाई है और नौ अनुदिश तथा पांच अनुत्तर विमानोंके देव एक हाथ ऊंचे शरीर-वाले हैं ॥ १०६८ ॥

आगे तिर्यंचोंके शरीरका प्रमाण कहते हैं;—

भागमसंखेज्जदिमं जं देहं अंगुलस्स तं देहं।
एइंदियादिपंचेंदियंत देहं जहण्णेण ॥ १०६९ ॥

भागमसंख्येयं यो देहो अंगुलस्य स देहः ।
एकेंद्रियादिपंचेंद्रियांतं देहो जघन्येन ॥ १०६९ ॥

अर्थ—घनांगुल (द्रव्यांगुल) के असंख्यातवें भाग प्रमाण एकेंद्रियसे लेकर पंचेंद्री तिर्यंचोंतक जघन्य देह होता है॥१०६९

साहियसहस्समेयं तु जोयणाणं हवेज्ज उक्कस्सं ।
एइंदियस्स देहं तं पुण पउमत्ति णादव्वं ॥ १०७० ॥

साधिकसहस्रमेकं तु योजनानां भवेत् उत्कृष्टं ।
एकेंद्रियस्य देहः स पुनः पद्मे इति ज्ञातव्यं ॥ १०७० ॥

अर्थ—एकेंद्रियका उत्कृष्ट शरीर दो कोस अधिक एक हजार योजन है वह कमल नाम वनस्पतिकायका देह जानना ॥१०७०॥

संखो पुण बारस जोयणाणि गोभी भवंति कोसं तु।
भमरो जोयणमेत्तं मच्छो पुण जोयणसहस्सं॥१०७१॥

शंखः पुनः द्वादशयोजनानि गोभी भवेत् त्रिक्रोशं तु ।
भ्रमरो योजनमात्रः मत्स्यः पुनः योजनसहस्रं ॥ १०७१ ॥

अर्थ—दो इंद्रिय शंख बारहयोजनका होता है ते इंद्रिय गोभी (खर्जूरक) तीन कोशके विस्तारवाला है। चौइंद्रियमेंसे भंवरा एक योजनका होता है और पंचेंद्रिय तिर्यंचमेंसे मत्स्य हजार योजन विस्तारवाला होता है ॥ १०७१ ॥

जंबूदीवपरिहिओ तिण्णिव लक्खं च सोलहसहस्सं ।
बे चेव जोयणसया सत्तावीसा य होंति बोधव्वा१०७२
तिण्णेव गाउआइं अट्ठावीसं च धणुसयं भणियं ।
तेरसय अंगुलाइं अद्धंगुलमेव सविसेसं ॥ १०७३ ॥

जंबूद्वीपपरिधिः त्रीण्येव लक्षाणि च षोडशसहस्राणि ।

द्वे चैव योजनशते सप्तविंशतिश्च भवंति बोद्धव्यानि॥१०७२
त्रीण्येव गव्यूतीनि अष्टाविंशतिश्च धनुःशतं भणितं ।
त्रयोदश अंगुलानि अर्धांगुलमेव सविशेषं ॥ १०७३ ॥

अर्थ—लाख योजन विस्तारवाले जंबूद्वीपकी परिधि (गोलाई) तीन लाख सोलह हजार दोसौ सत्ताईस योजन तीन कोस एकसौ अट्ठाईस धनुष साढे तेरह अंगुल कुछ अधिक (एक जौ प्रमाण) है ॥ १०७२-१०७३ ॥

जंबूदीवो धादइखंडो पुक्खरवरो य तह दीवो ।
वारुणिवर खीरवरो य घिदवरो खोदवरदीवो॥१०७४
णंदीसरो य अरुणो अरुणब्भासो य कुंडलवरो य ।
संखवररुजगभुजगवरकुसवरकुंचवरदीवो ॥ १०७५ ॥

जंबूद्वीपो धातकीखंडः पुष्करवरश्च तथा द्वीपः ।
वारुणिवरः क्षीरवरश्च घृतवरः क्षौद्रवरद्वीपः ॥ १०७४ ॥
नंदीश्वरश्च अरुणः अरुणाभासश्च कुंडलवरश्च ।
शंखवररुचकभुजगवरकुशवरक्रौंचवरद्वीपः ॥ १०७५ ॥

अर्थ—पहला जंबूद्वीप धातकीखंड पुष्करवरद्वीप वारुणीवर क्षीरवर घृतवर क्षौद्रवर नंदीश्वर अरुण अरुणाभास कुंडलवर शंखवर रुचकद्वीप भुजगवर कुशवर क्रौंचवर द्वीप सोलहवां है ॥ १०७४-१०७५ ॥

एवं दीवसमुद्दा दुगुणदुगुणवित्थडा असंखेज्जा ।
एदे दु तिरियलोए सयंभुरमणोदही जाव ॥ १०७६ ॥

एवं द्वीपसमुद्रा द्विगुणद्विगुणविस्तृता असंख्याताः ।
एते तु तिर्यग्लोके स्वयंभूरमणोदधेः यावत् ॥ १०७६ ॥

अर्थ—इस प्रकार द्वीप समुद्र दूने दूने विस्तारवाले हैं असंख्यात हैं। ये द्वीपसमुद्रादिक स्वयंभूरमण समुद्रपर्यंत हैं और तिर्यग्लोकमें हैं ॥ १०७६ ॥

जावदिया उद्धारा अड्ढाइज्जाण सागरुवमाणं।
तावदिया खलु रोमा हवंति दीवा समुद्दा य ॥१०७७

यावंति उद्धाराणि सार्धद्वयस्य सागरोपमस्य।
तावंति खलु रोमाणि भवंति द्वीपाः समुद्राश्च ॥ १०७७ ॥

अर्थ—अढाई सागरोपमके जितने उद्धारपल्य हैं उनमें जितने रोम हैं उतने ही द्वीप समुद्र हैं ॥ १०७७ ॥

जंबूदीवे लवणो धादइखंडे य कालउदधी य।
सेसाणं दीवाणं दीवसरिसणामया उदधी ॥ १०७८॥

जंबूद्वीपे लवणो धातकिखंडे च कालोदधिश्च।
शेषाणां द्वीपानां द्वीपसदृशनामान उदधयः ॥ १०७८ ॥

अर्थ—जंबूद्वीपमें लवण समुद्र है धातकीखंडमें कालोदधि समुद्र है और शेष (बाकी) द्वीपोंमें द्वीपोंके नाम समान नामवाले समुद्र हैं ॥ १०७८ ॥

पत्तेयरसा चत्तारि सायरा तिण्णि होंति उदयरसा।
अवसेसा य समुद्दा खोद्दरसा होंति णायव्वा ॥१०७९

प्रत्येकरसाः चत्वारः सागराः त्रयो भवंति उदकरसाः।
अवशेषाश्च समुद्राः क्षौद्ररसा भवंति ज्ञातव्याः ॥ १०७९ ॥

अर्थ—चार समुद्र भिन्न भिन्न स्वादवाले हैं, तीन समुद्र पानीके स्वादवाले हैं और बाकी समुद्र इक्षुरसके स्वादवाले हैं ऐसा जानना ॥ १०७९ ॥

वारुणिवर खीरवरो घनवर लवणो य होंति पत्तेया ।
कालो पुक्खर उदधी सयंभुरमणो य उदयरसा१०८०

वारुणिवरः क्षीरवरो घृतवरो लवणश्च भवंति प्रत्येकाः ।
कालः पुष्कर उदधिः स्वयंभूरमणश्च उदकरसाः ॥१०८०॥

अर्थ—वारुणीवर क्षीरवर घृतवर लवणसमुद्र—ये चार अपने नामके अनुसार भिन्न भिन्न स्वादवाले हैं और कालोदधि पुष्कर स्वयंभूरमण—ये तीन समुद्र जलके समान स्वादवाले हैं॥ १०८० ॥

लवणे कालसमुद्दे सयंभुरमणे य होंति मच्छा दु ।
अवसेसेसु समुद्देसु णत्थि मच्छा य मयरा वा १०८१

लवणे कालसमुद्रे स्वयंभूरमणे च भवंति मत्स्यास्तु ।
अवशेषेषु समुद्रेषु न संति मत्स्याश्च मकरा वा ॥ १०८१ ॥

अर्थ—लवणसमुद्र कालसमुद्र और स्वयंभूरमणसमुद्र—इन तीन समुद्रोंमें तो मच्छ आदि जलचर जीव रहते हैं और शेष समुद्रोंमें मच्छ मगर आदि कोई भी जलचर जीव नहीं रहता ॥ १०८१ ॥

अट्ठारस जोयणिया लवणे णव जोयणा णदिमुहेसु ।
छत्तीसगा य कालोदहिम्मि अट्ठारस णदिमुहेसु१०८२

अष्टादश योजना लवणे नव योजना नदीमुखेषु ।
षट्त्रिंशत्काश्च कालोदधौ अष्टादश नदीमुखेषु ॥ १०८२ ॥

अर्थ—लवण समुद्रमें अठारह योजन प्रमाण मत्स्य हैं गंगा आदिके प्रवेश होनेके स्थानमें नौ योजनके मत्स्य हैं । कालोदधि समुद्रमें छत्तीस योजन प्रमाणवाले मत्स्य रहते हैं और नदियोंके मुखोंमें अठारह योजन प्रमाण मत्स्य हैं ॥ १०८२ ॥

साहस्सिया दु मच्छा सयंभुरमणह्मि पंचसदिया दु ।

देहस्स सव्वहस्सं कुंथुपमाणं जलचरेसु ॥ १०८३ ॥

साहस्रिकास्तु मत्स्या स्वयंभूरमणे पंचशतिकास्तु ।
देहस्य सर्वह्रस्वं कुंथुप्रमाणं जलचरेषु ॥ १०८३ ॥

अर्थ—स्वयंभूरमण समुद्रमें हजार योजन प्रमाण मत्स्य हैं और नदीमुखमें पांचसौ योजनके हैं। देहका सबसे जघन्य प्रमाण जलचर जीवोंमें कुंथुप्रमाण है ॥ १०८३ ॥

जलथलखगसम्मुच्छिमतिरिय अपज्जत्तया विहत्थी दु।
जलसम्मुच्छिमपज्जत्तयाण तह जोयणसहस्सं॥१०८४

जलस्थलखगसम्मूर्छिमतिर्यचः अपर्याप्तका वितस्तिस्तु ।
जलसंमूर्छिमपर्याप्तकानां तथा योजनसहस्रं ॥ १०८४ ॥

अर्थ—जलचर स्थलचर खचर और संमूर्छन तिर्यंच अपर्याप्तक एक विलस्तप्रमाण होते हैं और जलचर संमूर्छन पर्याप्तकोंका शरीर उत्कृष्ट एकहजार योजनप्रमाण है ॥ १०८४ ॥

जलथलगब्भअपज्जत्त खगथलसंमुच्छिमा य पज्जत्ता।
खगगब्भजा य उभये उक्कस्सेणं धणुपुहत्तं॥ १०८५॥

जलस्थलगर्भापर्याप्ताः खगस्थलसंमूर्छिमाश्च पर्याप्ताः ।
खगगर्भजाश्च उभये उत्कृष्टेन धनुःपृथक्त्वं ॥ १०८५ ॥

अर्थ—जलचर स्थलचर गर्भज अपर्याप्त, आकाशचर स्थलचर संमूर्छन पर्याप्त, आकाशचर गर्भज पर्याप्त अपर्याप्त उत्कृष्टपनेसे चारसे लेकर आठ धनुष प्रमाण विस्तारवाले हैं ॥ १०८५ ॥

जलगब्भजपज्जत्ता उक्कस्सं पंच जोयणसयाणि।
थलगब्भजपज्जत्ता तिगाउ उक्कस्समायामो॥१०८६॥

जलगर्भजपर्याप्ता उत्कृष्टं पंच योजनशतानि ।

स्थलगर्भजपर्याप्ताः त्रिगव्यूतानि उत्कृष्टमायामः ॥१०८६॥

अर्थ—जलचर गर्भजपर्याप्त जीवोंका उत्कृष्ट देहप्रमाण पांचसौ योजन है और स्थलचर गर्भज पर्याप्त जीवोंका उत्कृष्ट आयाम तीनकोशका है ॥ १०८६ ॥

अंगुलअसंखभागं बादरसुहुमा य सेसया काया।
उक्कस्सेण दु णियमा मणुगा य तिगाउ उव्विद्धा१०८७

अंगुलासंख्यभागं बादरसूक्ष्माश्च शेषाः कायाः।
उत्कृष्टेन तु नियमात् मनुष्याश्च त्रिगव्यूतानि उद्वृद्धाः१०८७

अर्थ—द्रव्यांगुलका असंख्यातवां भाग प्रमाण बादर तथा सूक्ष्म बाकीके पृथिवीकाय अप्काय तेजःकाय वायुकायका उत्कृष्ट शरीर प्रमाण नियमसे जानना। और मनुष्योंका प्रमाण तीन कोसका जानना ॥ १०८७ ॥

सुहुमणिगोदअपज्जत्तस्स जादस्स तदियसमयम्हि।
हवदि दु सव्वजहण्णं सव्वुक्कस्सं जलचराणं॥१०८८॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तस्य जातस्य तृतीयसमये।
भवति तु सर्वजघन्यं सर्वोत्कृष्टं जलचराणां॥ १०८८ ॥

अर्थ—सूक्ष्मनिगोदिया अपर्याप्त उत्पन्न हुए जीवके तीसरे समयमें नियमसे सबसे जघन्य शरीर होता है और जलचर मत्स्य जीवका सबसे उत्कृष्ट शरीर होता है॥ १०८८ ॥

अब देहके आकार सूत्रको कहते हैं;—

मसूरिय कुसग्गबिंदू सूइकलावा पडाय संठाणं।
कायाणं संठाणं हरिदतसा णेगसंठाणा॥ १०८९ ॥

मसूरिका कुशाग्रबिंदुः सूचीकलापाः पताका संस्थानं।

कायानां संस्थानं हरितत्रसा अनेकसंस्थानाः ॥ १०८९ ॥

अर्थ—पृथिवीकाय जलकाय तेजकाय वायुकायके शरीरका आकार मसूर डाभके अग्रभागमें जलबिंदु सूचीसमुदाय ध्वजा रूप क्रमसे है सब वनस्पति और दो इंद्रिय आदि त्रस जीवोंका शरीर भेदरूप अनेक आकारवाला है ॥ १०८९ ॥

समचउरसणिग्गोहासादियखुज्जायवामणाहुंडा ।
पंचिंदियतिरियणरा देवा चउरस्स णारया हुंडा १०९०

समचतुरस्रन्यग्रोधसातिककुब्जवामनहुंडाः ।
पंचेंद्रियतिर्यग्नरा देवाः चतुरस्रा नारका हुंडाः ॥१०९०॥

अर्थ—समचतुरस्र न्यग्रोध सातिक कुब्ज वामन हुंड—ये छह संस्थान पंचेंद्रिय तिर्यंच मनुष्योंके होते हैं, देव चतुरस्र संस्थानवाले हैं नारकी सब हुंडक संस्थानवाले होते हैं ॥ १०९० ॥

जवणालिया मसूरिअ अतिमुत्तयचंदए खुरप्पे य ।
इंदियसंठाणा खलु फासस्स अणेयसंठाणं ॥ १०९१ ॥

यवनालिका मसूरिका अतिमुक्तकं चंद्रकं क्षुरप्रं च ।
इंद्रियसंस्थानानि खलु स्पर्शस्य अनेकसंस्थानं ॥ १०९१ ॥

अर्थ—श्रोत्र चक्षु घ्राण जिह्वा इन चार इंद्रियोंका आकार क्रमसे जौकी नली, मसूर, अतिमुक्तक पुष्प, अर्धचंद्र अथवा खुरपा इनके समान है और स्पर्शन इंद्रिय अनेक आकाररूप है ॥

चत्तारि धणुसदाइं चउसट्ठी धणुसयं च फस्सरसे ।
गंधे य दुगुण दुगुणा असण्णिपंचिंदिया जाव १०९२

चत्वारि धनुःशतानि चतुःषष्ठी धनुःशतं च स्पर्शरसयोः ।
गंधस्य च द्विगुणद्विगुणानि असंज्ञिपंचेंद्रिया यावत् १०९२

अर्थ—स्पर्शन इंद्रियका विषय चारसौ धनुष है, रसना इंद्रियका विषय चौंसठ धनुष है, घ्राण इंद्रियका विषय सौ धनुष है। एकेंद्रियसे लेकर असंज्ञिपंचेंद्रिय पर्यंत जीवोंके स्पर्शन आदिका विषय आगे आगे दूना दूना कहा है ॥ १०९२ ॥

गुणतीसजोयणसदाइं चउवण्णाय होइ णायव्वा ।
चउरिंदियस्स णियमा चक्खुप्फासं वियाणाहि १०९३

एकोनत्रिंशत् योजनशतानि चतुःपंचाशत् भवति ज्ञातव्यानि।
चतुरिंद्रियस्य नियमात् चक्षुःस्पर्शः विजानीहि ॥१०९३॥

अर्थ—चौइंद्रिय जीवके चक्षु इंद्रियका विषय उनतीससौ चौवन योजन प्रमाण जानना ॥ १०९३ ॥

उणसट्ठि जोयणसदा अट्ठेव य होंति तह य णायव्वा।
असण्णिपंचेंदीए चक्खुप्फासं वियाणाहि ॥ १०९४॥

एकोनषष्टियोजनशतानि अष्टैव च भवंति तथा च ज्ञातव्यानि।
असंज्ञिपंचेंद्रियस्य चक्षुःस्पर्शं विजानाहि ॥ १०९४ ॥

अर्थ—असंज्ञी पंचेंद्रियके चक्षु इंद्रियका उत्कृष्ट विषय उनसठसौ आठ योजन है ऐसा जानना ॥ १०९४ ॥

अट्ठेव धणुसहस्सा सोदप्फासं असण्णिणो याण।
विसयावि य णायव्वा पोग्गलपरिणामजोगेण ॥१०९५

अष्टावेव धनुःसहस्राणि श्रोत्रस्पर्शं असंज्ञिनो जानीहि ।
विषया अपि च ज्ञातव्याः पुद्गलपरिणामयोगेन ॥१०९५॥

अर्थ—असंज्ञी पंचेंद्रियके श्रोत्र इंद्रियका विषय आठ हजार धनुष प्रमाण है। पुद्गलके विशेष संस्थान आदिके संबंधसे अन्य इंद्रियोंके विषय भी जानने चाहिये ॥ १०९५ ॥

फासे रसे य गंधे विसया णव जोयणाय बोधव्वा ।
सोदस्स दु बारसजोयणाणिदो चक्खुसो वोच्छं१०९६

स्पर्शस्य रसस्य च गंधस्य विषया नव योजनानि बोद्धव्यानि ।
श्रोत्रस्य तु द्वादशयोजनानि इतश्चक्षुषो वक्ष्ये ॥ १०९६ ॥

अर्थ—संज्ञीपंचेंद्रिय चक्रवर्ती आदिके स्पर्शन रसना घ्राण इन तीन इंद्रियोंका विषय नौ योजन है और श्रोत्र इंद्रियका विषय बारह योजन है। अब आगे चक्षु इंद्रियका विषय कहते हैं ॥ १०९६ ॥

सत्तेतालसहस्सा बे चेव सदा हवंति तेसट्ठी ।
चक्खिंदियस्स विसओ उक्कस्सो होदि अतिरित्तो१०९७

सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्वे एव शते भवंति त्रिषष्ठिः ।
चक्षुरिंद्रियस्य विषय उत्कृष्टो भवति अतिरिक्तः ॥१०९७॥

अर्थ—चक्षु इंद्रियका उत्कृष्ट विषय सैंतालीस हजार दोसौ त्रेसठ योजन कुछ अधिक है ॥ १०९७ ॥

अस्सीदिसदं विगुणं दीवविसेसस्स वग्ग दहगुणियं ।
मूलं सट्ठिविहत्तं दिणद्धमाणाहदं चक्खू ॥ १०९८ ॥

अशीतिशतं द्विगुणं द्वीपविशेषस्य वर्गो दशगुणितः ।
मूलं षष्ठिविभक्तं दिनार्धमानाहतं चक्षुः ॥ १०९८ ॥

अर्थ—एकसौ अस्सीको दूना करनेपर तीनसौ साठ हुए, तीनसौ साठको जंबूद्वीपके विष्कंभ एकलाख योजनमेंसे घटाया उस बची हुई संख्याका वर्ग किया उस वर्गको दसगुणा किया उसका वर्गमूल किया उसे साठका भाग दे नौसे गुणा किया जो प्रमाण आया वही चक्षु इंद्रियका विषय क्षेत्र है ॥ १०९८ ॥

आगे योनिका स्वरूप वर्णन करते हैं;–

एइंदिय णेरइया संवुडजोणी हवंति देवा य।
वियलिंदिया य वियडा संवुडवियडा य गब्भेसु१०९९

एकेंद्रिया नारका संवृतयोनयो भवंति देवाश्च।
विकलेंद्रियाश्च विवृताः संवृतविवृताश्च गर्भेषु ॥ १०९९ ॥

अर्थ—सचित्त शीत संवृत अचित्त उष्ण विवृत सचित्ताचित्त शीतोष्ण संवृतविवृत इन भेदोंसे नौ प्रकारकी योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान हैं। एकेंद्री नारकी देव इनके संवृत (दुरुपलक्ष) योनि है, दोइंद्रीसे चौइंद्रीतक विवृतयोनि है और गर्भजोंमें संवृतविवृत योनि है ॥ १०९९ ॥

अचित्ता खलु जोणी णेरइयाणं च होइ देवाणं।
मिस्सा य गब्भजम्मा तिविही जोणी दु सेसाणं११००

अचित्ता खलु योनिः नारकाणां च भवति देवानां।
मिश्राश्च गर्भजन्मानः त्रिविधा योनिस्तु शेषाणां॥११००॥

अर्थ—अचित्त योनि नारकी और देवोंके होती है, गर्भजोंके मिश्र योनि होती है और शेष संमूर्छनोंके तीनों ही योनि होती हैं ॥ ११०० ॥

सीदुण्हा खलु जोणी णेरइयाणं तहेव देवाणं।
तेऊण उसिणजोणी तिविहा जोणी दु सेसाणं॥११०१

शीतोष्णा खलु योनिः नारकाणां तथैव देवानां।
तेजसां उष्णयोनिः त्रिविधा योनिस्तु शेषाणां ॥ ११०१ ॥

अर्थ—नारकी और देवोंके शीत उष्ण योनि हैं तेजकायिक

जीवोंके उष्ण योनि है और शेष एकेंद्रियादिके तीनोंप्रकारकी योनि है ॥ ११०१ ॥

संखावत्तयजोणी कुम्मुण्णद वंसपत्तजोणी य।
तत्थ य संखावत्ते णियमादु विवज्जए गब्भो ॥११०२॥

शंखावर्तकयोनिः कूर्मोन्नतः वंशपत्रयोनिश्च।
तत्र च शंखावर्ते नियमात् विपद्यते गर्भः ॥ ११०२ ॥

अर्थ—शंखावर्तयोनि कूर्मोन्नतयोनि वंशपत्रयोनि इसतरह तीन प्रकारकी आकार योनि होती हैं उनमेंसे शंखावर्तयोनिमें नियमसे गर्भ नष्ट होजाता है ॥ ११०२ ॥

कुम्मुण्णदजोणीए तित्थयरा दुविहचक्कवट्टीय।
रामावि य जायंते सेसा सेसेसु जोणीसु ॥ ११०३ ॥

कूर्मोन्नतयोनौ तीर्थंकरा द्विविधचक्रवर्तिनः।
रामा अपि च जायंते शेषाः शेषासु योनिषु ॥ ११०३ ॥

अर्थ—कूर्मोन्नतयोनिमें तीर्थंकर चक्री अर्धचक्रीदोनों बलदेव–ये उत्पन्न होते हैं और बाकी दो योनियोंमें शेष मनुष्यादि पैदा होते हैं ॥ ११०३ ॥

णिच्चिदरधादु सत्तय तरु दस विगलिंदियेसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरिय चउरो चोद्दस मणुएसु सदसहस्सा ॥

नित्येतरधातुसप्तकं तरूणां दश विकलेंद्रियाणां षट् चैव।
सुरनारकतिरश्चां चत्वारः चतुर्दश मनुजानां शतसहस्राणि ११०४

अर्थ—नित्यनिगोद इतरनिगोद पृथिवीकायसे लेकर वायुकाय-तक–इनके सात सात लाख योनि हैं। प्रत्येक वनस्पतिके दश लाख योनि हैं दो इंद्रिय आदि चौइंद्रीतक सब छह लाख ही हैं,

देव नारकी और पंचेंद्रिय तिर्यंचोंके चार चार लाख योनि हैं तथा मनुष्योंके चौदह लाख योनि हैं। सब मिलकर चौरासी लाख योनि हैं ॥ ११०४ ॥

बारसवाससहस्सा आऊ सुद्धेसु जाण उक्कस्सं।
खरपुढविकायगेसु य वाससहस्साणि बावीसा॥११०५

द्वादशवर्षसहस्राणि आयुः शुद्धेषु जानीहि उत्कृष्टं।
खरपृथिवीकायिकेषु च वर्षसहस्राणि द्वाविंशतिः॥११०५॥

अर्थ—मृत्तिका आदि शुद्ध पृथिवीकायिकोंकी आयु उत्कृष्ट बारह हजार वर्षकी है और पत्थर आदि खरपृथिवी कायिकोंकी बाईस हजार वर्षकी है। यहां सैंतीससौ तिहत्तरि उच्छ्वासोंका एक मुहूर्त होता है ऐसा जानना ॥ ११०५ ॥

सत्त दु वाससहस्सा आऊ आउस्स होइ उक्कस्सं।
रत्तिंदिणाणि तिण्णि दु तेऊणं होइ उक्कस्सं॥११०६॥

सप्त तु वर्षसहस्राणि आयुः अपां भवति उत्कृष्टं।
रात्रिंदिनानि त्रीणि तु तेजसां भवति उत्कृष्टं ॥ ११०६ ॥

अर्थ—अप्कायिकोंका उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्षका है और तेजकायिकोंका उत्कृष्ट आयु तीन दिनरातका है ॥ ११०६ ॥

तिण्णि दु वाससहस्सा आऊ वाउस्स होइ उक्कस्सं।
दस वाससहस्साणि दु वणप्फदीणं तु उक्कस्सं॥११०७

त्रीणि तु वर्षसहस्राणि आयुः वायूनां भवति उत्कृष्टं।
दश वर्षसहस्राणि तु वनस्पतीनां तु उत्कृष्टं ॥ ११०७ ॥

अर्थ—वायुकायिकोंका उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्ष है और वनस्पतीकायिकोंका उत्कृष्ट आयु दश हजार वर्षका है॥ ११०७॥

बारस वासा वेइंदियाणमुक्कस्सं भवे आऊ।
राइंदिणाणि तेइंदियाणमुणुवण्ण उक्कस्सं ॥ ११०८ ॥

द्वादश वर्षाणि द्वींद्रियाणामुत्कृष्टं भवेत् आयुः।
रात्रिंदिनानि त्रींद्रियाणामेकोनपंचाशत् उत्कृष्टं ॥११०८॥

अर्थ—शंख आदि दोइंद्रियका उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष है और गोभी आदि तेइंद्रियका उत्कृष्ट आयु उनचास अहोरात्रका है ॥ ११०८ ॥

चउरिंदियाणमाऊ उक्कस्सं खलु हवेज्ज छम्मासं।
पंचिंदियाणमाऊ एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥ ११०९ ॥

चतुरिंद्रियाणामायुः उत्कृष्टं खलु भवेत् षण्मासाः।
पंचेंद्रियाणामायुः इत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥ ११०९ ॥

अर्थ—भ्रमर आदि चौइंद्रियोंका उत्कृष्ट आयु छह महीनेका है इससे आगे पंचेंद्रियोंका आयु कहते हैं ॥ ११०९ ॥

मच्छाण पुव्वकोडी परिसप्पाणं तु णवय पुव्वंगा।
बादालीस सहस्सा उरगाणं होइ उक्कस्सं ॥ १११० ॥

मत्स्यानां पूर्वकोटी परिसर्पाणां तु नवैव पूर्वांगानि।
द्वाचत्वारिंशत् सहस्राणि उरगाणां भवति उत्कृष्टं॥१११०॥

अर्थ—मच्छोंका उत्कृष्ट आयु एक कोटिपूर्व है गोह आदिका आयु नव पूर्वांग ही है सर्पोंका आयु ब्यालीस वर्षका है ॥१११०॥

पक्खीणं उक्कस्सं वाससहस्सा बिसत्तरी होंति।
एगा य पुव्वकोडी असण्णीणं तह य कम्मभूमीणं ११११

पक्षिणां उत्कृष्टं वर्षसहस्राणि द्वासप्ततिः भवंति।
एका च पूर्वकोटी असंज्ञिनां तथा च कर्मभौमानां ११११

अर्थ—कर्मभूमिया भैरुंड आदि पक्षियोंका उत्कृष्ट आयु बहत्तरि हजार वर्षका है और असंज्ञी तिर्यंचोंका तथा कर्मभूमिया आर्य मनुष्योंका आयु उत्कृष्ट एक कोटीपूर्ववर्षका है ११११

हेमवदवस्सयाणं तहेव हेरण्णवंसवासीणं।
मणुसेसु य मेच्छाणं हवदि तु पलिदोवमं एक्कं १११२

हैमवतवर्षजानां तथैव हैरण्यवर्षवासिनां।
मनुष्येषु च म्लेच्छानां भवति तु पलितोपमं एकं॥१११२

अर्थ—हैमवत क्षेत्रमें उत्पन्न तथा हैरण्य क्षेत्रमें रहनेवाले भोगभूमियोंका च शब्दसे अंतरद्वीपजोंका, मनुष्योंमेंसे म्लेच्छखंडवासियोंका आयु एक पल्य है॥ १११२॥

हरिरम्मयवस्सेसु य हवंति पलिदोवमाणि खलु दोण्णि
तिरिएसु य सण्णीणं तिण्णिय तह कुरुवगाणं च १११३

हरिरम्यकवर्षेषु च भवंति पल्योपमे खलु द्वे।
तिर्यक्षु च संज्ञिनां त्रीणि च तथा कुरवकाणां च॥ १११३

अर्थ—हरिवर्ष रम्यकवर्ष इनमें दो पल्यकी आयु है और संज्ञी तिर्यंचोंकी तथा उत्तरकुरु देवकुरु मनुष्य भोगभूमियोंकी आयु तीन पल्यकी है॥ १११३॥

देवेसु णारयेसु य तेत्तीसं होंति उदधिमाणाणि।
उक्कस्सयं तु आऊ वाससहस्सा दस जहण्णा॥१११४

देवेषु नारकेषु च त्रयस्त्रिंशत् भवंति उदधिमानानि।
उत्कृष्टं तु आयुः वर्षसहस्राणि दश जघन्या॥ १११४॥

अर्थ—देव और नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर प्रमाण है और जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है॥ १११४॥

एकं च तिण्णि सत्तय दस सत्तरसेव होंति बावीसा।
तेतीसमुदधिमाणा पुढवीण ठिदीणमुक्कस्सं ॥ १११५॥

एकं च त्रीणि सप्त च दश सप्तदशैव भवंति द्वाविंशतिः।
त्रयस्त्रिंशत् उदधिमानानि पृथिवीनां स्थितीनामुत्कृष्टं१११५

अर्थ—नरक पृथिवियोंकी उत्कृष्ट आयु क्रमसे एक तीन सात दश सत्रह वाईस तेतीससागर है॥ १११५॥

पढमादियमुक्कस्सं बिदियादिसु साधियं जहण्णत्तं।
धम्मायभवणविंतर वाससहस्सा दस जहण्णं॥१११६

प्रथमादिकमुत्कृष्टं द्वितीयादिषु साधिकं जघन्यं।
धर्माभवनव्यंतराणां वर्षसहस्राणि दश जघन्यं॥ १११६॥

अर्थ—जो पहले नरक आदिकी उत्कृष्ट आयु है वह अगले अगले दूसरे आदि नरकमें एक समय अधिक जघन्य है और धर्मा नामका पहला नरक भवनवासी तथा व्यंतरोंकी जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है॥ १११६॥

असुरेसु सागरोवम तिपल्ल पल्लं च णागभोमाणं।
अद्धदिज्ज सुवण्णा दु दीव सेसा दिवड्ढं तु॥ १११७॥

असुरेषु सागरोपमं त्रिपल्यं पल्यं च नागभौमानां।
अर्धतृतीये सुपर्णानां द्वे द्वीपानां शेषाणां द्व्यर्धं तु॥१११७

अर्थ—भवनवासियोंमें असुर कुमारोंकी एक सागर उत्कृष्ट आयु है, धरणेंद्र आदि नागकुमारोंकी तीन पल्य, व्यंतरोंकी एक पल्य, सुपर्ण कुमारोंकी ढाई पल्य, द्वीपकुमारोंकी दोपल्य और बाकीके कुमारोंकी डेढ पल्य उत्कृष्ट आयु है॥ १११७॥

पल्लट्ठभाग पल्लं च साधियं जोदिसाण जहण्णिदरा।

हेट्ठिल्लुक्कस्सठिदी सक्कादीणं जहण्णा सा ॥ १११८ ॥

पल्याष्टभागः पल्यं च साधिकं ज्योतिषां जघन्यमितरत् ।
अध उत्कृष्टस्थितिः शक्रादीनां जघन्या सा ॥ १११८ ॥

अर्थ—चंद्रमा आदि ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु पल्यके आठवें भाग है और उत्कृष्ट आयु लाखवर्ष अधिक एकपल्य है । अधः स्थित ज्योतिषी आदिकी उत्कृष्ट स्थिति है वह सौधर्म आदि देवोंकी जघन्य आयु जानना ॥ १११८ ॥

बे सत्त दसय चोद्दस सोलस अट्ठार वीस बावीसा ।
एयाधिया य एत्तो सक्कादिसु सागरुवमाणं ॥ १११९॥

द्वे सप्त दश चतुर्दश षोडश अष्टादश विंशतिः द्वाविंशतिः ।
एकाधिका च इतः शक्रादिषु सागरोपमानं ॥ १११९ ॥

अर्थ—सौधर्म युगल आदि स्वर्गोंमें क्रमसे उत्कृष्ट आयु दो सागर सात दस चौदह सोलह अठारह वीस बाईस सागर इससे आगे एक एक सागर अधिक होती हुई अंतके सर्वार्थ सिद्धि विमानमें तेतीस सागर है ॥ १११९ ॥

पंचादी वेहिं जुदा सत्तावीसाय पल्ल देवीणं ।
तत्तो सत्तुत्तरिया जावदु अरणप्पयं कप्पं ॥ ११२० ॥

पंचादिः द्वाभ्यां युताः सप्तविंशतिः पल्यानि देवीनां ।
ततः सप्तोत्तराणि यावत् आरणाच्युतं कल्पः ॥ ११२० ॥

अर्थ—सौधर्म आदिकी देवियोंकी उत्कृष्ट आयु पांचको आदि लेकर दो दो मिलाते हुए सहस्रारस्वर्ग पर्यंत सत्ताईस पल्यकी है उससे आगे सात सात मिलानेसे अच्युतस्वर्गमें पचपन पल्यकी है ॥ ११२० ॥

पणयं दस सत्तधियं पणवीसं तीसमेव पंचधियं।
चत्तालं पणदालं पण्णाओ पण्णपण्णाओ ॥ ११२१ ॥

पंच दश सप्ताधिकानि पंचविंशतिः त्रिंशदेव पंचाधिकाः।
चत्वारिंशत् पंचचत्वारिंशत् पंचाशत् पंचपंचाशत्॥११२१॥

अर्थ—किसी आचार्यका ऐसा कहना है कि देवियोंकी आयु क्रमसे पांच सत्रह पच्चीस पैंतीस चालीस पैंतालीस पचास पचपन पल्यकी युगलोंमें है ॥ ११२१ ॥

चंदस्स सदसहस्सं सहस्स रविणो सदं च सुक्कस्स।
वासाधिए हि पल्लं लेहिट्ठं वरिसणामस्स ॥ ११२२ ॥

चंद्रस्य शतसहस्रं सहस्रं रवेः शतं च शुक्रस्य।
वर्षाधिकं हि पल्यं लघिष्ठं वर्षनाम्नः ॥ ११२२ ॥

अर्थ—चंद्रमाकी उत्कृष्ट आयु लाखवर्ष अधिक एक पल्यकी है, सूर्यकी हजार वर्ष अधिक पल्यकी है, शुक्रकी सौ वर्ष अधिक पल्यकी है, बृहस्पतिकी सौ बरस कम एक पल्यकी है॥ ११२२॥

सेसाणं तु गहाणं पल्लद्धं आउगं मुणेयव्वं।
ताराणं च जहण्णं पादद्धं पादमुक्कस्सं ॥ ११२३ ॥

शेषाणां तु ग्रहाणां पल्यार्धं आयुः मंतव्यं ।
ताराणां च जघन्यं पादार्धं पादमुत्कृष्टं ॥ ११२३ ॥

अर्थ—शेष ग्रहोंकी उत्कृष्ट आयु आधा पल्य जानना। ध्रुव आदि ताराओंकी जघन्य आयु पल्यका आठवां भाग है उत्कृष्ट आयु पल्यका चौथा भाग है ॥ ११२३ ॥

सव्वेसिं अमणाणं भिण्णमुहुत्तं हवे जहण्णेण।
सोवक्कमाउगाणं सण्णीणं चावि एमेव ॥ ११२४ ॥

सर्वेषां अमनस्कानां भिन्नमुहूर्तं भवेत् जघन्येन ।
सोपक्रमायुष्काणां संज्ञिनां चापि एवमेव ॥ ११२४ ॥

अर्थ—सब असंज्ञियोंकी जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त है और विष आदिसे घात होनेवाली आयुवाले संज्ञी जीवोंकी भी जघन्य अंत-र्मुहूर्त आयु है ॥ ११२४ ॥

अब संख्यामानको कहते हैं;—

संखेज्जमसंखेज्जं बिदियं तदियमणंतयं वियाणाहि ।
तत्थ य पढमं तिविहं णवहा णवहा हवे दोण्णि११२५

संख्यातमसंख्यातं द्वितीयं तृतीयं अनंतं विजानीहि ।
तत्र च प्रथमं त्रिविधं नवधा नवधा भवेतां द्वे ॥११२५॥

अर्थ—संख्यात असंख्यात अनंत ये तीन संख्यामानके भेद जानना । उनमेंसे पहला संख्यात जघन्य मध्यम उत्कृष्टके भेदसे तीन तरहका है और शेष असंख्यात अनंत ये दोनों नौ नौ प्रकारके हैं ॥ इनदोनोंमें युक्त परीत दोवार ये भेद होनेसे नौ नौ भेद हैं ॥ ११२५ ॥

पल्लो सायर सूई पदरो य घणंगुलो य जगसेढी ।
लोगपदरो य लोगो अट्ठ दु माणा मुणेयव्वा ॥११२६॥

पल्यं सागरः सूची प्रतरश्च घनांगुलं च जगच्छ्रेणी ।
लोकप्रतरश्च लोकः अष्टौ तु मानानि ज्ञातव्यानि ॥११२६॥

अर्थ—पल्य सागरोपम सूच्यंगुल प्रतरांगुल घनांगुल जगच्छ्रेणी लोकप्रतर लोक-ये आठ उपमामान हैं ऐसा जानना ॥ ११२६ ॥

अब योगोंको स्वामीसहित कहते हैं;—

बेइंदियादि भासा भासा य मणो य सण्णिकायाणं ।

एइंदिया य जीवा अमणाय अभासया होंति ॥११२७

द्वीन्द्रियादीनां भाषा भाषा च मनश्च संज्ञिकायानां ।
एकेंद्रियाश्च जीवा अमनस्का अभाषका भवंति ॥ ११२७॥

अर्थ—दोइंद्रियसे लेकर असैनी पंचेंद्रीतक वचनयोग है, संज्ञी पंचेंद्रीके वचनयोग और मनोयोग है एकेंद्रिय जीवोंके मनोयोग वचन योग नहीं है केवल काययोग है। काययोग सबके जानना चाहिये ॥ ११२७ ॥

एइंदिय विगलिंदिय णारय सम्मुच्छिमा य खलु सव्वे।
वेदे णपुंसगा ते णादव्वा होंति णियमादु ॥ ११२८ ॥

एकेंद्रिया विकलेंद्रिया नारकाःसंमूर्छनाश्च खलु सर्वे ।
वेदेन नपुंसकास्ते ज्ञातव्या भवंति नियमात् ॥ ११२८ ॥

अर्थ—एकेंद्रिय दो तीन चार इंद्रिय नारकी संमूर्छन जन्म-वाले असंज्ञी संज्ञी पंचेंद्रिय वेदकर नपुंसकलिंग नियमसे होते हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ ११२८ ॥

देवा य भोगभूमा असंखवासाउगा मणुवतिरिया ।
ते होंति दोसु वेदेसु णत्थि तेसिं तदियवेदो॥११२९॥

देवाश्च भोगभूमा असंख्यवर्षायुषः मनुष्यतिर्यंचः ।
ते भवंति द्वयोः वेदयोः नास्ति तेषां तृतीयवेदः॥११२९॥

अर्थ—भवनवासी आदि देव असंख्यात वर्षकी आयुवाले भोगभूमिया मनुष्य तिर्यंच इनके पुल्लिंग स्त्रीलिंग ये दो ही वेद होते हैं नपुंसकवेद नहीं है ॥ ११२९ ॥

पंचेंदिया दु सेसा सण्णि असण्णी य तिरिय मणुसा य।
ते होंति इत्थिपुरुसा णपुंसगा चावि वेदेहिं ॥११३०॥

पंचेंद्रियास्तु शेषाः संज्ञिनः असंज्ञिनश्च तिर्यंचो मनुष्याश्च।
ते भवंति स्त्रीपुरुषा नपुंसकाश्चापि वेदैः ॥ ११३० ॥

अर्थ—देवादिकोंसे बचे हुए जो संज्ञी असंज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंच व मनुष्य स्त्रीवेद पुरुषवेद नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंवाले होते हैं ॥ ११३० ॥

आईसाणा कप्पा उववादो होइ देवदेवीणं।
तत्तो परंतु णियमा उववादो होइ देवाणं ॥ ११३१ ॥

आ ईशानात् कल्पात् उपपादो भवति देवदेवीनां।
ततः परं तु नियमात् उपपादो भवति देवानां ॥ ११३१ ॥

अर्थ—भवनवासीसे लेकर ऐशानस्वर्गपर्यंत देव देवी इन दोनोंकी उत्पत्ति है इससे आगे नियमसे देव ही उत्पन्न होते हैं देवियां नहीं ॥ ११३१ ॥

जावदु आरणअच्चुद गमणागमणं च होइ देवीणं।
तत्तो परं तु णियमा देवीणं णत्थि से गमणं॥११३२॥

यावत् आरणाच्युतौ गमनागमनं च भवति देवीनां।
ततः परं तु नियमात् देवीनां नास्ति तासां गमनं॥११३२॥

अर्थ—आरण अच्युत स्वर्गतक देवियोंका गमन आगमन है इससे आगे नियमसे उन देवियोंका गमन नहीं है ॥ ११३२ ॥

कंदप्पमाभिजोगा देवीओ चावि आरण चुदोत्ति।
लंतवगादो उवरि ण संति संमोहखिब्भिसिया ११३३

कंदर्पा आभियोग्या देव्यश्चापि आरणाच्युतौ इति।
लांतवकात् उपरि न संति संमोहाः किल्विषिकाः॥११३३

अर्थ—हास्य करनेवाले कांदर्पदेव वाहन जातिके देव और

देवियां दोनों ही आरण अच्युत स्वर्ग पर्यंत हैं लांतव स्वर्गसे ऊपर नित्य मैथुन करनेवाले संम्मोहदेव और बाजा बजानेवाले किल्वि-षिक ये नीच देव नहीं हैं ॥ ११३३ ॥

आगे लेश्याओंको दिखलाते हैं;–

काऊ काऊ तह काउणील णीला य णीलकिण्हाय।
किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा रदणादिपुढवीसु॥११३४

कापोती कापोती तथा कापोती नीलनीला च नीलकृष्णा।
कृष्णा च परमकृष्णा लेश्या रत्नादिपृथिवीषु ॥ ११३४ ॥

अर्थ—रत्नप्रभा आदि नरककी पृथिवियोंमें जघन्य कापोती मध्यमकापोती उत्कृष्ट कापोती तथा जघन्य नीललेश्या मध्यमनी-ललेश्या उत्कृष्टनीललेश्या तथा जघन्यकृष्णलेश्या मध्यमकृष्णलेश्या और उत्कृष्टकृष्णलेश्या है ॥ ११३४ ॥

तेऊ तेऊ तह तेउ पम्म पम्मा य पम्मसुक्का य।
सुक्का य परमसुक्का लेस्साभेदो मुणेयव्वो ॥ ११३५ ॥
तिण्हं दोण्हं दोण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च।
एत्तो य चोद्दसण्हं लेस्सा भवणादिदेवाणं ॥ ११३६ ॥

तेजस्तेजः तथा तेजः पद्मा पद्मा च पद्मशुक्ला च।
शुक्ला च परमशुक्ला लेश्याभेदो ज्ञातव्यः ॥ ११३५ ॥
त्रयाणां द्वयोः द्वयोः षण्णां द्वयोश्च त्रयोदशानां च।
इतश्च चतुर्दशानां लेश्या भवनादिदेवानां ॥ ११३६ ॥

अर्थ—भवनवासी आदि देवोंके क्रमसे जघन्य तेजोलेश्या भवनत्रिकमें है, दो स्वर्गोंमें मध्यम तेजोलेश्या है, दोमें उत्कृष्ट तेजोलेश्या है जघन्य पद्मलेश्या है, छहमें मध्यम पद्मलेश्या है,

दोमें उत्कृष्ट पद्मलेश्या और जघन्य शुक्ललेश्या है, तेरहमें मध्यम शुक्ललेश्या है और चौदह विमानोंमें परमशुक्ल लेश्या है ॥ ११३५-११३६ ॥

एइंदियवियलिंदियअसण्णिणोतिण्णि होंति असुहाओ
संकादीदाऊणं तिण्णि सुहा छप्पि सेसाणं ॥ ११३७ ॥

एकेंद्रियविकलेंद्रियासंज्ञिनां तिस्रो भवंति अशुभाः ।
संख्यातीतायुष्काणां तिस्रः शुभाः षडपि शेषाणां॥११३७

अर्थ—एकेंद्री विकलेंद्री असंज्ञीपंचेंद्रीके तीन अशुभ लेश्या होती हैं, असंख्यातवर्षकी आयुवाले भोगभूमिया कुभोग भूमिया जीवोंके तीन शुभ लेश्या हैं और बाकीके कर्मभूमिया मनुष्य तिर्यंचोंके छहों लेश्या होती हैं ॥ ११३७ ॥

कामा दुवे तऊ भोग इंदियत्था विदूहिं पण्णत्ता ।
कामो रसो य फासो सेसा भोगेति आहीया ॥११३८

कामो द्वौ त्रयो भोगा इंद्रियार्था विद्धि प्रज्ञप्ताः ।
कामो रसश्च स्पर्श शेषा भोगा इति आहिताः ॥ ११३८ ॥

अर्थ—दो इंद्रियोंके विषय काम हैं तीन इंद्रियोंके विषय भोग हैं ऐसा विद्वानोंने कहा है। रस और स्पर्श तो काम हैं और गंध रूप शब्द भोग हैं ऐसा कहा है ॥ ११३८ ॥

आईसाणा कप्पा देवा खलु होंति कायपडिचारा ।
फासप्पडिचारा पुण सणक्कुमारे य माहिंदे ॥ ११३९ ॥

आईशानात् कल्पात् देवाः खलु भवंति कायप्रतीचाराः ।
स्पर्शप्रतीचाराः पुनः सनत्कुमारे च माहेंद्रे ॥ ११३९ ॥

अर्थ—ईशान स्वर्गतकके देवोंके कायसे मैथुनसेवन है और

सानत्कुमार माहेंद्र देवोंके स्पर्शकर प्रतीचार है ॥ ११३९ ॥

वंभे कप्पे बंभुत्तरे य तह लंतवे य कापिट्ठे ।
एदेसु य जे देवा बोधव्वा रूवपडिचारा ॥ ११४० ॥

ब्रह्मे कल्पे ब्रह्मोत्तरे च तथा लांतवे च कापिष्टे ।
एतेषु च ये देवा बोद्धव्या रूपप्रतिचाराः ॥ ११४० ॥

अर्थ—ब्रह्मस्वर्ग ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ट इन स्वर्गोंमें रहनेवाले देव रूपको देखनेसे ही कामसेवनके सुखको पाते हैं ऐसा जानना ॥

सुक्कमहासुक्केसु य सदारकप्पे तहा सहस्सारे ।
कप्पे एदेसु सुरा बोधव्वा सद्दपडिचारा ॥ ११४१ ॥

शुक्रमहाशुक्रयोश्च शतारकल्पे तथा सहस्रारे ।
कल्पे एतेषु सुरा बोद्धव्याः शब्दप्रतिचाराः ॥ ११४१ ॥

अर्थ—शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रारस्वर्ग इन चार स्वर्गोंके देव देवांगनाओंके शब्द सुनने मात्रसे विषयसेवनकी प्रीतिको पाते हैं ॥ ११४१ ॥

आणदपाणदकप्पे आरणकप्पे य अच्चुदे य तहा ।
मणपडिचारा णियमा एदेसु य होंति जे देवा॥११४२

आनतप्राणतकल्पे आरणकल्पे च अच्युते च तथा ।
मनःप्रतीचारा नियमात् एतेषु च भवंति ये देवाः॥११४२

अर्थ—आनत प्राणतस्वर्ग आरणस्वर्ग अच्युतस्वर्ग इन चारोंके देव नियमसे मनमें संकल्पमात्र हीसे कामसेवनका सुख पाते हैं ॥ ११४२ ॥

तत्तो परंतु णियमा देवा खलु होंति णिप्पडीचारा ।
सप्पडिचारेहिंवि ते अणंतगुणसोक्खसंजुत्ता॥११४३॥

ततः परतो नियमात् देवाः खलु भवंति निःप्रतीचाराः ।
सप्रतिचारेभ्योपि ते अनंतगुणसौख्यसंयुक्ताः ॥ ११४३ ॥

अर्थ—सोलहवें स्वर्गसे आगेके देव नियमसे कामसेवनसे रहित हैं परंतु कामसेवनवालोंसे अनंतगुणे सुखकर सहित हैं ११४३

जं च कामसुहं लोए जं च दिव्वं महासुहं ।
वीतरागसुहस्सेदे णंतभागंपि णग्घई ॥ ११४४ ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महासुखं ।
वीतरागसुखस्यैते अनंतभागमपि नार्हंति ॥ ११४४ ॥

अर्थ—लोकमें विषयोंसे उत्पन्न सुख है और जो स्वर्गमेंका महासुख है ये सब वीतरागसुखके अनंतवें भागकी भी समानता नहीं करसकते ॥ ११४४ ॥

जदि सागरोपमाऊ तदि वाससहस्सियादु आहारो ।
पक्खेहिं दु उस्सासो सागरसमयेहिं चेव भवे॥११४५

यावत् सागरोपमायुः तावत् वर्षसहस्रैः आहारः ।
पक्षैस्तु उच्छ्वासः सागरसमयैश्चैव भवेत् ॥ ११४५ ॥

अर्थ—जितने सागरकी आयु है उतने ही हजारवर्षोंके वाद देवोंके आहार है उतने ही पक्ष वीतनेपर श्वासोच्छ्वास है । ये सब सागरके समयोंकर होता है ॥ ११४५ ॥

उक्कस्सेणाहारो वाससहस्साहिएण भवणाणं ।
जोदिसियाणं पुण भिण्णमुहुत्तेणेदि सेस उक्कस्सं ॥

उत्कृष्टेन आहारो वर्षसहस्राधिकेन भवनानां ।
ज्योतिष्काणां पुनः भिन्नमुहूर्तेन इति शेषाणामुत्कृष्टं ॥

अर्थ—भवनवासी असुरोंके उत्कृष्ट भोजनकी इच्छा पंद्र-

हसौ वर्षके वाद होती है और चंद्रमा आदि ज्योतिषियोंके तथा नव भवनवासियोंके व्यंतरोंके सव देवियोंके अंतर्मुहूर्तके वाद आहारकी इच्छा है ॥ ११४६ ॥

उक्कस्सेणुस्सासो पक्खेणहिएण होइ भवणाणं ।
मुहुत्तपुधत्तेण तहा जोइसणागाण भोमाणं ॥ ११४७॥

उत्कृष्टेन उच्छ्वासः पक्षेणाधिकेन भवति भवनानां ।
मुहूर्तपृथक्त्वेन तथा ज्योतिष्कनागभौमानां ॥ ११४७ ॥

अर्थ—भवनवासी असुरोंके उत्कृष्टतासे उच्छ्वास कुछ अधिक पखवाड़ासे होता है, और ज्योतिषी नागकुमारभवनवासियोंके व्यंतरोंके पृथक्त्व (चारसे आठ) अंतर्मुहूर्तके वाद है शेष भवनवासियोंके पूर्ववत् है ॥ ११४७ ॥

सक्कीसाणा पढमं बिदियं तु सणक्कुमारमाहिंदा ।
बंभालंतव तदियं सुक्कसहस्सारया चउत्थी दु ॥११४८
पंचमि आणदपाणद छट्टी आरणचुदा य पस्संति ।
णवगेवज्जा सत्तमि अणुदिस अणुत्तरा य लोगं तं ॥

शक्रैशानाः प्रथमं द्वितीयं तु सनत्कुमारमाहेंद्राः ।
ब्रह्मलांतवा तृतीयं शुक्रसहस्रारकाः चतुर्थीं तु ॥११४८॥
पंचमीं आनतप्राणताः षष्ठीं आरणाच्युताश्च पश्यंति ।
नवग्रैवेयकाः सप्तमीं अनुदिशा अनुत्तराश्च लोकांतं॥११४९॥

अर्थ—सौधर्म ऐशानदेव अपने अवधिज्ञानसे पहले नरकतक देखते हैं, सनत्कुमारमाहेंद्रदेव दूसरे तक, ब्रह्मलांतव दो युगलोंके तीसरे नरकतक, शुक्र सहस्रार युगलोंके देव चौथे नरकतक देखते हैं। आनत प्राणत देव पांचवें तक आरण अच्युत

देव छट्ठी पृथिवीतक, नौग्रैवेयक सातवें नरकतक, देखते हैं। नौ अनुदिश पाच अनुत्तर विमानोंके देव लोकके अंततक देखते जानते हैं ॥ ११४८–११४९ ॥

पणुवीस जोयणाणं ओही वितरकुमारवग्गाणं।
संखेज्जजोयणोही जोइसियाणं जहण्णं तु ॥ ११५० ॥

पंचविंशतिः योजनानां अवधिः व्यंतरकुमारवर्गाणां।
संख्यातयोजनान्यवधिः ज्योतिष्काणां जघन्यं तु ११५०

अर्थ—व्यंतरोंके भवनकुमारोंमें असुरके सिवाय नौ कुमारोंके पचीसयोजन जघन्य अवधि है और ज्योतिषियोंके संख्यातयोजन जघन्य अवधि है इतनी दूरमें स्थित वस्तुको जानसकते हैं ११५०

असुराणमसंखेज्जा कोडी जोइसिय सेसाणं।
संखादीदा य खलु उक्कस्सोहीयविसओ दु ॥११५१॥

असुराणामसंख्याताः कोट्यो ज्योतिष्काणां शेषाणां।
संख्यातीताश्च खलु उत्कृष्टः अवधिविषयस्तु ॥ ११५१ ॥

अर्थ—असुरोंके असंख्यातकोडि योजन जघन्य अवधि है। चंद्रमा आदि ज्योतिषियोंके भवनवासी व्यंतरोंके निकृष्टकल्पवासियोंके असंख्यात कोडाकोडी योजन उत्कृष्ट अवधि है ॥११५१

रयणप्पहाए जोयणमेयं ओहिविसओ मुणेयव्वो।
पुढवीदो पुढवीदो गाऊ अद्धद्ध परिहाणी ॥ ११५२ ॥

रत्नप्रभायां योजनमेकं अवधिविषयो ज्ञातव्यः।
पृथिवीतः पृथिवीतो गव्यूतस्यार्धार्धं परिहानिः ॥११५२॥

अर्थ—रत्नप्रभा पहली नरकपृथिवीमें एक योजन अवधिका

विषय है आगेके नरकोंमें आधा आधा कोस कम करना जो हो वही अवधिका विषय है। सातवींमें एककोस रहजाता है॥११५२

आगे गमन आगमनको कहते हैं;—

पढमं पुढविमसण्णी पढमं बिदियं च सरिसवा जंति।
पक्खी जावदु तदियं जाव चउत्थी दु उरसप्पा॥

प्रथमां पृथिवीमसंज्ञिनः प्रथमां द्वितीयां च सरीसृपा यांति।
पक्षिणो यावत् तृतीयां यावच्चतुर्थीं तु उरःसर्पाः॥११५३॥

अर्थ—असंज्ञी जीव पहली पृथिवीमें जाते हैं गोह करकेंटा आदि जीव पहली दूसरी पृथिवीतक जाते हैं। भैरुंड आदि पक्षी तीसरीतक, अजगर आदि चौथीतक मरण करके जाते हैं॥ ११५३॥

आ पंचमीति सीहा इत्थीओ जंति छट्ठिपुढवित्ति।
गच्छंति माघवीत्ति य मच्छा मणुया य जे पावा॥

आपंचमीमिति सिंहाः स्त्रियो यांति षष्ठीपृथिवीमिति।
गच्छंति माघवीमिति च मत्स्या मनुजाश्च ये पापाः॥११५४॥

अर्थ—सिंह व्याघ्रादिक पहलीसे लेकर पांचवींतक जाते हैं। स्त्रियां छठी पृथिवीतक पापी मच्छ और पापी मनुष्य सातवें नरकतक जाते हैं॥ ११५४॥

उव्वट्टिदाय संता णेरइया तमतमादु पुढवीदो।
ण लहंति माणुसत्तं तिरिक्खजोणीमुवणयंति॥११५५

उद्वर्तिताः संतो नारकास्तमतमातः पृथिवीतः।
न लभंते मनुष्यत्वं तिर्यग्योनिमुपनयंति॥ ११५५॥

अर्थ—सातवें नरकसे निकले हुए नारकी जीव मनुष्यभव नहीं पाते सिंह आदि तिर्यंच योनिमें पैदा होते है ॥ ११५५ ॥

वाल्लेसु य दाढीसु य पक्खीसु य जलचरेसु उववण्णा।
संखेज्जआउठिदिया पुणवि णिरयावहा होंति॥११५६॥

वाल्येषु च दंष्ट्रासु च पक्षिषु च जलचरेषु उपपन्नाः।
संख्यातायुःस्थितिकाः पुनरपि निरयावहा भवंति ॥११५६

अर्थ—सातवींसे निकलकर श्वापद भुजंग सिंह व्याघ्र सूकर गीध आदि पक्षियोंमें मच्छ मगर आदि जलचरोंमें संख्यात वर्षकी आयुको लेकर उत्पन्न होते हैं फिर भी पापके वश नरकमें ही जाते हैं ॥ ११५६ ॥

छट्ठीदो पुढवीदो उव्वट्टिदा अणंतरं भवम्हि।
भज्जा माणुसलंभे संजमलंभेण दु विहीणा ॥११५७॥

षष्ठ्याः पृथिवीत उद्वर्तिता अनंतरं भवे।
भाज्या मनुष्यलाभे संयमलाभेन तु विहीनाः ॥ ११५७॥

अर्थ—छठे नरकसे निकले हुए मनुष्यगति पाते भी हैं अथवा नहीं भी पाते। परंतु संयम नहीं धारण कर सकते ॥ ११५७ ॥

होज्जदु संजमलंभो पंचमखिदिणिग्गदस्स जीवस्स।
णत्थि पुण अंतकिरिया णियमा भवसंकिलेसेण ॥

भवतु संयमलाभः पंचमक्षितिनिर्गतस्य जीवस्य।
नास्ति पुनः अंतक्रिया नियमात् भवसंक्लेशेन ॥ ११५८ ॥

अर्थ—पांचवीं पृथिवीसे निकले हुए जीवके संयमका लाभ होवे परंतु जन्मके संक्लेशके दोषकर मोक्षगमन नहीं होता ११५८

होज्जदु णिव्वुदिगमणं चउत्थिखिदिणिग्गदस्स जीवस्स।
णियमा तित्थयरत्तं णत्थित्ति जिणेहिं पण्णत्तं॥११५९.

भवेत्तु निर्वृतिगमनं चतुर्थीक्षितिनिर्गतस्य जीवस्य ।
नियमात् तीर्थंकरत्वं नास्तीति जिनैः प्रज्ञप्तं ॥ ११५९ ॥

अर्थ—चौथी पृथिवीसे निकले जीवका मोक्षमें गमन तो नियमसे होता है परंतु तीर्थंकरपना नहीं होता ऐसे जिनदेवने कहा है ॥ ११५९ ॥

तेण परं पुढवीसु य भयणिज्जा उवरिमा दु णेरइया।
णियमा अणंतरभवे तित्थयरत्तस्स उप्पत्ती ॥११६०॥

तेन परं पृथिवीषु च भजनीया उपरितमास्तु नारकाः ।
नियमात् अनंतरभवेन तीर्थंकरत्वस्य उत्पत्तिः ॥ ११६० ॥

अर्थ—चौथी पृथिवीके पहलेकी तीसरी दूसरी पहलीमेंके ऊपरके नारकी निकले हुए नियमसे उससे आगेके मनुष्यभवको धारणकर तीर्थंकर होके मोक्षको जाते हैं ॥ ११६० ॥

णिरयेहिं णिग्गदाणं अणंतरभवम्हि णत्थि णियमादो।
बलदेववासुदेवत्तणं च तह चक्कवट्टित्तं ॥ ११६१ ॥

नरकेभ्यो निर्गतानां अनंतरभवे नास्ति नियमात् ।
बलदेववासुदेवत्वं च तथा चक्रवर्तित्वं ॥ ११६१ ॥

अर्थ—नरकोंसे निकले जीव उसी आगेके भवमें बलदेव वासुदेव चक्रवर्तीपदवीको नहीं पाते ॥ ११६१ ॥

उववादुवट्टणमो णेरइयाणं समासदो भणिओ।
एत्तो सेसाणंपि य गदिआगदिमो पवक्खामि॥११६२

उपपादोद्वर्तने नारकाणां समासतो भणिते ।

इतः शेषाणामपि च गत्यागती प्रवक्ष्यामि ॥ ११६२ ॥

अर्थ—नारकियोंकी गति आगति संक्षेपसे कहीं इससे आगे शेष जीवोंकी भी गति आगति कहते हैं ॥ ११६२ ॥

सव्वमपज्जत्ताणं सुहुमकायाण सव्वतेऊणं ।
वाऊणमसण्णीणं आगमणं तिरियमणुसेहिं ॥११६३॥

सर्वापर्याप्तानां सूक्ष्मकायानां सर्वतेजसां ।
वायूनामसंज्ञिनां आगमनं तिर्यग्मनुष्येभ्यः ॥ ११६३ ॥

अर्थ—सब अपर्याप्त सूक्ष्मकायोंका सब तेजकायिकोंका वायुकायिकोंका असंज्ञियोंका आगमन पृथिवीकायादिमें व मनुष्यगतिमें है ॥ ११६३ ॥

तिण्हं खलु कायाणं तहेव विगलिंदियाण सव्वेसिं ।
अविरुद्धं संकमणं माणुसतिरियेसु य भवेसु॥११६४॥

त्रयाणां खलु कायानां तथैव विकलेंद्रियाणां सर्वेषां ।
अविरुद्धं संक्रमणं मानुषतिर्यक्षु च भवेषु ॥ ११६४ ॥

अर्थ—पृथिवीकाय जलकाय वनस्पतीकाय इन तीनोंका तथा सब विकलेंद्रियोंका गमन मनुष्य तथा तिर्यंचोंमें है इसमें विरोध नहीं ॥ ११६४ ॥

सव्वेवि तेउकाया सव्वे तह वाउकाइया जीवा ।
ण लहंति माणुसत्तं णियमादु अणंतरभवेहिं ॥११६५

सर्वेपि तेजःकायाः सर्वे तथा वायुकायिका जीवाः ।
न लभंते मानुषत्वं नियमात् अनंतरभवेन ॥ ११६५ ॥

अर्थ—सभी तेजकायिक सभी वायुकायिक जीव आगेके उसी भवमें मनुष्यगति नहीं पाते ॥ ११६५ ॥

पत्तेयदेहा वणप्फइ वादरपज्जत्त पुढवि आऊ य ।
माणुसतिरिक्खदेवेहिं चेवाइंति खलु एदे ॥ ११६६ ॥

प्रत्येकदेहा वनस्पतयो वादराः पर्याप्ताः पृथिवी आपश्च ।
मानुषतिर्यग्देवेभ्यः एव आयांति खलु एते ॥ ११६६ ॥

अर्थ—नारियल आदि प्रत्येक वनस्पति वादर पर्याप्त पृथिवीकाय जलकाय वादर पर्याप्त इनमें आर्तध्यानी मनुष्य तिर्यंच देव अकार उपजते हैं ॥ ११६६ ॥

अविरुद्धं संकमणं असण्णिपज्जत्तयाण तिरियाणं ।
माणुसतिरिक्खसुरणारएसु ण दु सव्वभावेसु॥११६७

अविरुद्धं संक्रमणं असंज्ञिपर्याप्तकानां तिरश्चां ।
मानुषतिर्यक्सुरनारकेषु न तु सर्वभावेषु ॥ ११६७ ॥

अर्थ—असंज्ञी पर्याप्त तिर्यंचोंका गमन मनुष्य तिर्यंच देव नारक इन चारों गतियोंमें है विरोध नहीं है । परंतु सब पर्यायोंमें नहीं है ॥ ११६७ ॥

संखादीदाऊ खलु माणुसतिरिया दु मणुयतिरियेहिं।
संखिज्जआउगेहिं दु णियमा सण्णीय आयंति॥११६८

संख्यातीतायुषः खलु मानुषतिर्यंचस्तु मनुष्यतिर्यग्भ्यः ।
संख्यातायुष्केभ्यस्तु नियमात् संज्ञिभ्यः आयाति ११६८

अर्थ—असंख्यात वर्षकी आयुवाले भोगभूमिया मनुष्य तिर्यंच हैं वे संख्यातवर्षकी आयुवाले संज्ञी मनुष्य तिर्यंचभवोंसे ही आते हैं ॥ ११६८ ॥

संखादीदाऊणं संकमणं णियमदो दु देवेसु ।
पयडीए तणुकसाया सव्वेसिं तेण बोधव्वा ॥ ११६९

संख्यातीतायुषां संक्रमणं नियमस्तु देवेषु ।
प्रकृत्या तनुकषायाः सर्वेषां तेन बोद्धव्याः ॥ ११६९ ॥

अर्थ—असंख्यातायुवाले भोगभूमियाओंका गमन नियमसे देवोंमें होता है क्योंकि सभीके स्वभावसे अल्प क्रोधादि कषाय हैं ऐसा जानना ॥ ११६९ ॥

माणुस तिरियाय तहा सलागपुरिसा ण होंति खलु णियमा ।
तेसिं अणंतरभवे भयणिज्जं णिव्वुदीगमणं ॥११७०॥

मनुष्याः तिर्यंचश्च तथा शलाकापुरुषा न भवंति खलु नियमात् ।
तेषां अनंतरभवे भजनीयं निवृतिगमनं ॥ ११७० ॥

अर्थ—मनुष्य और तिर्यंच नियमसे शलाकापुरुष तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि नहीं होते और उसी आगेके भवमें मनुष्य कदाचित् मोक्षको जाते भी हैं और नहीं भी जाते ॥ ११७० ॥

सण्णि असण्णीण तहा वाणेसु य तह य भवणवासीसु ।
उववादो बोधव्वो मिच्छादिट्ठीण णियमादु ॥११७१॥

संज्ञिनां असंज्ञिनां तथा वानेषु च तथा च भवनवासिषु ।
उपपादो बोद्धव्यो मिथ्यादृष्टीनां नियमात् ॥ ११७१ ॥

अर्थ—संज्ञी असंज्ञी मिथ्यादृष्टियोंकी उत्पत्ति नियमसे व्यंतरोंमें भवनवासियोंमें होती है ऐसा जानना ॥ ११७१ ॥

संखादीदाऊणं मणुयतिरिक्खाण मिच्छभावेण ।
उववादो जोदिसिए उक्कस्सं तावसाणं तु ॥ ११७२ ॥

संख्यातीतायुषां मनुष्यतिरश्चां मिथ्यात्वभावेन ।
उपपादो ज्योतिष्केषु उत्कृष्टस्तापसानां तु ॥ ११७२ ॥

अर्थ—असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य तिर्यंचोंकी उत्पत्ति मिथ्यात्वपरिणामसे ज्योतिषी देवोंमें होती है और कंदमूलादिका आहार करनेवाले तापसियोंकी उत्पत्ति उत्कृष्ट ज्योतिषियोंमें होती है ॥ ११७२ ॥

परिवाजगाण णियमा उक्कस्सं होदि वंभलोगम्हि ।
उक्कस्स सहस्सार ति होदि य आजीवगाण तहा ॥

परिव्राजकानां नियमात् उत्कृष्टो भवति ब्रह्मलोके ।
उत्कृष्टः सहस्रार इति भवति च आजीवकानां तथा ॥११७३

अर्थ—संन्यासियोंकी उत्पत्ति उत्कृष्ट ब्रह्मलोकपर्यंत हैं आजीवक साधुओंका उत्पाद उत्कृष्ट सहस्रार स्वर्गपर्यंत होता है॥११७३

तत्तो परं तु णियमा उववादो णत्थि अण्णलिंगीणं ।
णिग्गंथसावगाणं उववादो अच्चुदं जाव ॥ ११७४ ॥

ततः परं तु नियमात् उपपादो नास्ति अन्यलिंगानां ।
निर्ग्रंथश्रावकाणां उपपादःअच्युतं यावत् ॥ ११७४ ॥

अर्थ—सहस्रारसे आगेके स्वर्गोंमें अन्यलिंगियोंका जन्म नहीं होता दिगंबर श्रावक श्राविका आर्यिकाओंका जन्म अच्युत स्वर्ग-तक होता है ॥ ११७४ ॥

जावुवरिमगेवेज्जं उववादो अभवियाण उक्कस्सो ।
उक्कट्ठेण तवेण दु णियमा णिग्गंथलिंगेण ॥ ११७५ ॥

यावत् उपरिमग्रैवेयं उपपादः अभव्यानां उत्कृष्टः ।
उत्कृष्टेन तपसा तु नियमात् निर्ग्रंथलिंगेन ॥ ११७५ ॥

अर्थ—अभव्योंका जन्म निर्ग्रंथलिंग धारणकर उत्कृष्ट तप

करनेसे उत्कृष्टतासे ऊपरले ग्रैवेयकतक होता है नियमसे ॥ ११७५ ॥

तत्तो परं तु णियमा तवदंसणणाणचरणजुत्ताणं ।
णिग्गंथाणुववादो जावदु सव्वट्ठसिद्धित्ति ॥ ११७६ ॥

ततः परं तु नियमात् तपोदर्शनज्ञानचरणयुक्तानां ।
निर्ग्रंथानामुपपादः यावत् सर्वार्थसिद्धिरिति ॥ ११७६ ॥

अर्थ—ग्रैवेयक विमानसे ऊपरले विमानोंमें सर्वार्थसिद्धिविमानतक तप दर्शन ज्ञान चारित्रसे युक्त ऐसे सब परिग्रहत्यागी मुनियोंका जन्म होता है अन्यका नहीं ॥ ११७६ ॥

आईसाणा देवा चएत्तु एइंदियत्तणे भज्जा ।
तिरियत्तमाणुसत्ते भयणिज्जा जाव सहसारा ॥ ११७७

आईशानात् देवाः च्युत्वा एकेंद्रियत्वेन भाज्या ।
तिर्यक्त्वमानुषत्वेन भजनीया यावत् सहस्रारं ॥ ११७७ ॥

अर्थ—भवनवासीसे लेकर ईशान स्वर्गपर्यंत रहनेवाले देव चयकर कदाचित् पृथिवीकायिकोंमें उत्पन्न होते हैं । उससे आगे सहस्रारस्वर्गतकके देव कदाचित् तिर्यंचमें तथा मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं ॥ ११७७ ॥

तत्तो परं तु णियमा देवावि अणंतरे भवे सव्वे ।
उववज्जंति मणुस्से ण तेसिं तिरिएसु उववादो ॥ ११७८

ततः परं तु नियमात् देवा अपि अनंतरे भवे सर्वे ।
उत्पद्यंते मानुष्ये न तेषां तिर्यक्षु उपपादः ॥ ११७८ ॥

अर्थ— सहस्रारस्वर्गके ऊपरले विमानोंके देव उसी भवसे

मनुष्यगतिमें उत्पन्न होते हैं उनका तिर्यंचोंमें जन्म नहीं होता ॥ ११७८ ॥

आजोदिसित्ति देवा सलागपुरिसा ण होंति ते णियमा।
तेसिं अणंतरभवे भयणिज्जं णिव्वुदीगमणं ॥११७९॥

आज्योतिष इति देवा शलाकापुरुषा न भवंति ते नियमात् ।
तेषामनंतरभवे भाज्यं निर्वृतिगमनं ॥ ११७९ ॥

अर्थ—भवनवासीसे लेकर ज्योतिषीपर्यंत देव तीर्थंकर आदि शलाकापुरुष नहीं होते और उनके आगेके जन्ममें मोक्षगमन होवे भी अथवा नहीं भी होवे ॥ ११७९ ॥

तत्तो परं तु गेवज्जं भयणिज्जा सलागपुरिसा दु ।
तेसिं अणंतरभवे भयणिज्जा णिव्वुदीगमणं ॥११८०॥

ततः परं तु ग्रैवेयकं भजनीयाः शलाकापुरुषास्तु ।
तेषामनंतरभवे भजनीयं निर्वृतिगमनं ॥ ११८० ॥

अर्थ—उसके वाद सौधर्मस्वर्गसे लेकर नव ग्रैवेयक पर्यंतके देव शलाकापुरुष कदाचित् होते भी हैं अथवा नहीं भी होते और आगेके भवमें मोक्षगमन कदाचित् होता भी है अथवा नहीं भी होता ॥ ११८० ॥

णिव्वुदिगमणे रामत्तणे य तित्थयरचक्कवट्टित्ते ।
अणुदिसणुत्तरवासी तदो चुदा होंति भयणिज्जा ॥'

निर्वृत्तिगमनेन रामत्वेन च तीर्थकरचक्रवर्तित्वेन ।
अनुदिशानुत्तरवासिनः तेभ्यः च्युता भवंति भजनीया ॥

अर्थ—अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देव वहांसे

चयकर कदाचित् मोक्ष जाते हैं तीर्थंकर बलदेव चक्रवर्तीपनेको भी कदाचित् पाते हैं अथवा नहीं भी पाते ॥ ११८१ ॥

सव्वट्ठादो य चुदा भज्जा तित्थयरचक्कवट्टित्ते।
रामत्तणेण भज्जा णियमा पुण णिव्वुदिं जंति ॥११८२

सर्वार्थाच्च च्युता भाज्याः तीर्थंकरचक्रवर्तित्वेन।
रामत्वेन भाज्या नियमात् पुनः निर्वृतिं यांति ॥११८२॥

अर्थ—सर्वार्थसिद्धि विमानसे चये देव तीर्थंकर चक्रवर्ती बलभद्र पदवीको पाते भी हैं अथवा नहीं भी पाते परंतु मोक्षको नियमसे जाते हैं ॥ ११८२ ॥

सक्को सहग्गमहिसी सलोगपाला य दक्खिणिंदा य।
लोगंतिगा य णियमा चुदा दु खलु णिव्वुदिं जंति ॥

शक्रः सहाग्रमहिषी सलोकपालश्च दक्षिणेंद्राश्च।
लौकांतिकाश्च नियमात् च्युतास्तु खलु निर्वृतिं यांति॥११८३॥

अर्थ—सौधर्म स्वर्गका इंद्र अपनी इंद्राणी सहित लोकपाल-सहित और सनत्कुमार आदि दक्षिणदिशाके इंद्र तथा लौकांति-कदेव—ये सब स्वर्गसे चयकर मनुष्यभवसे नियमकर मोक्षको जाते हैं ॥ ११८३ ॥

एवं तु सारसमए भणिदा दु गदीगदी मए किंचि।
णियमादु मणुसगदिए णिव्वुदिगमणं अणुण्णादं ॥

एवं तु सारसमये भणिते तु गत्यागती मया किंचित्।
नियमात् मनुष्यगत्यां निर्वृतिगमनं अनुज्ञातव्यं ॥११८४॥

अर्थ—इसप्रकार व्याख्याप्रज्ञप्ति नामके सिद्धांतग्रंथमेंसे लेकर मैंने कुछ गति आगतिका स्वरूप कहा। और मोक्षगमन

मनुष्यगतिमें ही नियमसे होता है ऐसी जिनदेवने आज्ञा की है ॥ ११८४ ॥

सम्मइंसणणाणेहिं भाविदा सयलसंजमगुणेहिं ।
णिट्ठवियसव्वकम्मा णिग्गंथा णिव्वुदिं जंति ॥११८५

सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यां भाविताः सकलसंयमगुणैः ।
निष्ठापितसर्वकर्माणो निर्ग्रंथा निर्वृतिं यांति ॥ ११८५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानकर युक्त, सकलसंयमगुणोंकर सहित परमशुक्लध्यानसे जिनोंने सब कर्मोंका नाश कर दिया है ऐसे निर्ग्रंथ मुनि मोक्षको जाते हैं ॥ ११८५ ॥

ते अजरमरुजममरमसरीरमक्खयमणुवमं सोक्खं ।
अव्वाबाधमणंतं अणागदं कालमत्थंति ॥ ११८६ ॥

ते अजरमरुजममरमशरीरमक्षयमनुपमं सौख्यं ।
अव्याबाधमनंतं अनागतं कालं अधितिष्ठंति ॥ ११८६ ॥

अर्थ—मोक्षको प्राप्त हुए वे निर्ग्रंथ जरारहित रोगरहित अमर शरीररहित अविनाशी अनुपम अव्याबाघ सुखसहित हुए अनंत अनागतकालतक अर्थात् सदा निवास मोक्षमें करते हैं ॥११८६॥

अब स्थानसूत्रको कहते हैं;—

एइंदियादि पाणा चोद्दस दु हवंति जीवठाणाणि ।
गुणठाणाणि य चोद्दस मग्गणठाणाणिवि तहेव ॥

एकेंद्रियादयः प्राणाः चतुर्दश तु भवंति जीवस्थानानि ।
गुणस्थानानि च चतुर्दश मार्गणास्थानान्यपि तथैव ११८७

अर्थ—प्रथम एकेंद्रियादिकसूत्र दूसरा प्राणसूत्र तीसरा जीव-

स्थान सूत्र चौथा चौदहगुणस्थान सूत्र पांचवां चौदह मार्गणासूत्र–इन पांच सूत्रोंसे स्थानसूत्रका व्याख्यान करते हैं ॥ ११८७ ॥

गदिआदिमग्गणाओ परूविदाओ य चोद्दसा चेव ।
एदेसिं खलु भेदा किंचि समासेण वोच्छामि ॥११८८

गत्यादिमार्गणाः प्ररूपिताश्च चतुर्दश चैव ।
एतेषां खलु भेदाः कियंतः समासेन वक्ष्यामि ॥११८८॥

अर्थ—गति आदि मार्गणा आगममें चौदह ही कहीं हैं इनके कुछ एक भेदोंको संक्षेपसे अब मैं कहता हूं ॥ ११८८ ॥

एइंदियादि जीवा पंचविधा भयवदा दु पण्णत्ता ।
पुढवीकायादीया विगला पंचेंदिया चेव ॥ ११८९ ॥

एकेंद्रियादयः जीवाः पंचविधा भगवता तु प्रज्ञप्ताः ।
पृथिवीकायादयः विकलाः पंचेंद्रिया एव ॥ ११८९ ॥

अर्थ— जिन भगवानने एकेंद्रियादि जीव संग्रहसूत्रसे पृथिवी-कायादि एकेंद्री, दोइंद्री, तेइंद्री चौइंद्री, पंचेंद्रिय–इसतरह पांचप्रकार कहे हैं ॥ ११८९ ॥

संखो गोभी भमरादिया दु विगलिंदिया मुणेदव्वा ।
पंचेंदिया दु जलथलखचरा सुरणारयणरा य॥११९०॥

शंखो गोभी भ्रमरादयस्तु विकलेंद्रिया ज्ञातव्याः ।
पंचेंद्रियास्तु जलस्थलखचराः सुरनारकनराश्च ॥ ११९० ॥

अर्थ—शंखादि गोपालिका आदि भौंरा आदि क्रमसे दोइंद्री तेइंद्री चौइंद्री जानना और जलचर स्थलचर आकाशचर तथा देव नारकी मनुष्य–ये सब पंचेंद्रिय जानने ॥ ११९० ॥

पंचय इंदियपाणा मणवचकाया दु तिण्णि बलपाणा ।

आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा ॥

पंचैव इंद्रियाणि प्राणा मनोवचनकायास्तु त्रयो बलप्राणाः।
आनप्राणः प्राणः आयुःप्राणेन भवंति दश प्राणाः ११९१

अर्थ—पांच इंद्रिय प्राण, मन वचनकायबलरूप तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयुःप्राण-इसतरह दस प्राण हैं ॥ ११९१ ॥

इंदिय बल उस्सासा आऊ चदु छक्क सत्त अट्ठेव।
एगिंदिय विगलिंदिय असण्णि सण्णीण णव दस पाणा ॥ ११९२ ॥

इंद्रियं बलं उच्छ्वास आयुः चत्वारः षट् सप्त अष्टैव।
एकेंद्रियस्य विकलेंद्रियस्य असंज्ञिनः संज्ञिनो नव दश प्राणाः ॥

अर्थ—स्पर्शनइंद्रिय कायबल उच्छ्वास आयु ये चार प्राण, छह प्राण, सात प्राण आठ प्राण क्रमसे एकेंद्रिय दोइंद्री तेइंद्री चौइंद्रीके होते हैं और असंज्ञी तथा संज्ञी पंचेंद्रियके नौ तथा दस प्राण होते हैं ॥ ११९२ ॥

सुहुमा बादरकाया ते खलु पज्जत्तया अपज्जत्ता।
एइंदिया दु जीवा जिणेहिं कहिया चदुवियप्पा॥११९३

सूक्ष्मा बादरकायास्ते खलु पर्याप्तका अपर्याप्तकाः।
एकेंद्रियास्तु जीवा जिनैः कथिताः चतुर्विकल्पाः॥११९३

अर्थ—जिन भगवानने एकेंद्रियजीव सूक्ष्म बादर पर्याप्त अपर्याप्त भेदोंसे चार तरहके कहे हैं ॥ ११९३ ॥

पज्जत्तापज्जत्ता वि होंति विगलिंदिया दु छब्भेया।
पज्जत्तापज्जत्ता सण्णि असण्णीय सेसा दु ॥ ११९४ ॥

पर्याप्ता अपर्याप्ता अपि भवंति विकलेंद्रियास्तु षड्भेदाः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः संज्ञिनः असंज्ञिनः शेषास्तु ॥११९४॥

अर्थ—विकलेंद्रिय तीनके पर्याप्त अपर्याप्तसे छह भेद होते हैं और शेष संज्ञी असंज्ञीके भी पर्याप्त अपर्याप्तके भेदसे चार भेद होते हैं। इस तरह ४+६+४=मिलकर १४ जीवसमास हैं ॥ ११९४ ॥

मिच्छादिट्ठी सासादणो य मिस्सो असंजदो चेव।
देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो ॥११९५
एत्तो अपुव्वकरणो अणियट्टी सुहुमसंपराओ य।
उवसंतखीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य ॥११

मिथ्यादृष्टिः सासादनश्च मिश्रः असंयतश्चैव।
देशविरतः प्रमत्तः अप्रमत्तः तथा च ज्ञातव्यः ॥११९५॥
इतः अपूर्वकरणः अनिवृत्तिः सूक्ष्मसांपरायश्च।
उपशांतक्षीणमोहौ सयोगिकेवलिजिनः अयोगी च॥११९६

अर्थ—मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र असंयत देशविरत प्रमत्तसंयत अप्रमत्तसंयत अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मकषाय उपशांतमोह क्षीणमोह संयोगिकेवलिजिन और चौदहवां अयोगिकेवलिजिन–इसतरह चौदह गुणस्थान हैं। गुण जो आत्माके परिणाम उनके स्थान अर्थात् दर्जे वे गुणस्थान हैं ॥११९५–९६॥

आगे चौदह मार्गणास्थानोंको कहते हैं;—

गइ इंदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे॥११९७

गतिरिंद्रियाणि च कायो योगो वेदः कषायो ज्ञानं च ।
संयमो दर्शनं लेश्या भव्यः सम्यक्त्वं संज्ञी आहारः ॥११९७॥

अर्थ—गति इंद्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयम दर्शन लेश्या भव्य सम्यक्त्व संज्ञी आहारमार्गणा—ये चौदह मार्गणा-स्थान हैं ॥ ११९७ ॥

जीवाणं खलु ठाणाणि जाणि गुणसण्णिदाणि ठाणाणि।
एदे मग्गणठाणेसुचेव परिमग्गदव्वाणि ॥ ११९८ ॥

जीवानां खलु स्थानानि यानि गुणसंज्ञितानि स्थानानि ।
एते मार्गणास्थानेषु एव परिमार्गयितव्यानि ॥ ११९८ ॥

अर्थ—जो जीवोंके स्थान हैं और जो गुणसंज्ञक स्थान हैं वे दोनों इन मार्गणा स्थानोंमें ही यथा संभव देखने चाहिये ॥

तिरियगदीए चोद्दस हवंति सेसासु जाण दो दो दु ।
मग्गणठाणस्सेदं णेयाणि समासठाणाणि ॥ ११९९ ॥

तिर्यग्गतौ चतुर्दश भवंति शेषासु जानीहि द्वौ द्वौ तु ।
मार्गणास्थानेषु एतानि ज्ञेयानि समासस्थानानि ॥११९९॥

अर्थ—तिर्यंच गतिमें जीवसमासस्थान चौदह हैं शेषगतियोंमें दो दो संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त स्थान हैं इसतरह मार्गणास्थानोंमें जीवसमासस्थान यथासंभव जानना ॥ ११९९ ॥

सुरणारयेसु चत्तारि होंति तिरियेसु जाण पंचेव ।
मणुसगदीएवि तहा चोद्दसगुणणामधेयाणि ॥१२००॥

सुरनारकेषु चत्वारि भवंति तिर्यक्षु जानीहि पंचैव ।
मनुष्यगतावपि तथा चतुर्दश गुणनामधेयानि ॥ १२०० ॥

अर्थ—देव और नारकियोंके चार गुणस्थान होते हैं तिर्यं-

चोंमें पांच गुणस्थान हैं और मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं ॥ १२०० ॥

एइंदियाय पंचेंदिया य उड्ढमहतिरियलोएसु ।
सयलविगलिंदिया पुण जीवा तिरियंमि लोयंमि ॥

एकेंद्रियाः पंचेंद्रियाश्च ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्लोकेषु ।
सकलविकलेंद्रियाः पुनः जीवाः तिर्यग्लोके ॥ १२०१ ॥

अर्थ—एकेंद्रिय और पंचेंद्रिय जीव ऊर्ध्व अधः तिर्यक् इन तीनों लोकोंमें हैं और सब दोइंद्री आदि असंज्ञीतक विकलेंद्री जीव तिर्यग्लोकमें हैं ॥ १२०१ ॥

एइंदियाय जीवा पंचविधा वादरा य सुहुमा य ।
देसेहिं वादरा खलु सुहुमेहिं णिरंतरो लोओ ॥१२०२॥

एकेंद्रिया जीवाः पंचविधा बादराश्च सूक्ष्माश्च ।
देशैः वादराः खलु सूक्ष्मैः निरंतरो लोकः ॥ १२०२ ॥

अर्थ—एकेंद्रिय जीव पृथिवीकायादि पांच प्रकारके हैं और वे प्रत्येक बादर सूक्ष्म हैं बादर जीव लोकके एक देशमें हैं तथा सूक्ष्म जीवोंसे सब लोक ठसाठस भरा हुआ है ॥ १२०२ ॥

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं अमुंचंता ॥ १२०३ ॥

संति अनंता जीवा यैः न प्राप्तः त्रसानां परिणामः ।
भावकलंकसुप्रचुरा निगोदवासं अमुंचंतः ॥ १२०३ ॥

अर्थ—वे अनंत जीव हैं जिनोंने कभी त्रसपर्याय नहीं पाया मिथ्यत्वादिसे कलुषितहुए वे निगोदवासको नहीं छोड़ते ॥

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।

सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेणवि तीदकालेण ॥ १२०४ ॥

एकनिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टाः ।
सिद्धैरनंतगुणाः सर्वेणाप्यतीतकालेन ॥ १२०४ ॥

अर्थ—एक निगोद शरीर (साधारण वनस्पती) में जीव अपने द्रव्यप्रमाणसे सिद्धोंसे अनंतगुणे और सब अतीतकालसे अनंतगुणे हैं ऐसा भगवानने देखा है ॥ १२०४ ॥

एइंदिया अणंता वणप्फदीकायिगा णिगोदेसु ।
पुढवी आऊ तेऊ वाऊ लोया असंखिज्जा ॥ १२०५ ॥

एकेंद्रिया अनंता वनस्पतिकायिका निगोदेषु ।
पृथ्वी आपः तेजः वायवः लोका असंख्याताः ॥१२०५॥

अर्थ—निगोदोंमें वनस्पतिकायिक एकेंद्रिय जीव अनंतानंत हैं और पृथिवीकाय जलकाय तेजःकाय वायुकायिक जीव असंख्यात लोक प्रमाण हैं ॥ १२०५ ॥

तसकाइया असंखा सेढीओ पदरछेदणिप्पण्णा ।
सेसासु मग्गणासुवि णेदव्वा जीव समासेज्ज ॥१२०६

त्रसकायिका असंख्याताः श्रेण्यः प्रतरछेदनिष्पन्नाः ।
शेषासु मार्गणास्वपि नेतव्या जीवाः समाश्रित्य ॥१२०६॥

अर्थ—दो इंद्रिय आदि त्रस जीव लोक प्रतरके भाग करनेसे उत्पन्न असंख्यात श्रेणी मात्र हैं । इस प्रकार शेष मार्गणाओंमें भी जीवोंको आश्रयकर संख्या जाननी ॥ १२०६ ॥

अब कुलोंका कथन करना चाहिये था परंतु पंचाचाराधिकारमें २२१ वें गाथासे लेकर २२५ वें गाथातक व्याख्यान

किया गया है इससे यहां चार गाथा पुनरुक्त दोषके भयसे दो बार नहीं लिखे इसलिये स्वाध्यायवाले ९६ वेंके पत्रमें देखलें॥

आगे अल्प बहुत्वको कहते हैं;—

मणुसगदीए थोवा तेहिं असंखिज्जसंगुणा णिरये।
तेहिं असंखिज्जगुणा देवगदीए हवे जीवा॥ १२०७॥

मनुष्यगतौ स्तोकाः तेभ्यः असंख्येयसंगुणा नरके।
तेभ्यः असंख्येयगुणा देवगतौ भवेयुः जीवाः ॥१२०७॥

अर्थ—मनुष्यगतिमें सबसे कम जीव (मनुष्य) हैं उनसे असंख्यातगुणे नारकी जीव हैं उनसे असंख्यात गुणे देवगतिमें देव हैं॥ १२०७॥

तेहिंतोणंतगुणा सिद्धिगदीए भवंति भवरहिया।
तेहिंतोणंतगुणा तिरयगदीए किलेसंता॥ १२०८॥

तेभ्योऽनंतगुणाः सिद्धिगतौ भवंति भवरहिताः।
तेभ्योऽनंतगुणाः तिर्यग्गतौ क्लिश्यंतः॥ १२०८॥

अर्थ—देवोंसे अनंतगुणे सिद्धगति (मोक्ष) में संसारसे-रहित हुए सिद्ध जीव हैं। उन सिद्धोंसे भी अनंतगुणे क्लिश्यमान तिर्यंच अनंतगुणे हैं॥ १२०८॥

थोवा दु तमतमाए अणंतराणंतरे दु चरमासु।
होंति असंखिज्जगुणा णारइया छासु पुढवीसु॥१२०९

स्तोकास्तु तमस्तमायां अनंतरानंतरे तु चरमासु।
भवंति असंख्येयगुणा नारका षट्सु पृथिवीषु॥ १२०९॥

अर्थ—सातवें नरकमें सबसे थोड़े जीव हैं उससे पूर्व पूर्वकी पहले नरकतक छह पृथिवियोंमें असंख्यात असंख्यातगुणे

नारकी हैं। जैसे सातवेंसे छठे नरकमें असंख्यातगुणे नारकी हैं इसीतरह सब जानना ॥ १२०९ ॥

थोवा तिरिया पंचिंदिया दु चउरिंदिया विसेसहिया।
बेइंदिया दु जीवा तत्तो अहिया विसेसेण ॥१२१०॥
तत्तो विसेसअधिया जीवा तेइंदिया दु णायव्वा।
तेहिंतोणंतगुणा भवंति एइंदिया जीवा ॥ १२११ ॥

स्तोकाः तिर्यंचः पंचेंद्रियास्तु चतुरिंद्रिया विशेषाधिकाः।
द्वींद्रियास्तु जीवाः ततः अधिका विशेषेण ॥ १२१० ॥
ततो विशेषाधिका जीवाः त्रींद्रियास्तु ज्ञातव्याः।
तेभ्योऽनंतगुणा भवंति एकेंद्रिया जीवाः ॥ १२११ ॥

अर्थ—तिर्यंचोंमें सबसे थोड़े पंचेंद्रिय तिर्यंच हैं उससे अधिक चौइंद्री जीव हैं उससे अधिक दो इंद्रिय जीव हैं उससे अधिक तेइंद्रिय जीव हैं तेइंद्रियसे अनंतगुणे एकेंद्रिय जीव हैं ॥ १२१०-१२११ ॥

अंतरदीवे मणुया थोवा मणुयेसु होंति णायव्वा।
कुरुवेसु दससु मणुया संखेज्जगुणा तहा होंति १२१२
तत्तो संखिज्जगुणा मणुया हरिरम्मएसु वस्सेसु।
तत्तो संखेज्जगुणा हेमवदहरिण्णवस्साय ॥ १२१३ ॥
भरहेरावदमणुया संखेज्जगुणा हवंति खलु तत्तो।
तत्तो संखिज्जगुणा णियमादु विदेहगा मणुया॥१२१४॥
सम्मुच्छिमा य मणुया होंति असंखिज्जगुणा य तत्तो दु।
ते चेव अपज्जत्ता सेसा पज्जत्तया सव्वे ॥ १२१५ ॥

अंतर्द्वीपेषु मनुजाः स्तोका मनुजेषु भवंति ज्ञातव्याः।

आऊग वेदणीयं चदुहिं खिविइत्तु णीरओ होइ ॥१२४३

तत औदारिकदेहं नाम गोत्रं च केवली युगपत् ।
आयुः वेदनीयं चत्वारि क्षपयित्वा नीरजा भवति ॥१२४३॥

अर्थ—योगनिरोध करके अयोग केवली होनेके बाद वे अयोग केवली जिन औदारिक शरीरसहित नामकर्म, गोत्रकर्म आयुकर्म और वेदनीयकर्म इन चार अघातिया कर्मोंका क्षयक॰ कर्मरूपी रजरहित निर्मल सिद्ध भगवान हो जाते हैं ॥

भावार्थ—अयोगकेवली अपने कालके दूसरे अंतसम॰ बहत्तरि कर्मप्रकृतियोंका क्षय करते हैं फिर अंतके तेरह प्रकृतियोंका नाशकर शरीर छोड़ निर्मल सब उपा॰ रहित अनंतगुणमयी सिद्ध परमात्मा हुए मोक्षस्थानमें विराजते हैं ॥ १२४३ ॥

इसप्रकार आचार्यश्रीवट्टकेरिविरचित मूलाचारकी
हिंदीभाषाटीकामें पर्याप्ति आदिको कहने-
वाला बारवां पर्याप्ति अधिकार
समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

कर्मणां यस्तु रस अध्यवसानजनितः शुभोऽशुभो वा ।
बंधः सः अनुभागः प्रदेशबंधः अयं भवति ॥ १२४० ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि कर्मोंका जो कषायादि परिणामजनित शुभ अथवा अशुभ रस (फलदानशक्ति) है वह अनुभागबंध है। तथा प्रदेशबंधका स्वरूप अब आगे कहते हैं ॥ १२४० ॥

सुहुमे जोगविसेसेण एगखेत्तावगाढठिदियाणं ।
एक्केक्के दु पदेसे कम्मपदेसा अणंता दु ॥ १२४१ ॥

सूक्ष्मा योगविशेषात् एकक्षेत्रावगाढस्थिताः ।
एकैकस्मिन् तु प्रदेशे कर्मप्रदेशा अनंतास्तु ॥ १२४१ ॥

अर्थ—मनवचनकायकी क्रियारूप योगविशेषसे एक ही जगस्थित आत्माके एक एक प्रदेशपर विराजमान सूक्ष्म ज्ञानाव… कर्मपरमाणू अनंत हैं ॥ १२४१ ॥ यहां तक कर्मबंधका कहा ।

आगे कर्मोंके क्षय होनेका क्रम कहते हैं;—

मोहस्सावरणाणं खयेण अह अंतरायस्स य एव ।
उववज्जइ केवलयं पयासयं सव्वभावाणं ॥ १२४२ ॥

मोहस्यावरणयोः क्षयेण अथ अंतरायस्य चैव ।
उत्पद्यते केवलं प्रकाशकं सर्वभावानां ॥ १२४२ ॥

अर्थ—मोहनीयकर्म और ज्ञानावरण दर्शनावरण अंतरायकर्म इन चार घातियाकर्मोंके नाश होनेसे सब पदार्थोंको प्रकाशनेवाला ऐसा केवलज्ञान प्रगट होता है ॥ १२४२ ॥

आगे केवली होनेके बाद कर्मक्षय होनेका विधान कहते हैं

तत्तोरालियदेहो णामा गोदं च केवली युगवं ।

कुरुषु दशसु मनुजाः संख्येयगुणाः तथा भवंति ॥१२१२॥
ततः संख्येयगुणा मनुजा हरिरम्यकेषु वर्षेषु ।
ततः संख्येयगुणा हैमवतहैरण्यवर्षाश्च ॥ १२१३ ॥
भरतैरावतमनुजाः संख्येयगुणा भवंति खलु ततः ।
ततः संख्येयगुणा नियमात् विदेहका मनुजाः ॥१२१४॥
संमूर्छिमाश्च मनुजा भवंति असंख्येयगुणाश्च ततस्तु ।
एते एव अपर्याप्ताः शेषा पर्याप्ताः सर्वे ॥ १२१५ ॥

अर्थ—मनुष्योंमें सबसे थोड़े संख्याते सब अंतर्द्वीपोंमें मनुष्य हैं उनसे संख्यातगुणे दस देवकुरु उत्तम भोगभूमियोंमें हैं। उनसे संख्यातगुणे हरि रम्यक दस दस मध्यम भोगभूमियोंमें मनुष्य हैं उनसे संख्यातगुणे मनुष्य हैमवत हैरण्यवत जघन्य भोगभूमियोंमें हैं। उनसे संख्यातगुणे भरत ऐरावतके मनुष्य हैं उनसे संख्यातगुणे विदेह क्षेत्रके मनुष्य हैं। विदेहके मनुष्योंसे भी असंख्यातगुणे संमूर्छन मनुष्य हैं । येही अपर्याप्त होते हैं बाकीके सब मनुष्य पर्याप्त ही हैं ॥ १२१२ से १२१५ तक ॥

थोवा विमाणवासी देवा देवी य होंति सव्वेवि ।
तेहिं असंखेज्जगुणा भवणेसु य दसविहा देवा ॥१२१६
तेहिं असंखेज्जगुणा देवा खलु होंति वाणवेंतरिया ।
तेहिं असंखेज्जगुणा देवा सव्वेवि जोदिसिया ॥१२१७

स्तोका विमानवासिनो देवा देव्यश्च भवंति सर्वेपि ।
तेभ्यः असंख्येयगुणा भवनेषु च दशविधा देवाः ॥१२१६
तेभ्यः असंख्येयगुणा देवाः खलु भवंति वानव्यंतराः ।
तेभ्यः असंख्येयगुणा देवाः सर्वेपि ज्योतिष्काः॥१२१७॥

अर्थ—देवगतिमें सबसे थोडे विमानवासी सौधर्मादिक देव और सब देवीं हैं उनसे असंख्यातगुणे दस प्रकारके भवनवासी देव हैं उनसे असंख्यात गुणे व्यंतरदेव हैं उनसे असंख्यात गुणे सब ज्योतिषी देव हैं ॥ १२१६–१२१७ ॥

अणुदिसणुत्तरदेवा सम्मादिट्ठीय होंति बोधव्वा ।
तत्तो खलु हेट्ठिमया सम्मामिस्सा य तह सेसा ॥

अनुदिशानुत्तरदेवाः सम्यग्दृष्टयो भवंति बोद्धव्याः ।
ततःखलु अधस्तनाः सम्यग्मिश्राश्च तथा शेषाः ॥१२१८॥

अर्थ—नव अनुदिश पांच अनुत्तरविमानोंके देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं और उनसे नीचेके देव मिथ्यादृष्टिसे लेकर सम्यग्दृष्टिगुणतक होते हैं तथा शेष नारक तिर्यंच मनुष्य मिश्रगुणतक होते हैं ॥ १२१८ ॥

अब बंधके कारण आदिको कहते हैं;—

मिच्छादंसणअविरदिकसायजोगा हवंति बंधस्स ।
आऊसज्झवसाणं हेदव्वो ते दु णायव्वा ॥ १२१९ ॥

मिथ्यादर्शनाविरतिकषाययोगा भवंति बंधस्य ।
आयुष अध्यवसानं हेतवस्ते तु ज्ञातव्याः ॥ १२१९ ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन अविरति कषाय योग और आयुका परिणाम—ये कर्मबंधके कारण हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ १२१९ ॥

जीवो कसायजुत्तो जोगादो कम्मणे दु जे जोग्गा ।
गेण्हइ पोग्गलदव्वे बंधो सो होदि णायव्वो ॥१२२०॥

जीवः कषाययुक्तः योगात् कर्मणस्तु यानि योग्यानि ।
गृह्णाति पुद्गलद्रव्याणि बंधः स भवति ज्ञातव्यः ॥१२२०॥

अर्थ—जीव क्रोधादिकषायरूप परिणत हुआ मनवचन कायकी क्रियारूप योगसे कर्म होने योग्य पुद्गलद्रव्यको ग्रहण करता है वह बंध है ऐसा जानना चाहिये ॥ १२२० ॥

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधो य चदुविहो होइ।
दुविहो य पयडिबंधो मूलो तह उत्तरो चेव ॥ १२२१

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधश्च चतुर्विधो भवति।
द्विविधश्च प्रकृतिबंधो मूलस्तथा उत्तरश्चैव ॥ १२२१ ॥

अर्थ—प्रकृतिबंध स्थितिबंध अनुभागबंध प्रदेशबंध–इसतरह चार प्रकारका बंध है उनमेंसे प्रकृतिबंध मूल और उत्तर ऐसे दोप्रकारका है ॥ १२२१ ॥

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेदणीय मोहणीयं।
आउगणामा गोदं तहंतरायं च मूलाओ ॥ १२२२ ॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य च आवरणं वेदनीयं मोहनीयं।
आयुर्नाम गोत्रं तथांतरायश्च मूलाः ॥ १२२२ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र और अंतराय–ये कर्मोंकी मूलप्रकृतियां हैं ॥ १२२२ ॥

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चदुरो तहेव बादालं।
दोण्णिय पंचय भणिया पयडीओ उत्तरा चेव ॥१२२३

पंच नव द्वे अष्टाविंशतिः चतस्रः तथैव द्वाचत्वारिंशत्।
द्वे पंच भणिताः प्रकृतय उत्तराश्चैव ॥ १२२३ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादिकी क्रमसे पांच नौ दो अट्ठाईस चार व्यालीस दो पांच उत्तर प्रकृतियां (भेद) कहीं गयीं हैं ॥१२२३॥

आभिणिबोधियसुदओहीमणपज्जयकेवलाणं च।

आवरणं णाणाणं णादव्वं सव्वभेदाणं ॥ १२२४ ॥

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानां च ।
आवरणं ज्ञानानां ज्ञातव्यं सर्वभेदानां ॥ १२२४ ॥

अर्थ—मति आदिज्ञान पांच होनेसे उनके आवरण भी पांच हैं। जैसे मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण मनःपर्ययज्ञानावरण केवलज्ञानावरण ये पहली प्रकृतिके भेद हैं ॥१२२४॥

णिद्दाणिद्दा पयलापयला तह थीणगिद्धि णिद्दा य ।
पयला चक्खू अचक्खू ओहीणं केवलस्सेदं ॥१२२५॥

निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला तथा स्त्यानगृद्धिः निद्रा च ।
प्रचला चक्षुः अचक्षुः अवधीनां केवलस्येदं ॥ १२२५ ॥

अर्थ—निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धि निद्रा प्रचला चक्षुदर्शनावरण अचक्षुदर्शनावरण अवधिदर्शनावरण केवलदर्शनावरण–इसतरह दर्शनावरणके नौ भेद हैं ॥ १२२५ ॥

सादमसादं दुविहं वेदणियं तहेव मोहणीयं च ।
दंसणचरित्तमोहं कसाय तह णोकसायं च ॥१२२६॥

सातमसातं द्विविधं वेदनीयं तथैव मोहनीयं च ।
दर्शनचारित्रमोहः कषायस्तथा नोकषायश्च ॥ १२२६ ॥

अर्थ—सातावेदनीय असातावेदनीय ये दो वेदनीयकर्मके भेद हैं। मोहनीयके दर्शनमोह चारित्रमोह ये दो भेद हैं चरित्रमोहके कषाय और नोकषाय ये दो भेद हैं ॥ १२२६ ॥

तिण्णिय दुवेय सोलस णवभेदा जहाकमेण णायव्वा ।
मिच्छत्तं सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तमिदि तिण्णि ॥१२२७

त्रयो द्वौ षोडश नव भेदा यथाक्रमेण ज्ञातव्याः ।

मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वमिति त्रयः ॥१२२७॥

अर्थ—तीन दो सोलह नौभेद यथाक्रमसे दर्शनमोहनी आदिके हैं उनमेंसे दर्शनमोहनीयके मिथ्यात्व सम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद हैं ॥ १२२७ ॥

कोहो माणो माया लोहोणंताणुबंधिसण्णा य ।
अप्पचक्खाण तहा पच्चक्खाणो य संजलणो ॥१२२८॥

क्रोधो मानो माया लोभः अनंतानुबंधिसंज्ञा च ।
अप्रत्याख्यानं तथा प्रत्याख्यानं च संज्वलनः ॥ १२२८॥

अर्थ—अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ अप्रत्याख्यान क्रोधादि प्रत्याख्यान क्रोधादि संज्वलन क्रोधादि—ऐसे सोलह भेद कषायके हैं ॥ १२२८ ॥

इत्थीपुरिसणउंसयवेदा हास रदि अरदि सोगो य ।
भयमेतोय दुगंछा णवविहं तह णोकसायवेदं तु १२२९

स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदा हासो रतिररतिः शोकश्च ।
भयमेतस्मात् जुगुप्सा नवविधं तथा नोकषायवेदं तु १२२९

अर्थ—स्त्रीवेद पुरुषवेद नपुंसकवेद हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा—ये नौप्रकारका नोकषाय है ऐसा जानना ॥१२२९॥

णिरयाऊ तिरियाऊ माणुसदेवाण होंति आऊणि ।
गदिजादिसरीराणि य बंधणसंघादसंठाणा ॥१२३०॥
संघडणंगोवंगं वण्णरसगंधफस्समणुपुव्वी ।
अगुरुगलहुगुवघादं परघादमुस्सास णामं च ॥१२३१॥
आदावुज्जोदविहायगइजुयलतसय सुहुमणामं च ।
पज्जतसाहारणजुग थिरसुह सुभगं च आदेज्जं ॥ १२३२

अथिरअसुहदुब्भगयाणादेज्जं दुस्सरं अजसकित्ती।
सुस्सरजसकित्ती विय णिमिणं तित्थयर णाम बादालं॥ १२३३॥

नारकायुः तैरश्चायुः मानुषदेवानां भवंति आयूंषि।
गतिजातिशरीराणि च बंधनसंघातसंस्थानानि॥ १२३०॥
संहननमंगोपांगं वर्णरसगंधस्पर्शा आनुपूर्व्यं।
अगुरुलघूपघाताः परघात उच्छ्वासो नाम च॥ १२३१॥
आतापोद्योतविहायोगतियुगलत्रसाः सूक्ष्मनाम च।
पर्याप्तसाधारणयुगं स्थिरशुभं सुभगं च आदेयं॥१२३२॥
अस्थिराशुभदुर्भगाः अनादेयं दुःस्वरं अयशस्कीर्तिः।
सुस्वरयशःकीर्ती अपि च निर्माणं तीथकरत्वं नाम द्वाचत्वारिंशत्॥ १२३३॥

अर्थ—नरकायु तिर्यंचायु मानुषायु देवायु-ऐसे आयुकर्मके चार भेद हैं। गति जाति शरीर बंधन संघात संस्थान संहनन अंगोपांग वर्ण रस गंध स्पर्श आनुपूर्व्य अगुरुलघु उपघात परघात उच्छ्वासनाम आतप उद्योत प्रशस्तविहायोगति अप्रशस्तविहायोगति त्रसनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्त अपर्याप्त साधारण प्रत्येक स्थिर शुभ सुभग आदेय अस्थिर अशुभ दुर्भग अनादेय दुःस्वर अयशस्कीर्ति सुस्वर यशस्कीर्ति निर्माण तीर्थंकरत्वनाम-ये नामकर्मके व्यालीसभेद हैं। यदि गति आदिके भेद किये जांय तो तिरानवै भेद होते हैं॥ १२३०-१२३३॥

उच्चाणिच्चागोदं दाणं लाभंतराय भोगो य।
परिभोगो विरियं चेव अंतरायं च पंचविहं॥ १२३४॥

उच्चैर्नीचैर्गोत्रं दानं लाभांतरायो भोगश्च ।
परिभोगो वीर्यं चैव अंतरायश्च पंचविधः ॥ १२३४ ॥

अर्थ—उच्चगोत्र नीचगोत्र इसतरह गोत्रकर्मके दो भेद हैं। दानांतराय लाभांतराय भोगांतराय उपभोगांतराय वीर्यांतराय इसतरह अंतरायकर्मरूप मूलप्रकृतिके पांच भेद हैं ॥ १२३४ ॥ ऐसे १४८ प्रकृतियां हैं।

सयअडयालपईणं बंधं गच्छंति वीसअहियसयं ।
सव्वे मिच्छादिट्ठी बंधदि णाहारतित्थयरे ॥ १२३५ ॥

शताष्टचत्वारिंशत्प्रकृतिनां बंधं गच्छंति विंशाधिकशतं ।
सर्वा मिथ्यादृष्टिः बध्नाति नाहारतीर्थकराः ॥ १२३५ ॥

अर्थ—एकसौ अड़तालीसकर्मप्रतियोंमेंसे एकसौ बीस प्रकृतियोंका ही बंध होता है अट्ठाईस अबंधप्रकृतियां हैं और उन एकसौ बीसमें आहारक शरीर आहारक अंगोपांग तीर्थकरत्व इन तीन प्रकृतियोंके सिवाय सभी एकसौ सत्रह प्रकृतियोंको मिथ्यादृष्टि [illegible]धता है ॥ १२३५ ॥

[illegible]य तेदालीसं तेवण्णं चेव पंचवण्णं च ।
[illegible]मादिट्ठी दु सावओ संजदो चेव ॥ १२३६ ॥

त्रिचत्वारिंशत् त्रिपंचाशत् चैव पंचपंचाशच्च ।
[illegible]ष्टिस्तु श्रावकः संयतश्चैव ॥ १२३६ ॥

[illegible]थे गुणस्थानवाला तेतालीस प्रकृतियोंको
[illegible] त्रेपनको छोड़कर, संयमी प्रमत्त
[illegible]न्य सब प्रकृतियोंका बंध करता